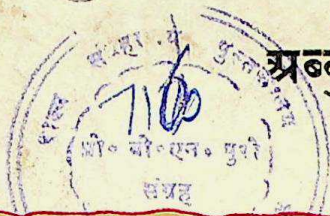




# पुराणा छरवणऊ

अब्दुल हलीम 'शरर'

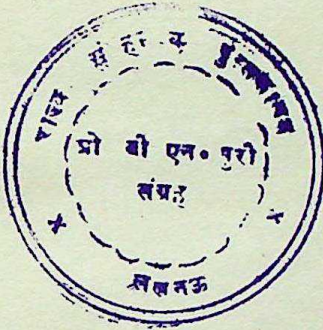








526









आदान प्रदान पुस्तक-माला

पुराना लखनऊ

71 60





# पुराना लखनऊ

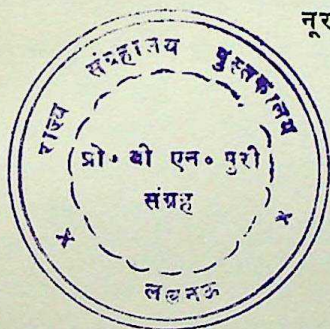
[गुज़िश्ता लखनऊ]



अब्दुल हलीम 'शरर'

अनुवादक

नूर नबी अब्बासी



नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया  
नयी दिल्ली

मार्च 1971 (चैत्र 1893)  
प्रथम आवृत्ति 1981 (शक 1903)

© नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, 1971

रु० : 16.25

*Original Title* : GUZESHTA LUCKNOW (Urdu)  
*Hindi Translation* : PURANA LUCKNOW

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5, ग्रीन पार्क, नई दिल्ली-16 द्वारा  
प्रकाशित और राजबन्धु इंडस्ट्रियल कम्पनी, नई दिल्ली-64 द्वारा मुद्रित ।



## भूमिका

### व्यक्तिव

अब्दुल हलीम 'शरर' 1860 में पैदा हुए। उनके पिता हकीम तफ़्ज़ुल हुसैन अरबी और फ़ारसी के विद्वान और मशहूर हकीम थे। नौ साल की उम्र में 'शरर' मटियाबूज, कलकत्ता गये जहाँ वाजिद अली शाह अपदस्थ होने के बाद रहे गये थे। शाही खानदान से संबद्ध होने के कारण 'शरर' का खानदान भी वहीं रह रहा था। अरबी, फ़ारसी, और तर्कशास्त्र के अलावा कुछ अंग्रेज़ी भी पढ़ी और लखनऊ के मशहूर 'अवध अखबार' के संवाददाता के रूप में खबरें भेजते रहे। 19 साल की उम्र में वापिस लखनऊ आये और यहीं अखबार 'अवध के पंच' के प्रसिद्ध लेखक एहमद अली कसमंडवी के संगतिलाभ से उन्हें गद्य लेखन की प्रेरणा मिली। 1880 में मुंशी नवलकिशोर ने उन्हें 'अवध अखबार' के संपादक मंडल में शामिल कर लिया। कुछ समय बाद अपने दोस्त अब्दुल वासित के नाम से साप्ताहिक पत्र 'महशर' निकाला जिसकी सुंदर गद्य-शैली बड़ी प्रसिद्ध हुई।

'अवध अखबार' के विशेष संवाददाता के रूप में कुछ महीने हैदराबाद रहे, मगर आखिर नौकरी छोड़कर अलग हो गये। उसी ज़माने में उन्होंने अपना पहला उपन्यास 'दिलचस्प' लिखा जो दो भागों में प्रकाशित हुआ। उसके दो साल बाद 'शरर' ने पहली बार वंकिमचंद्र चटर्जी के उपन्यास 'दुर्गेशनदिनी' का अनुवाद करके उनका परिचय उर्दूवालों से कराया। 1887 में उन्होंने अपनी पत्रिका 'दिलगुदाज़' जारी की। यह पत्रिका अपने ढंग की पहली पत्रिका थी, जिसमें सरल, प्रवाहमय किंतु बहुत सुंदर गद्य में लेखादि प्रकाशित होते थे। इसी पत्रिका में उन्होंने अपने उपन्यास धारावाहिक रूप में प्रकाशित करने शुरू किये। उनके मशहूर ऐतिहासिक उपन्यास 'मलिकुल अजीजवर्जिना', 'हसन-एजिलना', 'मंसूर-मोहना' वगैरा इसी पत्रिका में प्रकाशित हुए।

1890 में 'मुहब्बत' नामक अखबार जारी किया, जिसमें इस्लाम धर्म के



छः

भूमिका

विद्वानों की जीवनियां प्रकाशित होती थीं। 1891 में 'शरर' दुबारा हैदराबाद गये और वहां नौकर हुए और एक नवाबजादे के ट्यूटर की हैसियत से 1895 में इंग्लैंड पहुंचे। वहां चौदह-पंद्रह मास ठहरे जिसमें उन्होंने फ्रांसीसी अनुसंधाता मोस्यो कोरबे से फ्रेंच भाषा सीखी। वापसी पर 1898 में 'दिलगुदाज' हैदराबाद से दुबारा जारी हुआ मगर जल्दी ही बंद हो गया। 1900 में लखनऊ वापिस आकर उन्होंने यह पत्रिका तीसरी बार जारी की।

'शरर' पत्रकार, उपन्यासकार और गद्यकार, समाज-सुधारक और सत्यनिष्ठ लेखक हैं। उन्होंने प्रचलित साधारण पक्षपात और विश्वासों की चिंता किये बिना ऐतिहासिक तथ्यों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। यही कारण है कि सकीना बिनस इमाम हुसैन की जीवनी प्रकाशित करने पर उनके विरुद्ध भारी हो हल्ला मचा। उन्होंने मुसलमान स्त्रियों में पर्दे की प्रथा समाप्त करने के लिए एक पत्रिका 'इस्मत' निकाली जिसने बड़ी समाज सेवा की। उसके लिए उन्होंने भारी विरोध का सामना किया, लेकिन अपना संघर्ष बराबर जारी रखा। 1904 में उन्होंने हिंदू-मुस्लिम एकता के उद्देश्य से पाक्षिक पत्र 'इजिहाद' निकालना शुरू किया। गद्यकार, पत्रकार और उपन्यासकार के रूप में 'शरर' का व्यक्तित्व युगांतरकारी है।

पत्रकार के रूप में उनकी ऐसी प्रतिष्ठा थी कि 1912 में खिलाफत आंदोलन के प्रख्यात नेता मौलाना मुहम्मद अली ने अपने उर्दू दैनिक 'हमदर्द' के संपादक के लिए पहले 'शरर' को ही चुना। उनका देहांत 1926 में हुआ। उनकी कृतियां 102 से भी अधिक हैं और उनमें अधिकतर ऐसी हैं जो अपने समय में बहुत लोकप्रिय थीं और जिनके कई-कई संस्करण प्रकाशित हुए थे।

'शरर' के उपन्यासों के अलावा उनकी बड़ी और महत्वपूर्ण उपलब्धि 'मशरिकी तमद्दुन का आखिरी नमूना या गुजिश्ता लखनऊ' है जिसका अनुवाद अगले पृष्ठों में आपके सामने आयेगा। बहुमूल्य और महत्वपूर्ण जानकारी के अतिरिक्त (जो इस पुस्तक में एकत्र कर दी गयी है), मूल पुस्तक 'शरर' के सरल और आकर्षक गद्य का भी नमूना है जिसमें निश्चयात्मकता, प्रवाह और व्यवस्था के वे गुण पाये जाते हैं जो गद्य के लिए आवश्यक हैं।

**शररकालीन लखनऊ**

अब्दुल हलीम 'शरर' ने जो ज़माना देखा वह रंगीनी और रंगारंगी का आखिरी ज़माना था। अंग्रेजों का देश पर अधिकार हो चुका था और वे



अपने राजनीतिक आधिपत्य को स्थिरता प्रदान करने के लिए देश के अंदर और बाहर यह प्रचार करने लगे थे कि अंग्रेजों के आने से पहले हिंदुस्तान के लोग बहुत ही असभ्य और जंगली थे और अंग्रेज उन्हें सभ्य और सुसंस्कृत बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। लार्ड मेकाले ने हिंदुस्तान और पूर्वी साहित्य तथा कलादि के भंडार को पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकों की एक अल्मारी की तुलना में भी हेय समझा था और लार्ड डलहौजी के समय में अवध पर अधिकार करने के लिए जो वहां दूढ़े गये थे उनमें नवाबी अवध को मात्र विलासिता का केंद्र दिखाया गया था। और लखनवी सभ्यता का बहुत ही गलत और भ्रामक चित्र प्रस्तुत किया गया था।

‘शरर’ उन लोगों में से थे जिन्हें भारतीय सभ्यता पर गर्व था और वे अपने देशवासियों में गौरव की भावना जगाना चाहते थे ताकि उनमें आत्म-विश्वास पैदा हो और वे अपने अतीत का ठीक रूप देख सकें। इसीलिए एक और तो उन्होंने ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जिनमें प्राचीन घटनाओं के जरिए इसी प्रकार का आत्म-विश्वास पैदा करने की कोशिश की गयी थी, दूसरी ओर उन्होंने यह पुस्तक लिखी जो इस समय आपके सामने है। इसका नाम है ‘गुजिश्ता लखनऊ’ या ‘मशरिकी तमद्दुन का आखिरी नमूना’। इस पुस्तक में ‘शरर’ ने लखनवी सभ्यता और संस्कृति के विभिन्न पक्षों का वर्णन किया है जिनके कारण उसे हिंदुस्तान, बल्कि समस्त पूर्व में गौरव और प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

### संस्कृति

मानव सभ्यता की एक विशेषता यह रही कि वह कभी देश-काल की सीमाओं में आवद्ध नहीं रही। चिराग से चिराग जलते आये हैं और इसी आधार पर एक क्षेत्र की सभ्यता यद्यपि उस क्षेत्रविशेष के नाम से प्रसिद्ध हो जाती है, लेकिन वह दूसरे क्षेत्र की सभ्यताओं से भी बहुत कुछ लेती है और इस प्रकार विश्व सभ्यता का रूप ग्रहण करती जाती है। इसी तरह एक युगविशेष की सभ्यता यद्यपि उसी युग तक सीमित समझी जाती है लेकिन उसका संबंध प्राचीन काल से भी होता है और वह सामयिक होते हुए भी अपने अंदर शाश्वत गुण रखती है।

लखनऊ में जो सभ्यता पनपी और परवान चढ़ी उसमें भी ये दोनों विशेषताएं मौजूद थीं। इसकी जड़ें हमारे देश में बहुत पहले से मौजूद थीं।



जो लोग लखनवी सभ्यता को केवल 'तकल्लुफ' और 'पहले आप' जैसी छिछली बातों तक सीमित जानते हैं वे इसकी नफ़ासत, शास्तगी और खूबसूरती पर नज़र नहीं रखते। सभ्यता का मज़ाक उड़ाना आसान है लेकिन सभ्यताओं की विभिन्न परतें पहचानना और उनकी आत्मा तक पहुंचना आसान नहीं। सभ्यता सिर्फ़ रखरखाव, अभिवादन, रस्म-रिवाज और शिष्टाचार का नाम नहीं, वेषभूषा, खानपान या मनोरंजन के साधन और मेले-ठेले भी सभ्यता नहीं—ये तो मात्र सभ्यता के बाह्य लक्षण हैं और इनके माध्यम से किसी युग की सभ्यता की आत्मा तक पहुंचने की कोशिश करनी चाहिए।

लखनऊ तक जो सभ्यता पहुंची वह भारत की सदियों के प्रयासों का फल थी, उसमें आर्यों का सौंदर्य भी था और स्थानीय विशेषताएं भी। फिर अरब, ईरानी और तुर्क यहां आये तो अपनी सांस्कृतिक विरासत साथ लाये। उनमें ईरानी सभ्यता की लय ज्यादा तेज़ थी और इसीलिए दक्खन और दिल्ली दोनों जगह भारतीय सभ्यता ने इन दोनों से बहुत कुछ सीखा और बहुत कुछ सिखाया। अब इस युग में भारतीय सभ्यता की स्वरसंगति में अरबी लय भी आ मिली। यही कारण है कि सभ्यता या संस्कृति का कोई अंग हो, ललित कलाओं की कोई शाखा हो, हर जगह यह सांस्कृतिक मिश्रण बड़े विलक्षण सौंदर्य के साथ दिखायी देता है। इसका सबसे सुंदर प्रदर्शन ताज महल के स्थापत्य में हुआ है जो अरब और हिंदुस्तान की कलाओं का एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करता है।

इस सभ्यता के लखनऊ पहुंचने के समय अंग्रेज़ हिंदुस्तान में कदम जमा रहे थे और मिली-जुली सभ्यता का यह सुखद युग समाप्त होने को था। राजनीतिक दुरवस्था फैल चुकी थी। आर्थिक संकट छा रहा था ऐसी परिस्थिति में मिली-जुली सभ्यता का यह कोमल पौधा दिल्ली से लखनऊ आया। अवध में अस्थायी शांति थी, वह संपन्न भी था, फिर हर सभ्यता की तरह यह सभ्यता भी अपने यौवन काल में प्रवेश कर चुकी थी, इसलिए लखनऊ में इस सभ्यता को जिसमें हिंदुस्तान और ईरान का सौंदर्य शामिल था, नया जीवन और नया सौंदर्य प्राप्त हुआ। चुनावे इस सभ्यता के किसी अंग पर दृष्टि डालिये आपको पुराने तौर-तरीकों, फिर दिल्ली के रंग-ढंग और खासकर मुहम्मद शाह के शासन काल का उल्लेख जरूर मिलेगा। उदाहरण के लिए लिबास के संबंध में इस पुस्तक में नीमा और अंगरखा का वर्णन है और



सैर-तफरीह के सिलसिले में 'इंदर सभा' का जिक्र देखें ।

यह सभ्यता किसी विशेष सभ्यता से संबद्ध नहीं थी बल्कि इस संबंध में यह प्रयास भी किया गया कि इस पर कट्टरता या धार्मिक संकीर्णता की छाया न पड़े । चुनांचे सलाम के बारे में यह बात स्पष्ट है यानी 'सलाम अलैक' या 'सलाम अलैकुम' को लखनवी सभ्यता ने 'आदाब', 'तसलीम' और 'कोरनिश' जैसे गैरमजहबी अभिवादन से बदल दिया । यही नहीं बल्कि धार्मिक रस्म-रिवाज और संस्कारों को भी अधार्मिक और सामान्य बनाने की कोशिश की गयी । मिसाल के तौर पर मुहर्रम मुसलमानों का और वसंत हिंदुओं का त्यौहार था मगर मुहर्रम और वसंत को इस तरह मनाया गया कि उनका स्वरूप सामान्य सामाजिक समारोहों का-सा हो गया । नफ़ासत और रखरखाव किसी सभ्यता के गुण माने जाते हैं और दोनों हैसियतों से लखनवी सभ्यता, जिसका विस्तृत और सुंदर चित्रण 'शरर' ने किया है, स्मरणीय थी जिससे आज भी बहुत कुछ सीखा जा सकता है ।

यह सभ्यता कैसी थी और कहां से आयी थी ? इस पर चर्चा करने से पहले यह याद रखना जरूरी है कि इंसानों की तरह सभ्यताएं भी पैदा होती हैं, परवान चढ़ती हैं और मर जाती हैं । कोई सभ्यता चाहे कितनी ही भव्य क्यों न हो हमेशा हर युग की जरूरतों को पूरा नहीं कर सकती । इसीलिए बदली हुई परिस्थितियों में किसी सभ्यता को भी इस दृष्टिकोण से नहीं परखा जा सकता कि वह आज के युग में उपयोगी और कारगर होगी या नहीं । हर सभ्यता अपने युगविशेष में बढ़ती है और इस दृष्टि से उसका अपना दायरा और अपनी उम्र होती है और उसी के अनुसार उसे परखा जाना चाहिए ।

लखनवी सभ्यता को भी इसी पृष्ठभूमि में देखना आवश्यक है । शुरू के पृष्ठों से लेकर अंत तक इस सभ्यता की एक विशेषता आपको बार-बार मिलेगी और वह यह कि इसमें देशी और विदेशी तत्वों का संगम हुआ है । सभ्यताएं कभी विशुद्ध नहीं होतीं चिराग से चिराग सदा जलता आया है । लखनवी सभ्यता ने अपना चिराग इस तरह जलाया कि विभिन्न रौशनियां उसके फ़ानूस में एक हो गयीं । यहां का लिबास, यहां के खाने, पेय, रस्म-रिवाज, रहन-सहन, सभ्यता का कौन-सा ऐसा पक्ष है जिसमें देशी और विदेशी तत्वों ने मिल कर एक अद्भुत आकर्षण पैदा न किया हो ! मजहब के बारे में कहा जाता है कि वह इंसान को बांटता है मगर यहां वे सभ्यताएं और प्रतीक



दस

भूमिका

भी जो किसी धर्म से संबद्ध हों, पूरी सभ्यता का अंग बन जाते हैं और धर्म के बंधन से मुक्त हो जाते हैं। मसलन मातमदारी और ताजियों के मामले में पूरा लखनऊ एक रंग में रंगा नजर आता है। इसी तरह वसंत का त्यौहार मनाने का सवाल हो या हिंदू पौराणिक कथाओं के राजा इंद्र का जिक्र हो इसमें लखनऊ के सभी लोग बिना किसी धार्मिक या सांप्रदायिक भेदभाव के इन्हें अपनाते हैं। 'इंदर सभा' उर्दू के प्रारंभिक नाटकों में माना जाता है और उसके विभिन्न रूप हैं लेकिन हरेक 'इंदर' सभा में राजा इंद्र की जो तसवीर पेश की गयी है वह हमारी मिली-जुली भारतीय सभ्यता का प्रतिनिधित्व करती है। उसका नाम इंद्र है और सिंहासन पुराने ढंग का है। मगर पोशाक नवाबी अवध की-सी है। उसके दरबार में परियां ब्रज की ठुमरियां गाती हैं और सुंदर तथा प्रवाहमयी उर्दू में बातचीत करती हैं मानो वे हमारी मिली-जुली सभ्यता का सच्चा रूप हैं।

यह मिलाप दरअसल इसलिए और भी सुखद हो गया है कि मिलने वाली सभ्यताएं एक-दूसरे से बुनियादी तौर पर बहुत निकट हैं। ईरानी सभ्यता भी आर्य सभ्यता थी और इसीलिए जब ईरानी सभ्यता का प्रभाव भारत पर पड़ा और यहां की आर्य सभ्यता से उसकी भेंट हुई तो वह मिलाप दो अजनवियों का मिलाप नहीं था बल्कि दो बिछड़े हुए रिश्तेदारों का मिलाप था—ऐसे रिश्तेदार जो नस्ल की दृष्टि से एक थे और जिन्होंने अपनी ऐतिहासिक यात्रा में मूल्यवान वस्तुएं एकत्र की थीं। अब ये दोनों मिले तो एक रूप हो गये और भारत की प्राचीन सभ्यता में मध्य एशिया की सभ्यताओं के सुंदर तत्वों का समावेश हो गया।

प्रो० स्पियर ने *Twilight of the Mughals* में लिखा है कि अंतिम मुगल सम्राट योरुप के छोटे राज्यों के वैधानिक शासक होने के लिए उपयुक्ततम इंसान थे : “Akbar Shah II would have been a very worthy country gentleman relying chivalrously on ladies' advice. Bahadur Shah II would have been an excellent constitutional King. Delhi, then, was Indian Weimer with Ghalib as its Goethe Zafar would have been a dignified ruler of a minor German state with his love of poetry and philosophy, with his excursions to Jamuna,.....his monsoon visits to Mehrauli, his patronage of Salona and Pankha festival and fondness for doves and love of mysticism.”



## भूमिका

ग्यारह

यह बात अवध के बारे में और अधिक विश्वास के साथ कही जा सकती है। इतिहास ने अवध पर स्वायत्त राज्य का भार रख दिया और उन्नीसवीं शती की परिस्थितियों में यह संभव न था कि अपनी कमजोर आर्थिक स्थिति और जंग खायी हुई तलवारों के बल पर ईस्ट इंडिया कंपनी के हमले का सामना किया जाता। लेकिन राजनीतिक कमजोरियों को यदि छोड़ दिया जाये तो अवध में जो सांस्कृतिक उपलब्धियां हुई थीं उन पर कोई भी राष्ट्रीय सम्यता गर्व कर सकती है। इस सम्यता की आत्मा लताफत (कोमलता) और शाइस्तगी (शिष्टता) है। इसमें हर क्षण दूसरों की भावनाओं का ख्याल रखा जाता है और रहन-सहन का वह रूप अपनाया जाता है, जिसमें जीवन-आनंद और शिष्टता को प्रोत्साहन मिले। इस सम्यता में गहराई और शक्ति दृष्टिगत नहीं होती और शायद आज बहुत लोग इसे खोखलेपन की संज्ञा दें लेकिन इस सम्यता ने अपने विशिष्ट दायरे में रहकर किस तरह के गुल-बूटे खिलाये हैं उन्हें जानना-पहचानना हमारे लिए एक नयी दुनिया की खोज से कम नहीं—एक ऐसी नयी दुनिया जो प्राचीन सम्यता के पृष्ठों में छिपी हुई है और जिससे परिचय होने से जीवन अधिक सुखद और अर्थपूर्ण बन जाता है।

‘शरर’ ने अपनी पुस्तक को तीन भागों में विभक्त किया है : पहले भाग में अवध और लखनऊ का संक्षिप्त इतिहास है, उसके बाद अवध के नवाबों का संक्षिप्त इतिहास दिया गया है। बुरहान-उल-मुल्क से लेकर उस खानदान के आखिरी बादशाह वाजिद अली शाह तक का इतिवृत्त संक्षेप में दिया गया है। यह तो स्पष्ट है कि वाजिद अली शाह के जीवन का विवरण अधिक है और यह आधार उन्होंने दिल लगाकर बड़ी दर्दमंदी से लिखा है : अंग्रेजों और उनके एजेंटों की साजिशें, वाजिद अली शाह की बेवसी और अंत में एक रुग्ण विलासिता का शिकार हो जाना और अपने मुसाहिबों के प्रभाव में आकर फैसले कर बैठना बड़ी खूबसूरती के साथ अंकित हुआ है। तीसरा भाग जो इस पुस्तक का वास्तविक उद्देश्य है लखनऊ में सम्यता के विभिन्न अंगों की प्रगति से संबद्ध है उसमें ‘शरर’ ने विभिन्न शीर्षकों के माध्यम से मानव जीवन के सभी महत्वपूर्ण अंगों को समेटने की कोशिश की है। लिबास, खान-पान, शालीनता, रहन-सहन, रस्म-रिवाज, धार्मिक विश्वास और मान्यताएं, मेले-ठेले, मनोरंजन और खेल-कूद, हथियार, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, शिष्टाचार और इसी प्रकार के विभिन्न सांस्कृतिक पक्षों पर बहुमूल्य जानकारी प्रस्तुत की गयी है। उनका महत्व केवल



बारह

भूमिका

ऐतिहासिक ही नहीं है बल्कि उनसे आज भी हम जीवनयापन का ढंग सीख सकते हैं, क्योंकि यह नफ़ासत और लताफ़त किसी भी संस्कृति के लिए गर्व का विषय बन सकती है।

‘शरर’ के दो और रूप भी हैं। एक यह कि जब वाजिद अली शाह को ईस्ट इंडिया कंपनी ने कैद करके लखनऊ से मटियाबुर्ज भेज दिया तो उनका मुकदमा लंदन में मलका विक्टोरिया और ब्रिटिश साम्राज्य के सामने पेश करने के लिए अब्दुल हलीम ‘शरर’ के नाना लंदन गये थे। इससे अंदाज़ा हो सकता है कि उनका खानदान अवध के नवाबों से कितना निकट था। अवध के अंतिम दिनों की कहानी को जितने दर्दनाक और प्रभावशाली ढंग से ‘शरर’ ने बयान किया है वह खुद अपनी जगह एक क्लासिक है। और पुस्तक का वह अध्याय मात्र ऐतिहासिक वर्णन नहीं बल्कि एक महान त्रासदी का अंश है। उनकी मशहूर पत्रिका “दिलगुदाज़” मुद्दतों तक उर्दू साहित्य की सेवा करती रही और उसकी यह सेवा असाधारण महत्व की रही है। यह पूरी पुस्तक भी पहले फ़ुटकर लेखों के रूप में इसी पत्रिका में क्रिस्तवार प्रकाशित हुई थी। ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में यों भी उन्हें इतिहास से गहरी दिलचस्पी थी, इसलिए इस पुस्तक में इतिहासकार की व्यापक दृष्टि, पत्रकार की शैली का रस, संस्कृति के सभी पक्षों से गहरी जानकारी रखने वाले एक सम्य व्यक्ति की नफ़ासत और लताफ़त प्रकट होती है।

इस पुस्तक का इस दृष्टि से भी बड़ा महत्व है कि आज तक भारतीय संस्कृति के किसी भाग का इतना भरपूर और विस्तृत चित्र प्रस्तुत नहीं किया गया। यह सच है कि सम्यता और संस्कृति, खानपान, वेषभूषा, शिष्टाचार, मनोरंजन के साधन, शादी-गामी के रस्म-रिवाज आदि का ही नाम नहीं है लेकिन इन सब चीज़ों का ज़िक्र, यदि न किया जाये तो भी सम्यता और संस्कृति का चित्र अधूरा रहेगा। आधुनिक युग में मनुष्य जीवन की आपाधापी में फंसकर जीवन का आनंद खो बैठा है और व्यस्तता तथा जीवन की तीव्र गति में उसे ढंग से जीने के अलावा और हर चीज़ की फुसंत प्राप्त है। इस पुस्तक का महत्व और भी बढ़ जाता है। एक मुद्दत हुई लिन यू टांग की प्रसिद्ध पुस्तक *Importance of Living* प्रकाशित हुई थी जिसमें जीवनानंद के इसी पहलू पर प्रकाश डाला गया था। ‘शरर’ की पुस्तक उससे भी कहीं आगे जाती है और एक ऐसी सम्यता का चित्र प्रस्तुत करती है जिसे



## भूमिका

तेरह

हिंदुस्तान के एक प्रदेश के रहने वालों ने जन्म दिया। इस दृष्टि से वह एक महान सभ्यता का महान इतिहास ही नहीं है बल्कि हमारी राष्ट्रीय विरासत का एक महत्वपूर्ण अंग है।

अब्दुल हलीम 'शरर' अपने अनेक लोकप्रिय ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए याद रखे जायेंगे जिनमें 'फिरदौसे-बरी', 'मंसूर-मोहना', 'मलिक-उल-अजीज-वजिना', 'फ्लोरा-फ्लोरिडा' आदि उनके जीवन काल में ही ख्याति प्राप्त कर चुके थे। 'शरर' युगप्रवर्तक पत्रिका 'दिलगुदाज़' के संपादक के रूप में याद किये जायेंगे। जिसने उर्दू पत्रकारिता को एक नयी दृष्टि और उर्दू साहित्य को नयी दिशा प्रदान की। वे अपने उन सुंदर लेखों के लिए भी याद किये जायेंगे जिन्होंने उर्दू साहित्य को समृद्ध किया। वे अपने चमत्कृत निबंधों के कारण भी सदा जीवित रहेंगे। लेकिन 'गुज़िश्ता लखनऊ' उन्हें अमर रखने के लिए काफी है। यह एक ऐसी पुस्तक है जो इतिहास के गर्म और चहकते हुए खून की तरह वर्तमान और भविष्य तक जीवन और आनंद का संदेश लेकर जाता है और संस्कृतियों को अतीत का नया रूप और भविष्य का नया विज्ञान प्रदान कर देता है। इस दृष्टि से इस पुस्तक पर उर्दू वालों का ही नहीं पूरे भारत का अधिकार है। हर भारतवासी को इसमें अपने सुंदर अतीत का चित्र दिखायी देगा और वह इसके विभिन्न अंगों में जीवन के सुख और आनंद की झलक पा सकेगा।

इसीलिए 'शरर' की यह पुस्तक केवल छपे हुए शब्दों का संग्रह ही नहीं एक जीताजागता अनुभव है जो इंसान को नयी दृष्टि प्रदान करता है और उसे बेहतर बनाता है।

अध्यक्ष, उर्दू विभाग,  
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,  
नई दिल्ली।

मुहम्मद हसन







इस बात के मानने में शायद किसी को आपत्ति न होगी कि हिंदुस्तान में पूर्वी सम्यता और संस्कृति का जो आखिरी नमूना नज़र आया वह अवध का पुराना दरबार था। पिछले ज़माने की यादगार के तौर पर और भी कई दरबार मौजूद हैं मगर जिस दरबार के साथ पुरानी तहज़ीब और संस्कृति खत्म हो गयी वह यही दरबार था जो बहुत ही आखिर में कायम हुआ और अजीब-अजीब तरक्कियाँ दिखा कर बहुत ही जल्दी नष्ट हो गया। लिहाज़ा हम इस दरबार का संक्षेप में वर्णन करना चाहते हैं और उसकी विशेषताएँ बताना चाहते हैं।

यह मान लेने में भी शायद किसी को आपत्ति न होगी कि जिस प्रदेश में पिछला दरबार कायम हुआ उसका महत्व हिंदुस्तान के दूसरे सभी प्रांतों से बढ़कर है।

पुराने चंद्रवंशी परिवार विशेषकर राजा रामचंद्र जी के महान और बेमिसाल कारनामे इतने अधिक हैं कि इतिहास उन्हें अपने अंदर समोने में असमर्थ है और यही कारण है कि उन्होंने इतिहास की सीमाएँ लांघ कर धार्मिक पवित्रता का रूप धारण कर लिया है। आज हिंदुस्तान का शायद ही कोई ऐसा अभाग गांव होगा जहाँ उनकी याद हर साल रामलीला के धार्मिक नाटक के माध्यम से ताज़ा न कर ली जाती हो। लेकिन अवध के इस सबसे प्राचीन दरबार का वर्णन और अयोध्या का उस युग का वैभव वाल्मीकि ने ऐसी चमत्कृत शैली में किया कि वह आस्थावान व्यक्ति के हृदय पर अंकित हो गया। लिहाज़ा हम उसे यहाँ दोहराना नहीं चाहते। जिन लोगों ने अयोध्या के उस वैभवशाली युग का चित्रण वाल्मीकि की कलाकृति में देखा है वे उसी शुभ स्थान पर आज 'दिल गुदाज'<sup>1</sup> में फ़ैज़ाबाद की तस्वीर देखें। हम घटनाक्रम को उस समय से शुरू करते हैं जब उस आखिरी दरबार की बुनियाद पड़ी जिसे नष्ट हुए कुछ ऊपर पचास साल से ज्यादा ज़माना नहीं हुआ।

<sup>1</sup>लेखक द्वारा संपादित पत्रिका जिसमें प्रस्तुत पुस्तक क्रिस्तवार प्रकाशित हुई थी। ( 1887-1935 ई० ) ।



जब नवाब बुरहान-उल-मुल्क अमीन उद्दीन खानैशापुर दिल्ली के शहंशाही दरबार की तरह से अवध के सूबेदार नियुक्त होकर आये तो लखनऊ के शेख-जादों को परास्त करके अवध की प्राचीन राजधानी यानी पवित्र नगरी अयोध्या पहुंचे और आवादी से फ़ासले पर यानी घाघरा नदी के किनारे एक ऊंचे टीले पर अपना शिविर बनाया। चूंकि वे प्रांत के प्रबंध में व्यस्त थे और उन्हें आलीशान इमारतें बनाने की फ़ुर्सत न थी और न ही सीधा स्वभाव होने के नाते इस तरह की झूठी शान दिखाने का उन्हें शौक था इसलिए एक ज़माने तक वे तंबुओं में रहते रहे और जब कुछ दिन के बाद उन्हें बरसात में तकलीफ़ हुई तो थोड़ी दूर हटकर एक मुनासिब जगह पर अपने लिए एक छप्पर<sup>1</sup> बनवाया। फिर उसके बाद उस छप्पर के आसपास कच्ची दीवार का एक बहुत लंबा-चौड़ा वर्गाकार घेरा खिंचवा लिया जिसके चारों कोनों पर किलेबंदी की शान से चार कच्चे बुर्ज बनवा दिये ताकि इर्द-गिर्द के इलाक़ों की निगरानी की जा सके। यह अहाता इतना विशाल था कि उसके अंदर असंख्य घुड़सवार, पलटनें, तोपखाने, अस्तबल और अन्य ज़रूरी कारखाने आसानी से रह सकते थे। बुरहान-उल-मुल्क को चूंकि इमारत का शौक न था इसलिए उसके जनाने और बेगमों के रहने के लिए भी कच्चे मकान ही बना लिये गये। गरज़ यह कि कच्चे बंगले में उस समय का अवध-नरेश जब ज़िलों के दौरे और सरकारी यात्राओं से फ़ुर्सत पाता तो ऐश-आराम के साथ रहता था और उसे किसी बात की शिकायत न थी और उसका यह शासन-केंद्र कुछ ही दिन में 'बंगला' के नाम से मशहूर हो गया।

बुरहान-उल-मुल्क के देहांत के बाद जब नवाब सफ़्दरजंग का जमाना शुरू हुआ तो यह बस्ती फ़ौज़ाबाद मशहूर हुई। यह है बुनियाद शहर फ़ौज़ाबाद की जिसने अपने बनने और बिगड़ने की तेज़ी में लखनऊ को भी मात कर दिया। अब उन दिनों इन कच्ची चारदीवारी के गिर्द फ़ौज के अधिकतर मुगल सरदारों ने अपनी दिलचस्पी के लिए वाग़ और हवादार तथा आनंदप्रद रंग-महल बनाये और शहर की रौनक बढ़ने लगी। इस कच्चे अहाते का एक

<sup>1</sup>फ़ौज़ाबाद के सभी हालात मुंशी मुहम्मद फ़ैजबख्श की 'तारीख़-ए-फ़रह बख्श' से लिए गए हैं। मूल पुस्तक हमने नहीं देखी मगर उसका अंग्रेज़ी अनुवाद (अनुवादक : विलियम हुई) जो 1889 में गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद में छपा है हमारे पास मौजूद है।



फाटक 'दिल्ली दरवाजा' कहलाता था जो पश्चिम की ओर था। उसके बाहर दीवान आत्माराम के बेटों ने एक शानदार बाजार बनवाया और उसी के सिलसिले में रहने के लिए मकान भी बनवाये। इसी तरह इस्माईल खां रिसालदार ने भी एक बाजार बनवाया और चारदीवारी के अंदर ख्वाजा-सराओं (महल रक्षक) और विभिन्न फौजी लोगों के बहुत से मकान भी तैयार हो गये।

नवाब सफ़दर जंग की मृत्यु के बाद इस नयी बस्ती पर कुछ रोज़ के लिए तबाही बरस गयी। जिसकी वजह से इतने दिनों में जो कुछ बना था ज़माने ने बिगाड़ कर रख दिया इसलिए कि उनके बेटे नवाब शुजाउद्दौला ने अपने रहने के लिए लखनऊ को पसंद किया था और वहीं रहते थे। अलबत्ता साल में दो-एक रातें अपने बाप-दादा के इस पुराने मकान में जरूर बसर कर लिया करते। यहां तक कि 1746 ई० में उन्हें बक्सर की लड़ाई में अंग्रेजों से हार हुई। उस समय उनके पास कुछ भी तो न रहा था और वे उसी हालत में भागते हुए फ़ैजाबाद में आये और वहां के किले में जो कुछ साज-सामान मौजूद पाया लेकर रातों-रात चल खड़े हुए और लखनऊ पहुंचे। यहां भी एक ही रात ठहर कर जो कुछ हाथ आया, लिया और दिल्ली की राह ली ताकि रुहेलखंड के पठानों के पास जाकर शरण लें। लड़ाई के नौ महीने बाद अंग्रेजों से उनकी मुलह हो गयी जिसके अनुसार शुजाउद्दौला के ज़िम्मे यह वाजिब था कि प्रदेश की आमदनी में से रुपये में पांच आने अंग्रेजों को अदा करें।

संधि होने से पहले इस सफर में इत्तिफ़ाक़ से शुजाउद्दौला का गुज़र फ़र्रखा-बाद शहर में भी हुआ था जहां एहमद बंगश से मुलाक़ात हुई जो उस ज़माने के पुराने तजुर्बेकार बहादुरों में माने जाते थे। उन्होंने शुजाउद्दौला को सलाह दी कि अब जो तुम जाकर हुकूमत की बागडोर हाथ में लेना तो मेरी इन दो बातों को न भूलना : एक तो यह कि मुग़लों का कभी एतबार न करना बल्कि अपने दूसरे नौकरों और ख्वाजासराओं से काम लो। दूसरे यह कि लखनऊ का रहना छोड़ो और फ़ैजाबाद को अपनी राजधानी बनाओ।

ये बातें शुजाउद्दौला के दिल पर बैठ गयीं और अंग्रेजों से समझौता होने के बाद 1779 ई० में जो उन्होंने अपनी सल्तनत की राह ली तो सीधे फ़ैजाबाद आये और उसी को अपनी राजधानी बना दिया। अब यहां उन्होंने नयी



फ़ौज भर्ती करना शुरू की, नये घुड़सवार तैयार किये और नयी इमारतों की बुनियाद डाली। पुराने हिसार को एक मज़बूत परकोटे की शान से दुबारा बनवाया जो अब किला कहलाता था। मुग़लों के जो मकान अंदर बने हुए थे ढहा दिये और अपने अक्सर निजी नौकरों को हुक़्म दिया कि वे परकोटे के बाहर मकान बनवाएं। इस हिसार के ईर्द-गिर्द हर तरफ़ दो-दो मील का मैदान छोड़ दिया गया जिसके गिर्द गहरी खाई खोद कर उसे क़िलाबंदी के रूप में दुरुस्त किया गया। सरकारी नौकरों और फ़ौज के अफ़सरों को इजाज़त हुई कि अपनी हैसियत और हालत के मुनासिब ज़मीन के टुकड़े लेकर उसी मैदान में मकान बनाएं। जैसे ही यह ख़बर मशहूर हुई कि शुजा-उद्दौला ने फ़ैज़ाबाद को अपनी राजधानी बनाया है, एक दुनिया का ख़ूब उधर फिर गया। हजारों लोग आ-आकर आबाद होना शुरू हुए। शाहजहानाबाद में यह हालत थी कि जिसे देखिए फ़ैज़ाबाद जाने के लिए तैयार है। चुनांचे दिल्ली के अधिकतर शिल्पकारों ने अपना बतन छोड़ा और पूरब की ओर चल पड़े। दिन-रात लोगों के आने का तांता बंधा रहता था और क़ाफ़िले चले आते थे जो आ-आकर यहां बसते और फ़ैज़ाबाद के आसपास खपते चले जाते थे। चंद ही रोज़ के अंदर हर धर्म और जाति के सुखी-संपन्न साहित्यकार, तलवार के धनी, व्यापारी, शिल्पी और हर वर्ग तथा हर श्रेणी के लोग यहां जमा हो गये। और जो आता, आते ही इस फ़िर्क में पड़ जाता कि कोई ज़मीन का टुकड़ा हासिल करके मकान बना ले।

चंद ही साल के अंदर इस पहले हिसार के अलावा दो और फ़सीलें बन गयीं: एक जो पहले वर्गाकार अहाते के दक्षिणी सिरे से मिली हुई थी उसकी लंबाई-चौड़ाई दो-दो मील की थी, और दूसरा हिसार एक मील के फैलाव में था जो क़िले और बाहर की प्राचीर के दरम्यान था। इसी ज़माने में त्रिपोलिया और चौक बाजार बने जिनकी सड़क क़िले के दक्षिणी फाटक से शुरू हो कर इलाहाबाद की सड़क के नुक्कड़ तक चली गयी थी और इतनी खुली हुई थी कि बराबर-बराबर दस छकड़े आसानी से गुजर सकते थे। शहर की फ़सील का आसार ज़मीन के पास चाहे जितना हो दरम्यान में दस गज से कम न था जो ऊपर पहुंच कर पांच-पांच गज रह गया था। इस फ़सील पर कायदा और बेकायदा दोनों तरह की फ़ौजों के दस्ते रात भर रौंद फिरा करते और जा-बजा पहरा देते। वाकायदा सिपाहियों की बर्दी लाल थी और बेकायदा सिपाहियों



की वर्दी काली । इन्हीं सिपाहियों की जरूरत से बरसात में जा-बजा छप्पर ढाल दिये जाते, मगर बरसात के खत्म होते ही आग लगने के अंधेरे से वे लाजिमी तौर पर उतार डाले जाते । चुनांचे सिर्फ प्राचीर की दीवारों के लिए हर साल लगभग एक लाख छप्पर छाये जाते और चार महीने के बाद नोच के फेंक दिये जाते ।

शहर के आसपास दो चरागाहें शिकार के लिए नियत कर दी गयी थीं जिनमें से एक पश्चिम की ओर गुरजी बेग खां की मस्जिद से गुप्तार घाट तक चली गयी थी जो एक लंबा फासला है । उसके दोनों ओर कच्ची दीवारें थीं और तीसरी ओर घाघरा बहती थी । उसमें अनेक हिरन, चीतल, बार्सिघे, नील गायें वगैरा शिकार के जानवर छोड़े गये थे जो बड़ी आज़ादी के साथ छूटे-छूटे फिरते और भड़कते ही चौकड़ियां भरने लगते । दूसरी शिकारगाह शहर से पूरब की तरफ गांव जनीरा और छावनी गोसाईं से नदी के किनारे तक थी जिसका फ़ैलाव छह मील का था । इसके रकबे में ग्यारह गांव और उनकी जमीन आ गयी थी । लेकिन यह शिकारगाह अधूरी ही रही और इसकी नौबत न आने पायी कि उनमें जंगली जानवर छोड़े जाएं ।

खास शहर के हल्के के अंदर तीन ऐसे सुखद बाग थे जो इस योग्य थे कि अमीर और शहज़ादे आकर इनमें सैर करें और उनकी बहार और हरियाली का आनंद उठाएं । एक अंगूरी बाग जो क़िले के अंदर स्थित था और उसके रकबे के चौथाई हिस्से पर छाया हुआ था । दूसरा मोतीबाग जो कि चौक के अंदर स्थित था । तीसरा लालबाग जो सब बागों से अधिक विशाल था । इसमें बड़ी सुंदरता से पेड़-पौधे लगाये गये थे और हर तरह के नाजुक और दिल-फरेब फूल बड़े सलीके से लगाये गये थे । सारे सूबे में इसकी शोहरत थी और दूर-दूर के लोगों को तमन्ना थी कि कोई खुशनसीबी की शाम उस रूहअफ़ज़ा बाग में बसर करें । शहर के नौजवान शरीफ़ज़ादों के भुंड रोज तीसरे पहर को इसमें गश्त लगाते और दिल बहलाते नज़र आते । यह बाग कितना सुखद और मुहावना था इसकी ख्याति यहां तक थी कि दिल्ली के शहशाह शाहआलम जब इलाहाबाद से पलटे तो इसी बाग की सैर के शौक में फ़ज़ाबाद होते हुए दिल्ली गये और कुछ जमाने तक वे इसी के अंदर रहे । इन तीन बागों के अलावा आसफ़बाग और बुलंदबाग भी शहर के आसपास लखनऊ के रास्ते में स्थित थे ।



नवाब शुजाउद्दौला बहादुर को शहर की दुरुस्ती का ऐसा शौक था कि हर सुबह-शाम सवार होकर सड़कों और मकानों का मुआयना करते। मजदूर फड़वे और कुदालें लिए हुए साथ होते, जहां कहीं किसी मकान को टेढ़ा और अपनी हड से बढ़ा पाते या किसी दुकानदार को देखते कि उसने सड़क की जमीन बालिश्त भर भी दवाली है, फौरन उसे खुदवाकर बराबर और सीधा करा देते।

फौज के सुधार की तरफ भी शुजाउद्दौला का विशेष ध्यान था। रिसाले के बड़े सरदार अब मुर्तजा खां बरोज और हिम्मत बहादुर और उमरावगीर नामक दो-गोशआई थे। उनके मातहत इतने सवार थे कि इन तीन के अलावा और जितने छोटे-छोटे जमादार थे सबकी फौज की कुल तादाद से उनमें से हरेक की टुकड़ी ज्यादा थी। फौज के दूसरे सरदार एहसान कंबोही, गुरजी बेग खां, गोपाल राव मराठा, मीर जुमला के दामाद नवाब जमालउद्दीन खां मुजफ्फर उद्दौला, बहूर जंग वल्ली अबुल बरकात खां काकोरीनिवासी और मुहम्मद मुइजउद्दीन खां लखनऊ के एक शेखजादे। इनमें से कोई ऐसा न था जिसके मातहत हजार-पांचसौ सिपाहियों का गिरोह न हो। इनके अलावा ख्वाजासरा और वे नौजवान ख्वाजासरा जो उनकी निगरानी में ट्रेनिंग पाते, चेले और नौकर-चाकर थे। बसंतअली खां ख्वाजासरा के मातहत दो डिवीजन फौज यानी चौदह हजार बाकायदा सिपाही थे जिनकी वर्दी लाल थी। एक दूसरा बसंत ख्वाजासरा था जिसकी कमान में एक हजार बाकायदा भाले चलाने वाले सवार और एक पलटन थी। अंबर अली खां ख्वाजासरा की अफसरों में पांच सौ सवार और एक पलटन थी जिनकी वर्दियां काली थीं। महबूब अली खां ख्वाजासरा से ट्रेनिंग लेने वाले पांच सौ सवार थे और चार पलटनें थीं। इतनी ही फौज लताफत अली खां के मातहत थी। रघुनाथ सिंह और प्रसाद सिंह में से हरेक की कमान में तीन-तीन सौ सवार और चार-चार पलटनें थीं। इसी तरह मकबूल अली खां प्रथम और द्वितीय, यूसुफ अली खां के साथ पांच-पांच सौ मुगल सवारों और पैदलों की टुकड़ी थीं और तोपखाने की तो कोई हद थी न हिसाब।

लिहाजा कुल फौज जो शुजाउद्दौला के कब्जे में थी और फ़ौजाबाद में मौजूद रहा करती थी उसकी कुल तादाद यह थी: लाल वर्दीवाले तीस हजार बाकायदा और काली वर्दीवाले चालीस हजार बेकायदा प्यादे। उनके बड़े



सिपहसालार सैयद एहमद थे जो “बांसीवाला” के उपनाम से मशहूर थे। जल्दी भरने और फ़ायर करने के एतबार से उनकी तौड़ेदार बंदूकों के मुकाबिले में अंग्रेज फौज की बंदूकें कोई अहमियत न रखती थीं।

इस टुकड़ी के अलावा शुजाउद्दौला के पास बाईस हजार हरकारे और मुख-बिर थे जो हर सातवें रोज़ पूना से और हर पंद्रहवें दिन काबुल से खबरें लाते। दरबार में हमेशा दूर-दूर के शहरों के शासकों के नायब मौजूद रहा करते। एक नायब मराठों का था, एक दक्खिन के शासक निज़ाम अली खां का, एक ज़ाव्ते खां और एक नवाब जुल्फ़िकारउद्दौला नजफ़ खां का जिनके साथ उनके दफ़्तर और सिपाही भी थे। उन लोगों के अलावा और भी बहुत से फ़ौजी अफ़सर अपनी-अपनी फ़ौजी टुकड़ियों के साथ यहां मौजूद रहते—जैसे मीर नईम खां जिनके भंडे के नीचे साबितखानी, बुंदेलखंडी, चंदेला और मेवाती सिपाहियों का समूह था।

मुहम्मद वशीर खां क़िलेदार थे। शहर की फ़सीलों और फाटकों पर उन्हीं के सवार और प्यादे फ़ैले रहते और क़िले के अंदर ही उनके रहने और दफ़्तर के लिए अच्छे मकान और उनके सिपाहियों की वारकें बनी हुई थीं। जब बाहरी दीवारों में भी जगह बाक़ी न रही तो सैयद जमालउद्दीन खां और गोपाल राव मराठा ने बाहर निकल कर नौराही नामक गांव के पास ही रहना शुरू कर दिया और अपने मकान तथा कैप वहां बनाए और इसी जगह की तंगी की वजह से नवाब मुर्तज़ा खां वारीज, मीर एहमद बांसीवाला, मीर अबुल बरकात और शेख़ एहसान अयोध्या और फ़ैजाबाद के दरम्यान तंबुओं में रहते थे।

आदमियों की बहुतायत और सिपाहियों की भीड़ से शहर के अंदर—खासकर चौक में—ऐसा जमघटा-सा लगा रहता कि वहां से गुज़रना दूभर था और नामुमकिन था कि कोई व्यक्ति बिना अटके हुए सीधा चला जाए। फ़ैजाबाद न था इसानों का जंगल था। बाज़ार में देखिए तो मुल्कों का माल ढेर था और खबर सुनकर कि फ़ैजाबाद में अच्छी रुचिवाले रईसों और शौकीन अमीरों का चुनिदां समूह है, हर तरफ़ से व्यापारियों के क़ाफ़िले लदे-फंदे चले आते थे और चूँकि चाहे कैसा ही कीमती माल हो हाथों हाथ बिक जाता, अच्छी-से-अच्छी चीज़ों के आने का सिलसिला बंध गया था। जब देखिए ईरानी काबुली, चीनी और फ़िरंगी सौदागर बहुत ही बहुमूल्य और भारी माल लिये



हुए मौजूद रहते और ज्यों-ज्यों नफ़ा उठाते, हवस बढ़ती और वे अधिक कोशिश और मेहनत से नया माल ले आते। मोस्यो जां तेल, मोस्यों सोन सोन और मोस्यो पेट्रोज़ वगैरा जैसे दो सौ फ़ांसीसी जो यहां रहने लगे थे, सरकार में मुलाज़िम थे। और गुजाउदौला की सल्तनत से अपना संपर्क बनाये रखते थे जो सिपाहियों को सैनिक शिक्षा देते और तोपें, बंदूकें और अन्य अस्त्र-शस्त्र अपनी देखरेख में तैयार कराते।

मुंशी फ़ैज़ बख़्श जो “तारीख-ए-फ़रहबख़्श” के लेखक थे, जिनकी मेहर-वानी से हमें ये घटनाएं मालूम हुई हैं, खुद उस ज़माने में मौजूद थे और उन्होंने जो कुछ लिखा है अपने अनुभव के आधार पर लिखा है। वे कहते हैं कि मैं जब पहले-पहल घर छोड़ कर फ़ैज़ाबाद में गया हूं मुस्ताज़नगर ही तक पहुंचा था, जो शहर के पश्चिमी फाटक से चार मील की दूरी पर है, मैंने देखा कि एक पेड़ के नीचे भांति-भांति की मिठाइयां, गरमागरम खाना, कबाब-सालन, रोटियां और परांठे वगैरा पक रहे हैं। सबीलें रखी हुई हैं, नान खताइयां, तरह-तरह के शर्बत और फ़ालूदा भी विक रहा है और सैकड़ों ब्रादमी खरीददारी के लिए उन दुकानों पर गिरे पड़ते हैं। मुझे खयाल गुज़रा कि मैं शहर के अंदर दाखिल हो गया और खास चौक में हूं। मगर हैरान था कि अभी तक शहर का फाटक तो आया ही नहीं, मैं अंदर कैसे पहुंच गया? लोगों से पूछा तो एक राहगीर ने कहा, “जनाब, शहर का फाटक यहां से चार मील है, आप किस खयाल में हैं?”

इस जवाब पर हैरान होता हुआ शहर में दाखिल हुआ तो अजब चहल-पहल नज़र आयी। रंगीनियां थीं और दिलचस्पियां, जिधर देखता हूं नाच हो रहा है। मदारी तमाशा कर रहे हैं और लोग तरह-तरह के सैर-तमाशों में व्यस्त हैं। मैं यह रौनक और शोर हंगामा देखकर दंग रह गया। सुबह से शाम तक और शाम से सुबह तक कोई वक्त न होता जब फ़ौजों और पलटनों के नक़््कारों की आवाज़ न सुनी जाती हो। पहरों और घड़ियों के बताने के लिए बारबार नौबत बजती और घड़ियों पर मूगरियां पड़तीं जिनके शोर-गुल से कान उड़े जाते। सड़कों पर देखिए तो हर दम घोड़ों, हाथियों, ऊंटों, खच्चरों, शिकारी कुत्तों, गाय-भैंसों, बैलों, छकड़ों और तोपों के गुज़रने का सिलसिला जारी रहता जिनकी गिनती हिसाब और अंदाजे से बाहर थी, रास्ता चलना दुश्वार था।



एक अजीब रौनक और दबदबे का शहर नज़र आया जिसमें दिल्ली के वज़ादार लोगों में से खुश पोशाक शरीफ़ज़ादे, यूनानी हकीम, ऊँचे दर्जे के मर्द और औरत, बैश्याएँ, हर शहर और हर जगह के मशहूर और दक्ष गायक सरकार में मुलाज़िम थे और बड़ी-बड़ी तनख्वाहें पाकर ऐश-इशरत की ज़िंदगी बसर करते। छोटे-बड़े सबकी जेबें रुपयों और अशरफियों से भरी हुई थीं और ऐसा नज़र आता था जैसे यहां कभी किसी ने गरीबी और मोहताजी को ख़्वाब में भी नहीं देखा है। नवाब वज़ीर (शुजाउद्दौला बहादुर) शहर की सरसब्जी, रौनक और रिआया की उन्नति में पूरी तरह व्यस्त हैं और मालूम होता था कि चंद ही रोज़ में फ़ौज़ाबाद दिल्ली से होड़ करने का दावा करेगा।

चूँकि किसी राज्य और किसी शहर का रईस इस शान शौकत से नहीं रहता था जिस तरह कि नवाब शुजाउद्दौला रहते थे और इसके साथ ही यह नज़र आता था कि कहीं के लोग इस बेजिगरी से हर काम में और हर मौक़े पर धन खर्च करने को नहीं तैयार हो जाते थे इसलिए हर किस्म के और हर जगह के बड़े-बड़े दस्तकारों, कारीगरों और विद्यार्थियों ने अपने-अपने प्रांत छोड़ कर फ़ौज़ाबाद को ही अपना घर बना लिया और यहां हर ज़माने में ढाका, बंगाल, गुजरात, मालवा, हैदराबाद, शाहजहानाबाद, लाहौर, पेशावर, काबुल, कश्मीर और मुल्तान के विद्यार्थियों का एक बड़ा भारी गिरोह मौजूद रहता जो विद्वानों की पाठशाला में शिक्षा प्राप्त करते और उस ज्ञान-स्रोत से जो फ़ौज़ाबाद में जारी था पूरी तरह तृप्त होकर अपने घरों को वापस जाते। काश नवाब वज़ीर और दस बारह बरस जी जाते तो घाघरा के किनारे एक नया शाहजहानाबाद आबाद हो जाता और दुनिया एक नई ज़िंदा दिल्ली की सूरत देख लेती !

यह नवाब शुजाउद्दौला के सिर्फ़ नौ साल के निवास का नतीजा था जिसने फ़ौज़ाबाद को ऐसा बना दिया, और इन नौ साल में भी सिर्फ़ बरसात के चार महीने वे शहर में विराजमान रहते, बाक़ी ज़माना अपने राज्य के दौरे और सैर व शिकार में बीतता था। शुजाउद्दौला को स्वभाव से ही सुंदर स्त्रियों और नृत्य-गान से लगाव था जिसकी वजह से बाज़ारी औरतों और नाचने वाली बैश्याओं की प्रसिद्धि इतनी बढ़ गयी कि कोई गली-कूचा उनसे ख़ाली न था और नवाब के इनाम बैश्या से वे इतनी खुशहाल और धनवान थीं कि अक्सर रंडियों के डेरे लगे रहते थे जिनके साथ दो-दो, तीन-तीन आलीशान



तंबू रहा करते और नवाब साहब ज़िलों का दौरा करते और सफ़र में होते तो नवाबी खेमों के साथ-साथ-उनके खेमे भी शाही शान-शौकत से छकड़ों पर लद-लद कर रवाना होते और उनके गिर्द दस-दस, बाहर-बाहर तेलंगों का पहरा रहता और जब शासक का यह ढंग था तो तमाम अमीरों और सरदारों ने भी वैभक्तिक यही तरीका अपना लिया और सफ़र में सबके साथ रंडियां रहने लगीं। हालांकि इससे अनैतिकता और बेशर्मी बढ़ गयी लेकिन इसमें शक नहीं कि उन वैश्याओं की बहुतायत और अमीरों की शौकीनी से शहर की रौनक बहुत अधिक बढ़ गयी थी और फ़ैजाबाद दुलहन बन गया था।

सन् 1773 ई० में शुजाउद्दौला ने पश्चिम को प्रस्थान किया। इस यात्रा में शाही कैप की रौनक और चहल-पहल का वर्णन नहीं किया जा सकता। मालूम होता था कि नवाबी भंडे के साथ-साथ एक बड़ा भारी शहर सफ़र कर रहा है। लखनऊ होते हुए इटावा पहुंचे जिस पर मराठों का कब्ज़ा था। एक ही हमले में उसे उनसे छीनकर अपने कब्ज़े में किया और एहमद खां बंगश के राज्य में दाखिल होकर कौड़ियागंज और कासगंज में डेरे डाले। यहाँ से उन्होंने बरेली के शासक हाफ़िज़ रहमत खां को लिखा।

“पिछले साल मैंने एक करोड़ रुपये महादजी सिधिया मराठे को भेजे थे जिसने आप का वह तमाम इलाक़ा जो दो अरब के दरम्यान है आपसे छीन लिया था। वह रक़म अदा करके मैंने आपका वह इलाक़ा उसके कब्ज़े से छुड़ाया और आपके हवाले कर दिया। लिहाज़ा अब पचास लाख की रक़म जो आपकी तरफ़ से मैंने अदा की थी फौरन अदा कीजिए।”

हाफ़िज़ रहमत खां ने अपने तमाम अफ़ग़ान सरदारों और भाई-बंदों को जमा करके कहा :

“शुजाउद्दौला लड़ाई के लिए कोई बहाना बूढ़ रहे हैं। मुनासिब यह है कि उन्होंने जो रक़म मांगी है वह अदा कर दी जाए। बीस लाख मैं अपने पास से देता हूँ और बाकी तीस लाख तुम जमा कर दो।”

अदूरदर्शी पठान सरदारों ने जवाब दिया, “शुजाउद्दौला के आदमी देखने ही के हैं वे भला हमसे क्या मुक़ाबिला करेंगे ? बाकी रही अंग्रेज़ फ़ौज जो उनके साथ है, तो उनकी तोपों पर जिस वक़्त हम तलवारें सूत-सूतकर जा पड़ेंगे सबके हवास जाते रहेंगे। देने-लेने की कुछ ज़रूरत नहीं।”

हाफ़िज़ रहमत खां ने यह सुनकर कहा, “तुम्हें इस्तिथार है। मगर मैं



अभी से कहे रखता हूँ कि अगर लड़ाई का रंग बदला तो मैं मैदान से ज़िदा न आऊंगा और इसका जो कुछ अंजाम होगा वह तुम्हीं को भुगतना पड़ेगा।”

कहना न होगा कि शुजाउद्दौला को अपनी इच्छा के अनुसार जवाब न मिला, वे फौज लेकर चढ़ गये। लड़ाई हुई और लड़ाई का अंजाम वही हुआ जिसे तक्रदीर ने हाफ़िज़ रहमत खां की जुबान से पहले ही सुनवा दिया था। हाफ़िज़ रहमत खां शहीद हुए और उनकी हुकूमत का खात्मा हो गया। मगर जीत शुजाउद्दौला को भी रास न आई। 13 सफ़र<sup>1</sup> 1188 हिजरी (1774 ई०) को लड़ाई हुई थी 11 शवान<sup>2</sup> को शुजाउद्दौला वरेली से कूच करके लखनऊ आये। माह रमज़ान<sup>3</sup> लखनऊ में बसर किया, 8 शबवाल<sup>4</sup> को लखनऊ से कूच करके 14 को फ़ैजाबाद में दाखिल हुए और जीत को 9 महीने 10 दिन ही हुए थे और घर में पूरे डेढ़ महीने भी आराम करने का मौक़ा नहीं मिला था कि 23 ज़ीकाद<sup>5</sup> 1188 हि० (1774 ई०) को स्वर्गवासी हुए। और अफ़सोस उनकी मौत ही के साथ फ़ैजाबाद की तरक्की का दौर भी ख़त्म हो गया।

उस वक़्त अवध की हुकूमत में सबसे बड़ा असर नवाब शुजाउद्दौला बहादुर की बीबी बहू बेगम साहिबा का था जो बहुत ही धनवान भी समझी जाती थी। उनकी मंजूरी से नवाब आसफ़उद्दौला राजगद्दी पर बैठे। मगर उनकी नैतिक अवस्था बहुत ही बुरी थी और यह देखकर उनके मुसाहिबों ने यह उचित समझा कि मां-बेटे को अलग रखें। कुछ दिन तक सैर व शिकार में व्यस्त रहने के बाद नवाब आसफ़उद्दौला बहादुर लखनऊ में रहने लगे और यहीं बैठे-बैठे मां को सताया करते और बार-बार उनसे रुपये मांगते थे।

बहू बेगम साहिबा के मौजूद रहने से फ़ैजाबाद को उनकी ज़िदगी तक थोड़ी-बहुत रौनक हासिल रही। हालांकि उनकी ज़िदगी में भी नवाब आसफ़उद्दौला की नालायक़ियों ने बेगम साहबा के संतोष में और उसी कारण फ़ैजाबाद की शांति और व्यवस्था में बाधा डाली लेकिन उस आदरणीय महिला की ज़िदगी तक वे भगड़े और हंगामे भी एक तरह से वहां की रौनक को बढ़ाया ही करते थे। उनके निधन के साथ ही फ़ैजाबाद का इतिहास समाप्त हो गया और लखनऊ का दौर शुरू हुआ जिसका हाल हम आगे लिखेंगे।

<sup>1-5</sup> इस्लामी महीनों के नाम (सफ़र-दूसरा महीना; शवान-आठवां महीना; रमज़ान-नवां महीना; शबवाल-दसवां महीना; ज़ीकाद-न्यारहवां महीना)



[2]

ठीक किसी को नहीं मालूम कि लखनऊ की आबादी की बुनियाद कब पड़ी ? इसका संस्थापक कौन था ? और इसका यह नाम क्यों पड़ा ? लेकिन विभिन्न परिवारों की राष्ट्रीय परंपराओं और अनुमान से काम लेकर जो कुछ बताया जा सकता है यह है :

कहते हैं कि राजा रामचंद्रजी लंका को जीतकर और अपने वनवास का समय पूरा करके जब राजसिंहासन पर बैठे तो यह प्रदेश उन्होंने जागीर के रूप में वन में अपने साथी और हमदर्द भाई लक्ष्मण को दे दिया । चुनांचे उन्हीं के निवास या आगमन से यहां नदी के किनारे एक ऊंचे टेकरे पर एक बस्ती आबाद हो गयी जिसका नाम उस समय से लक्ष्मणपुर रखा गया और वह टीला 'लक्ष्मण टीला' मशहूर हुआ । इस टीले में एक बहुत ही गहरी गुफा या कुआं था जिसकी किसी को थाह न मिलती थी और लोगों में मशहूर था कि वह शेषनाग तक चला गया है । इस विचार से लोगों में आस्था के भाव जागे और हिंदू लोग भक्ति-भाव से उसमें फूल-पानी डालने लगे ।

यह भी कहा जाता है कि महाराजा युधिष्ठिर के पोते राजा जन्मेजय ने यह इलाका तपस्वियों और ऋषियों-मुनियों को जागीर में दे दिया था जिन्होंने यहां चप्पे-चप्पे पर अपने आश्रम बनाये और भगवान के ध्यान में लीन हो गये । एक मुद्दत के बाद उनको कमजोर देखकर दो नयी जातियों ने हिमालय की तराई से आकर इस प्रदेश पर अधिकार कर लिया । ये जातियां आपस में मिलती-जुलती और एक ही नस्ल की दो शाखाएं मालूम होती थीं : एक 'भर' और दूसरी 'पांसी' ।

इन्हीं लोगों से सैयद सालार मसूद गाजी का 1030 ई० में मुक्काबिला हुआ और शायद उन्हीं पर बल्लियार खिलजी ने 1202 ई० में चढ़ाई की थी । लिहाजा इस प्रदेश में जो मुसलमान परिवार पहले-पहल आकर आबाद हुए वे इन्हीं दोनों हमलावरों खासकर सैयद सालार मसूद गाजी के साथ आनेवालों में से थे ।

भर और पांसियों के अलावा ब्राह्मण और कायस्थ भी यहां पहले से मौजूद



थे। इन सब लोगों ने मिलकर यहां एक छोटा-सा शहर बसा लिया और अमन-चैन से रहने लगे। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि इस बस्ती का नाम 'लक्ष्मणपुर' से बदलकर 'लखनऊ' कब हो गया। इस आखिरी नाम का पता सम्राट अकबर से पहले नहीं चलता, लेकिन इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि हिंदू-मुसलमानों की काफी आबादी पहले से मौजूद थी जिसका सबूत उस घटना से मिल सकता है जो लखनऊ के शेखों की पारिवारिक परंपराओं में बहुत पहले से मौजूद है और वह यह कि सन 1540 ई० में जब बादशाह हुमायूं को शेरशाह के हाथों जौनपुर में हार हुई तो वह मैदान छोड़कर सुल्तानपुर, लखनऊ, पीलीभीत होता हुआ भागा था। लखनऊ में उसने सिर्फ चार घंटे दम लिया था और यद्यपि वह पराजित होकर आया था और उसके पास कोई सत्ता या शक्ति नहीं थी मगर लखनऊ के लोगों ने केवल इंसानी हमदर्दी और अतिथि-परायणता के विचार से उन चंद घंटों ही में दस हजार रुपये और पचास घोड़े उसको भेंट दिये थे। इतने थोड़े ज़माने में उस सामान के जुट जाने से अनुमान किया जा सकता है कि उन दिनों यहां काफी आबादी मौजूद थी और उन दिनों का लखनऊ आजकल के ज्यादातर कस्बों से ज्यादा बारीक और खुशहाल था।

इसी पुराने ज़माने के आनेवालों में शाह भीना का परिवार भी है जिनका मज़ार आजतक सर्वसाधारण का शरणस्थल है। और शायद इसी समय के आनेवालों में शाह पीर मुहम्मद भी थे जिन्होंने खास लक्ष्मण टीले पर निवास किया और वहीं उसका देहांत भी हुआ। उन्हीं के वहां रहने के कारण वह पुराना टेकरा लक्ष्मण टीले से 'शाह पीर मुहम्मद का टीला' हो गया और समय बीतने के साथ वह गहरी गुफा भी पट गयी। उस पर बाद के ज़माने में शहंशाह औरंगज़ेब ने जो खुद वहां आया था एक बढ़िया, मज़बूत, खूबसूरत और शानदार मस्जिद बनाकर खड़ी कर दी।

सन 1590 ई० में सम्राट अकबर ने जब सारे हिंदुस्तान को बारह प्रांतों में बांटा तो अवध प्रांत के सूबेदार या शासक की राजधानी पहले-पहल लखनऊ ही करार पायी थी। उन दिनों संयोग से जिला बिजनीर के शेख अब्दुरहीम नामक एक शरीफ और परेशानहाल बुजुर्ग रोज़गार की तलाश में दिल्ली पहुंचे। वहां दरबार के अमीरों से संपर्क स्थापित करके सम्राट के दरबार में पहुंचे। आखिरकार उन्हें शाही मंसबदारों में शामिल कर लिया गया और उन्हें लखनऊ



में जागीर भी मिल गयी। कुछ दिन बाद वे बड़ी शान-शौकत और धूमधाम के साथ अपनी जागीर में आ गये और वहीं रहने लगे। यहां खास लक्ष्मण टीले या शाह पीर मुहम्मद के टीले को अपना निवास स्थान बनाकर उन्होंने अपना पंच मुहल्ला बनवाया, शेखन दरवाजा बनवाया और लखनऊ में ही दफन हुए। उनका मकबिरा 'नादान महल' के नाम से आज तक मशहूर है जिसकी इमारत को अभी चंद रोज़ हुए गवर्नमेंट आफ़ इंडिया ने पसंद करके अपने संरक्षण में ले लिया है।

इसी ज़माने में यहां शेख अब्दुरहीम ने लक्ष्मण टीले के पास एक दूसरी बुलंदी पर एक छोटा क़िला बनावया जो आसपास की गढ़ियों में से ज़्यादा मज़बूत था और वहां के लोगों पर उसका बड़ा असर पड़ता था या तो इसलिए कि शेख अब्दुरहीम को शाही दरबार से 'इल्मे-माही मरातिब' (मत्स्य ज्ञान विशारद) की उपाधि प्राप्त हुई थी या इसलिए कि इस क़िले के एक मकान में छब्बीस मेहराबें थीं और हर मेहराब पर शिल्पी ने दो-दो मछलियां बनाकर बावन मछलियां बना दी थीं। इस क़िले का नाम 'मच्छी भवन' मशहूर हो गया। 'भवन' शब्द या तो क़िले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है या 'बावन' से बिगड़ कर बन गया है। जिस शिल्पी ने इस क़िले को बनाया वह लखना नामक एक अहीर था और कहते हैं कि उसी के नाम से शहर का नाम लखनऊ हो गया। कुछ लोगों का ख़याल है कि लक्ष्मणपुर ही बिगड़कर लखनऊ बन गया है। इनमें से जो बात हो मगर इस आबादी ने यह नाम शेख अब्दुरहीम के आने के बाद पाया।

चंद रोज़ बाद अब्दुरहीम के खानदानवालों यानी शेखज़ादों के अलावा यहां पठानों का एक गिरोह आ गया जो दक्षिण की ओर आ बसा और वे पठान रामनगर के पठान मशहूर हुए। उन्होंने अपनी जमींदारी की हद उस जगह तक करार दी थी जहां अब 'गोल दरवाजा' स्थित है। क्योंकि वहां से नदी की तरफ बढ़िए तो शेखज़ादों की ज़मीन शुरू होती थी। इन पठानों के बाद शेखों का एक नया गिरोह आकर पूरब की तरफ बस गया जो 'शुयूख-नबहरा' कहलाते हैं। उन लोगों की ज़मीन वहां पर थी जहां अब रेज़िडेंसी के खंडहर पड़े हैं।

इन तीनों गिरोहों का अपने-अपने इलाकों पर क़ब्ज़ा था और वे अपने-अपने हल्कों के शासक थे लेकिन शेखज़ादों का असर सब पर हावी था और



आसपास के लोगों पर उनका दबाव पड़ता था जिसका कारण यह था कि इन लोगों का दिल्ली के दरबार से संबंध था, उनमें से कई व्यक्ति पूरे अवध प्रांत के सूबेदार मुकर्रर हो गये थे। और उनके किले मच्छी भवन की मजबूती की इतनी शोहरत थी कि जमाना की ज़बान पर था, 'जिसका मच्छी भवन उसका लखनऊ'।

अकबर ही के ज़माने में लखनऊ तरक्की करने लगा था और उसकी आबादी बढ़ती और फैलती जाती थी। यह सही है कि अवध के सूबेदार उन्हीं शेखजादों में चुने गये लेकिन आम रिवाज यह था कि इस काम पर दिल्ली के प्रतिष्ठित व्यक्ति ही नियुक्त होते जो सालों-साल अपने घर बैठे रहते। सिर्फ मालगुजारी आदि की वसूली के ज़माने में एक दौरा-सा करते और उनके सहायक यहां रहा करते। लिहाजा उनसे शहर की तरक्की की कोई उम्मीद न की जा सकती थी। हां, यहां के दो-एक शेखजादे जो सूबेदार मुकर्रर हो गये तो उनकी नियुक्ति से अलबत्ता लखनऊ को फ़ायदा पहुंचा।

लेकिन मालूम होता है कि अकबर का लखनऊ की तरफ़ खास ध्यान था। चुनांचे उसने वहां के ब्राह्मणों को वाजपेय यज्ञ के लिए एक लाख रुपये दिये थे और उसी वक्त से लखनऊ के वाजपेयी ब्राह्मण मशहूर हुए। इसी से पता चलता है कि प्राचीनतम हिंदू मुहल्ले जो अकबर के समय में मौजूद थे वे वाजपेयी टोला, कटारी टोला, सोधी टोला, बाजारी टोला और अहीरी टोला हैं और ये सब चौक ही के आसपास हैं।

मिर्जा सलीम ने जो तख्त पर बैठकर नूरउद्दीन जहांगीर के नाम से मशहूर हुए, बाप की ज़िदगी और अपने युवराजत्व काल में मिर्जा मंडी की बुनियाद डाली जो मच्छी भवन से पश्चिम की ओर स्थित है। अकबर के समय में यहां के सूबेदार जवाहर खां थे। वह तो दिल्ली में रहते मगर उनके नायब क़ाज़ी महमूद बिलग्रामी ने चौक के दक्षिण में उससे मिले हुए दाहिनी तरफ़ महमूद नगर और बायीं तरफ़ शाहगंज आबाद किये और उनके और चौक के दरम्यान में बादशाह के नाम से अकबरी दरवाज़ा बनवाया।

अकबर के शासन-काल में जबकि ये इमारतें बन रही थीं और ये मुहल्ले आबाद हो रहे थे लखनऊ एक अच्छी मंडी बन गया था और तरक्की के इस दर्जे को पहुंचा हुआ था कि एक फ़्रांसीसी व्यापारी ने, जो घोड़ों का व्यापार करता था, यहां रहकर मुनाफ़ा कमाने की कोशिश की और शाही दरबार से



लखनऊ में रहने की सनदे मुस्तामिनी<sup>1</sup> हासिल करके यहां अपना अस्तबल कायम किया और पहले ही साल में इतना फ़ला-फ़ूला कि चौक के पास चार आलीशान मकान बनवा लिये। साल ख़त्म होने पर जब उसने मुस्तामिनी के परवाने का नवीकरण कराना चाहा तो उसे ज़्यादा रहने की इजाज़त न मिली। इस पर भी उसने ज़बरदस्ती ठहरने का इरादा किया तो शहंशाह के हुकम के अनुसार शहर के अधिकारियों ने उसके मकान ज़ब्त करके सरकार के सुपुर्द कर दिये और उसे वहां से निकाल दिया। वे चारों मकान मुद्दत तक सरकार के कब्ज़े में रहे यहां तक कि शहंशाह औरंगज़ेब आलमगीर के शासन-काल में जब मुल्ला निज़ामउद्दीन सिहालवी ने अपने क़स्बे के उपद्रवों से तंग आकर लखनऊ में जा बसने का निश्चय किया तो सरकार की ओर से उपहारस्वरूप वे चारों मकान उन्हें दे दिये गये और उन्होंने अपने पूरे परिवार के साथ आकर उन मकानों में निवास किया जो अपने इर्द-गिर्द के बहुत से मकानों के साथ आज तक 'फ़िरंगी महल' कहलाते हैं। मुल्ला साहब के शुभागमन का यह सुखद परिणाम निकला कि लखनऊ ज्ञान-विज्ञान का केंद्र और विद्यार्थियों का शरणस्थल बन गया और इस ज्ञानपीठ की ऐसी प्रगति हुई कि मुल्ला निज़ाम-उद्दीन का तैयार किया हुआ पाठ्यक्रम, जो 'सिलसिला-ए-निज़ामिया' कहलाता है, एक मुद्दत से हिंदुस्तान ही का नहीं सारे एशिया का पाठ्यक्रम है और इसमें ज्ञान-संबंधी विशेषताओं के साथ कुछ वरकतें भी शामिल समझी जाती हैं और इससे बड़ी आसानी से यह अंदाज़ा किया जा सकता है कि उस ज़माने में कहां-कहां और कितनी-कितनी दूर के विद्यार्थी लखनऊ में जमा रहते होंगे।

यूरोपीय पर्यटक लैकेट जो 1631 ई० यानी शाहजहां बादशाह के शासन-काल के आरंभ में हिंदुस्तान की सैर कर रहा था, लखनऊ के बारे में लिखता है, 'यह शानदार मंडी है। शाहजहां के समय यहां के सूबेदार सुल्तान अली शाह कुली खां थे। उनके दो बेटे थे मिर्जा फ़ाज़िल और मिर्जा मंसूर। इन्हीं

<sup>1</sup>मुस्तामिन का अर्थ है शांति चाहनेवाला। यूरोपवालों को चूंकि मुसलमानों और हिंदुओं में अपने लिए ख़तरा नज़र आया करता था इसलिए जहां ठहरना चाहते वहां के लिए दिल्ली-दरबार से मुस्तामिनी की सनद हासिल कर लिया करते थे ताकि अधिकारी और जनता उन्हें न सताएं। इस सनद से चूंकि सल्तनत पर ज़िम्मेदारियां आ जाती हैं इसलिए एक साल से ज़्यादा की सनद कम ही दी जाती थी।



दोनों के नाम से उन्होंने महमूदनगर से दक्षिण की तरफ आगे बढ़कर दो नये कस्बे फ़ाज़िलनगर और मंसूरनगर आबाद किये ।

उस ज़माने में यहाँ अशरफ़ अली खां नामक एक रिसालदार थे । उन्होंने इसी सिलसिले में अशरफ़ाबाद बसाया और उनके भाई मुशर्रफ़ अली खां ने नाले के दूसरी तरफ़ अपना घर बनाकर मुशर्रफ़ाबाद नामक एक और मुहल्ला कायम किया जिसका नाम घिस-घिसकर अब नौबस्ता हो गया है । उन्हीं दिनों पीर खां नामक एक और फ़ौजी अफसर थे जिन्होंने इन सब मुहल्लों से पश्चिम की ओर दूर जाकर अपनी गढ़ी बनाई जो जगह आज तक 'पीर खां की गढ़ी' कहलाती है ।

शहंशाह औरंगजेब आलमगीर ने किसी ज़रूरत से अयोध्या की यात्रा की थी । वापसी पर लखनऊ में ठहरता हुआ दिल्ली गया । इस मौके पर उसने शाह पीर मुहम्मद के टीलेवाली मस्जिद बनवाई जो खास लक्ष्मण टीले पर होने की वजह से इतनी ऊँचाई पर स्थित है जिससे ज्यादा मुनासिब जगह मस्जिद के लिए लखनऊ में नहीं हो सकती और शायद इसी मौके पर उसने फ़िरंगी महल के मकान तत्कालीन विद्वान मुल्ला निज़ामउद्दीन को उपहार के रूप में दे दिये होंगे ।

मुहम्मद शाह रंगीले के ज़माने में लखनऊ का सूबेदार गिरधा नांगा नामक एक बहादुर हिंदू रिसालदार था । उसका चचा छवीले राम दिल्ली की तरफ से इलाहाबाद का शासक नियुक्त हुआ था । छवीले राम के मरने पर गिरधा नांगा ने विद्रोह कर दिया और यह इरादा किया कि चचा की जगह ज़बरदस्ती इलाहाबाद का शासक बन जाये । मगर फिर खुद ही कुछ सोचकर उसने अपनी वफ़ादारी और आज्ञाकारिता प्रकट की और दरबार से उसे अवध की सूबेदारी का खिलअत<sup>1</sup> दिया गया । वह यहीं रहने लगा और उसकी बीवी ने जो रानी कहलाती थी रानी कटरा आबाद किया ।

मगर यहाँ का हाकिम और सूबेदार चाहे कोई हो शेखज़ादों का ऐसा जोर था कि किसी शासक को चाहे कैसा ही ज़बरदस्त हो और सरकार की ज़ोर से चाहे कैसी ही सनद लेकर आया हो यह साहस न हो सकता था कि उनके हल्के में क़दम रखे । मच्छी भवन को हालांकि अमीरों के महल की हैसियत हासिल थी लेकिन शेखज़ादों ने उसे अपनी मौरूसी जायदाद बना लिया

<sup>1</sup>बादशाह की ओर से सम्मानार्थ दिये गये वस्त्र ।



था और दिल्ली से जो भी अधिकारी आता उसके पास फटकने न पाता। उन्होंने मच्छी भवन के पास दो और इमारतें बना ली थीं जिनमें से एक का नाम 'मुबारक महल' था और दूसरी का नाम 'पंच महल' था। पंच महल के बारे में कोई कहता है कि पांच मंजिला इमारत थी और कोई कहता है कि एक दूसरे के पास पांच महल बने हुए थे और उनके दक्षिण में एक बड़ा मेहराबदार फाटक था जो 'शेखन दरवाजा' कहलाता था। शहर से जो लोग शेखजादों की इन इमारतों में जाना चाहते उसी फाटक में से होकर गुजरते थे।

इस फाटक के मेहराब में बांके शेखजादों ने एक नंगी तलवार लटका रखी थी और हुक्म था कि जो कोई यहां आना चाहे कोई हो और कितना ही बड़ा शख्स हो पहले उस तलवार को झुककर सलाम करे, फिर आगे कदम बढ़ाए। किसी की मजाल थी कि इस हुक्म की तामील में संकोच करे? यहां तक कि जो शासक दिल्ली से नियुक्त होकर आते थे और शेखों से मिलने जाते तो उन्हें भी जबरदस्ती उस तलवार के आगे जरूर सिर झुका देना पड़ता था।

लखनऊ की यह हालत थी कि 1732 ई० में नवाब सआदत खां बुरहान-उल-मुल्क दिल्ली दरबार से अवध के सूबेदार नियुक्त होकर आये जिनसे हिंदुस्तान के इस आखिरी पूर्वी दरबार की बुनियाद पड़ी जिसके उत्कर्ष को हम पूर्वी संस्कृति का अंतिम नमूना मानकर चलना चाहते हैं। पहले हमने फ़ैजाबाद का वर्णन किया जो इसी संस्कृति का पहला चिह्न और इसी पूर्वी लखनवी दरबार का एक परिशिष्ट था। इस अंक में इस दरबार के क़ायम होने से पहले के लखनऊ का चित्रण किया और आगे कुछ अंकों में हम उस नैशापुरी परिवार के शासन का इतिहास प्रस्तुत करेंगे और उसके बाद दिखा-येंगे कि वह संस्कृति क्या और कैसी थी।

### [3]

नवाब बुरहान-उल-मुल्क छह बरस ही अवध और लखनऊ में रहने पाये थे कि 1735 ई० में नादिरशाह ने हिंदुस्तान पर हमला कर दिया और वे बड़े आग्रह के साथ दिल्ली बुलाये गये। उस उपद्रवकारी युग में जो घटनाएं घटीं उनका लखनऊ से कोई संबंध नहीं। लखनऊ में अपना सहायक और प्रति-



निधि बनाकर वे अपने भानजे और दामाद सफ़दरजंग को छोड़ गये थे। नादिर दिल्ली को लूट चुका था और क़त्ले आम करा चुका था मगर अभी वहीं था कि नवाब बुरहान-उल-मुल्क का दिल्ली में निधन हो गया। उनके भतीजे शेरजंग ने नादिरशाह से सिफ़ारिश उठवाई कि नवाब के बाद अवध की सूबेदारी उन्हें दी जाये लेकिन राजा लक्ष्मी नारायण ने जो बुरहान-उल-मुल्क के विश्वासपात्र ओहदेदारों में था, नादिर की सेवा में इस आशय का एक प्रार्थनापत्र भेजा कि, 'नवाब बुरहान-उल-मुल्क शेरजंग से खुश न थे और इसी-लिए उन्होंने अपनी बेटी उनको छोड़कर सफ़दरजंग को दी। वे उनका प्रति-निधित्व करते थे और इस वक़्त भी उनकी तरफ से वहां मौजूद हैं। बुरहान-उल-मुल्क के मालग्रसबाब की मालिक सरकार है जिसे चाहे दे, इसलिए कि यह कोई विरसा नहीं है। यह भी निवेदन है कि सफ़दरजंग गंभीर स्वभाव, ईश्वरभक्त, योग्य और वायदे के सच्चे हैं और फ़ौज उनसे खुश है। इसके अलावा हुज़ूर के लिए बुरहान-उल-मुल्क ने दो करोड़ रुपये की रक़म का वायदा किया था उसके अदा करने का इंतज़ाम सफ़दरजंग ने कर लिया है। जिस समय हुक्म हो हाज़िर किये जायें। इन्हीं बातों के कारण आशा है कि हुज़ूर उन्हीं की सिफ़ारिश करेंगे।'।

यह आवेदन देखते ही नादिरशाह ने सफ़दरजंग के लिए मुहम्मद शाह से खुद ही सूबेदार का खिलअत ले लिया और अपने एक मुसाहिब और सौ सवारों के साथ अवध में सफ़दरजंग के पास भेजे। यों सूबेदारी का खिलअत पहनकर सफ़दरजंग ने वह दो करोड़ का नज़राना नादिर के पास भिजवा दिया और अपने इलाक़े पर हुक्मूत करने लगे।

सफ़दरजंग का पूरा नाम मिर्जा सकीम अबुलमंसूर खां सफ़दरजंग था। गो इनमें बुरहान-उल-मुल्क की-सी सच्ची बहादुरी, सादगी, ईमानदारी और उद्यमशीलता न थी मगर वे बहुत ही दानवीर, साहसी, दयालु, प्रजा का ध्यान रखने वाले और अच्छे शासक थे। शहर से तीन मील की दूरी पर उन्होंने जलालाबाद का क़िला बनवाया और मच्छी भवन के अंदर पंच महल की जो पुरानी इमारत थी उसे भी शेखज़ादों से ले लिया और उसके एवज में दो गांवों में 700 एकड़ ज़मीन शेखज़ादों को रहने और बसने के लिए प्रदान की जिससे हालांकि शेखज़ादों पर जुल्म हुआ मगर लखनऊ की आबादी की तरक्की हुई और उसका विस्तार भी। मच्छी भवन को सफ़दरजंग ने दुबारा बनवाया



और उसे बेहतर कर लिया ।

लेकिन सफ़दरजंग पांच ही वरस अपने सूबे में रहने पाये थे कि दिल्ली से उनका बुलावा आया और राजा नवल राय को अपना प्रतिनिधि बनाकर लखनऊ में छोड़कर वे दिल्ली चले गये । नवल राय विद्याप्रेमी, समय का पाबंद, मेहनती, बहादुर और बहुत बड़ा शासक था । इसके साथ उसे खुदा ने अपने मालिक का-सा उत्साह और दानशीलता भी दी थी । उसने इरादा किया कि मच्छी भवन के सामने नदी पर एक पुल बनवाए । पायों की बुनियाद डालने के लिए गहरे कुएं खुदवाए लेकिन पाये बनना शुरू नहीं हुए थे कि अपने मालिक के बुलाने पर उसे एहमद खां बंगश के मुक़ाविले के लिए जाना पड़ा । इस अभियान में वह बड़ी ज़बरदस्त फ़ौज लेकर गया मगर मारा गया और पुल का काम जो छिड़ा था अधूरा रह गया ।

एहमद खां बंगश उस ज़माने का बड़ा पराक्रमी व्यक्ति था उसके मुक़ाविले के लिए बुरहान-उल-मुल्क की ज़रूरत थी । सफ़दरजंग उसके प्रतिद्वन्द्वी न हो सकते थे । नतीजा यह हुआ कि एहमद खां की और उसके साथ अफ़ग़ानों की ताकत बढ़ती गयी । सफ़दरजंग ने लाख हाथ-पांव मारे, खुद दिल्ली के शहंशाह को उसके मुक़ाविले पर लाकर खड़ा कर दिया, मगर उसका कुछ बिगाड़ न सके और उसके इशारे से हाफ़िज़ रहमत खां ने अवध के शहरों और कस्बों में लूट-मार शुरू कर दी । खैराबाद पर क़ब्ज़ा कर लिया और खुद एहमद खां बंगश का बेटा महमूद खां फ़ौज लेकर चला कि लखनऊ पर क़ब्ज़ा कर ले ।

1750 ई० में पठानों ने मलीहाबाद में अपना थाना कायम किया और 1751 ई० में महमूद खां का कोई रिश्तेदार बीस हजार फ़ौज लेकर लखनऊ की तरफ चला । शहर के बाहर पड़ाव डाला और अपना एक कोतवाल मुकर्रर करके शहर में भेजा लेकिन सफ़दरजंग के आदमियों से शहर खाली था । जो चंद थे भी पठानों के आने की खबर सुनकर भाग खड़े हुए और पठानों के कोतवाल ने शहर में आकर भ्रष्टाचार फैलाना शुरू कर दिया ।

उन दिनों लखनऊ के शेख़ज़ादों में सबसे ज्यादा प्रतिष्ठित और सम्मानित शेख़ मुइज़उद्दीन थे । वे अफ़ग़ानों के सरदार से शहर के बाहर जाकर मिले । उसी वक़्त किसी ने उससे जाकर शिकायत की कि शहरवाले आपके कोतवाल का अपमान करते हैं और कोई उसका हुक़म नहीं मानता । शेख़ मुइज़उद्दीन



बोले, 'क्या मजाल है कि कोई ऐसी गुस्ताखी करे। मैं जाता हूँ उपद्रवियों को दंड दूंगा।' यह कह कर वापस आये और सारे भाई-बंदों को बुलाकर कहा, 'पठानों की कथनी-कारनी का एतबार नहीं। बेहतर यह है कि हम नवाब सफ़्दरजंग का साथ दें और मुक्ताबिला करके पठानों को यहां से निकाल दें।' उसके बाद शेख मुइजउद्दीन ने घर का जेवर बेचकर फ़ौज जमा की और सारे शेखजादों को लेकर कोतवाल पर हमला किया। वह अपनी जान लेकर भागा और शेख साहब ने किसी मुग़ल को दरवारी लिबास पहनाकर अपने मकान में बिठा दिया और मनादी करा दी कि सफ़्दरजंग ने अपनी तरफ से इस मुग़ल को कोतवाल बनाकर भेजा है उसके साथ ही अली के नाम का एक हरा झंडा खड़ा किया और लोग उसके नीचे आ-आकर जमा होने लगे।

यह खबर सुनकर पठानों ने हमला कर दिया। शेखजादों ने जान तोड़कर मुक्ताबिला किया और अपनी पुरानी बहादुरी दिखा दी। पठान उस मुक्ताबिले को बर्दाश्त न कर सके। पंद्रह हजार फ़ौज के साथ भागे और मौका पाकर शेखजादों ने पठानों को सारे अब्दुल प्रांत से निकाल बाहर किया।

दो साल बाद जब अहमद खां बंगश से सुलह हो गयी तो 1753 ई० में नवाब सफ़्दरजंग फिर लखनऊ आये और मेहदी घाट पर आकर ठहरे। एक खास मकान अपने रहने के लिए बनवाया और सजाया और फ़ौज के सुधार में व्यस्त हो गये लेकिन उसकी मोहलत न मिली। उसी साल सुल्तानपुर के करीब पापड़घाट में पड़ाव था कि उनका निधन हो गया। लाश पहले फ़ौजावाद की गुलाब बाड़ी में ले जाकर दफन की गयी, फिर थोड़े दिनों बाद हड्डियां दिल्ली में ले जाकर दफन की गयीं जिन पर बहुत ही शानदार मक़बिरा मौजूद है। संसार के पर्यटक उसे आज तक आदर की दृष्टि से देखते हैं।

#### [4]

सफ़्दरजंग मंसूर अली खां के देहांत के बाद 1753 ई० में उनके बेटे नवाब शुजाउद्दौला गद्दी नशीन हुए जिनके कुछ हालात इस लेख के पहले हिस्से में दिये जा चुके हैं। वे एक धीरोद्धत, चंचल स्वभाव लेकिन साहसी शासक थे। लेकिन दुर्भाग्य से उनके शासन-काल में बड़े-बड़े उपद्रव और भगड़े



फ़िसाद हुए। दुनिया की दो ज़बरदस्त ऐतिहासिक जातियों और शक्तियों के भाग्य का निर्णय उन्हीं की आंखों के सामने हुआ। पहले पानीपत की भयानक लड़ाई हुई जिसमें एहमद शाह दुर्रानी, शुजाउद्दौला और नजीबउद्दौला के साथ रूहेलखंड के पठानों की तमाम ज़बरदस्त फ़ौजें एक तरफ थीं और मराठों का टिड्डी दल दूसरी तरफ। उसके बाद बक्सर में घमासान युद्ध हुआ जिसमें अंग्रेजों की बाक्रायदा फ़ौज एक तरफ थी और शुजाउद्दौला का भारी लश्कर दूसरी तरफ। इस लड़ाई ने पानीपत की लड़ाई के चार साल बाद 1763 ई० में चौबीस घंटे के अंदर इस बात का फैसला कर दिया कि हिंदुस्तान अब मुसलमानों का नहीं अंग्रेजों का है।

इन लड़ाइयों से पहले शुजाउद्दौला हालांकि लखनऊ ही में रहे मगर बड़े-बड़े अभियानों, राजनीतिक व्यस्तताओं और सैनिक हथियारों से उन्हें इतनी मोहलत ही न मिली कि शहर की तरक्की और सजावट की तरफ ध्यान दें। उन्होंने क़िले बनवाए, गढ़ियां कायम कीं, फ़ौजी सामान और लड़ाई के हथियार जुटाए, इसकी फुर्सत न मिली कि अपने घर को दुरुस्त और अपने शहर को सजाएं। बक्सर की लड़ाई के बाद जैसा कि हम कह चुके हैं वे फ़ौजाबाद में जाकर बस गये इसलिए लखनऊ उनकी कृपा से वंचित रह गया। 1775 में उनकी मृत्यु हुई और नवाब आसफ़उद्दौला उनके उत्तराधिकारी बने।

आसफ़उद्दौला ने राजसिंहासन पर बैठते ही मां से नाराज़ होकर लखनऊ की राह ली और यही वह ज़माना है जब से अवध के दरबार की शासन-शक्ति घटने और लखनऊ की बाहरी रौनक बढ़ने लगी। बक्सर का मैदान जीतने के बाद अंग्रेजों ने अवध के दरबार में हस्तक्षेप के बहुत से अधिकार प्राप्त कर लिये थे जिनके कारण यहां फ़ौजी तरक्कियों की रोक-टोक की जाती और हमेशा बड़ी ग़ौर से इस बात की निगरानी की जाती कि अवध की हुकूमत को फिर ऐसी ताकत न मिल पाये कि उसकी फ़ौजें दुबारा अंग्रेज लश्कर के सामने खड़ी हो सकें। फिर भी शुजाउद्दौला जब तक फ़ौजाबाद में ज़िंदा रहे सेना के सुधार में ही व्यस्त रहे और रात-दिन इसी बात की धुन थी कि जिस तरह बने अपनी शक्ति को बढ़ाएं। चुनांचे मुंशी फ़ौज़ बख्श अपने इतिहास 'तारीख-ए-फ़रहबख्श' में इस ज़माने का आंखों देखा हाल बयान करते हैं, 'जल्दी भरने और फायर करने की दृष्टि से शुजाउद्दौला की फ़ौज की बंदूकों के मुकाबिले में अंग्रेज फ़ौज की बंदूकें कोई महत्व न रखती थीं।'



लेकिन आसफ़उद्दौला का युग शुरू होते ही ये सब बातें जाती रहीं। अंग्रेजों ने बड़ी होशियारी के साथ अपने हस्तक्षेप के अधिकार बढ़ाने शुरू कर दिये और बहुत ही चालाकी से आसफ़उद्दौला को इस बात के लिए राज़ी कर लिया कि सैनिक सुधार की ओर से बिल्कुल निश्चित होकर दूसरे कार्य-कलाप में दिल बहलाएं। आसफ़उद्दौला को खुद भी फ़ौज का ज्यादा शौक न था। उन्हें लुटाने और मजे उड़ाने के लिए रुपये की जरूरत थी जो फ़ौज को समाप्त किये बिना पूरी न हो सकती थी। इसलिए उन्होंने थोड़ी-सी फ़ौज रख ली, बाकी सबको नौकरी से हटा दिया और ऐश-इशरत में ग़र्क हो गये। वे अपने अपदस्थ मित्रों के आज्ञाकारी मित्र थे जो उनके इशारों पर चलते और उनके मशविरों के आगे किसी की न सुनते।

इस निष्ठा और स्नेह के बदले में अंग्रेजों ने रूहेलखंड पर उनका कब्ज़ा करा दिया। अपनी मां बहू बेगम साहबा के सताने और लूटने के लिए जब उन्होंने अंग्रेजों से मदद मांगी तो बड़ी उदारता के साथ उन्हें नैतिक सहायता दी गयी और उनका समर्थन किया गया। लेकिन इस पर भी उनके ज़माने तक उन्हें या लखनऊ की रिआया को बहुत ही कम महसूस हो सका कि हमारे शासन प्रबंध में किसी बाहरी शक्ति का हाथ है जिसका अधिकतर कारण यह था कि आसफ़उद्दौला की सामान्य उदारता और विलासिता ने सारी प्रजा को भी वैसा ही विलासी बना दिया था और किसी को अपने ऐश-आराम के आगे इस पर ध्यान देने की जरूरत महसूस न होती थी कि आखिर इसका नतीजा क्या निकलेगा।

इसी विलासिता का नतीजा था कि ज़ाहिरी तौर पर उन दिनों लखनऊ के दरबार में ऐसी शान-शौकत पैदा हो गयी जो कहीं और किसी दरबार में न थी। और भोग-विलास की ऐसी सामग्री जुटायी गयी जो अन्यत्र नहीं दिखाई देती थी। उन दिनों लखनऊ शहर की ऐसी रौनक थी कि हिंदुस्तान ही नहीं शायद दुनिया का कोई शहर लखनऊ के उत्कर्ष और उन्नति के सामने नहीं टिक सकता होगा। शुजाउद्दौला जो रुपया फ़ौज और लड़ाई की तैयारियों पर खर्च करते थे उसे आसफ़उद्दौला ने अपनी विलासिता की पूर्ति और नगर की सजावट तथा संपन्नता में खर्च करना शुरू कर दिया और कुछ ही दिन के अंदर सारी दुनिया की धूम-धाम अपने यहाँ जमा कर ली। उनका हौसला बस यही था कि निज़ाम हैदराबाद हों या टीपू सुल्तान, किसी दरबार का



दबदबा और किसी की शान-शौकत मेरे दरबार से ज्यादा न हो सके ।

अपने बेटे वज़ीर अली की शादी में उन्होंने ऐसा होसला दिखाया कि बरात का ठाठ-वाट इतिहास में और कहीं न देखा गया होगा । बरात के जुलूस में बारह सौ हाथी थे, दुलहा जो शाही खिलअत पहने था उसमें बीस लाख के जवाहिरात टंके हुए थे । नृत्य-गान की सभा के लिए दो बड़े ही शानदार और सुसज्जित शिविर बनवाये गये जिसमें हरेक 60 फुट चौड़ा, 1200 फुट लंबा और 60 फुट ऊंचा था । और उनमें ऐसा बढ़िया सुंदर और कीमती कपड़ा लगाया गया था कि उन दोनों की तैयारी में सल्तनत के दस लाख रुपये खर्च हो गये ।

उन्होंने नदी किनारे मच्छी भवन के पश्चिम में दौलतखाना, रूमी दरवाज़ा और अपना अनुपम इमामबाड़ा बनवाया । 1784 में अवध में अकाल पड़ गया था और शहर के शरीफ लोग तक भूखों मर रहे थे । उस नाजुक मौके पर प्रजा की सहायता के लिए इमामबाड़े की इमारत छोड़ दी गयी । चूंकि शरीफ लोग दिन को मजदूरी करने में अपनी बेइज्जती समझते थे इसलिए इमारत का काम दिन की तरह रात को भी जारी रहता और शहर के गरीब और फ़ाकाकश लोग रात के अंधेरे में आकर मजदूरों में शरीक हो जाते और मशालों की रोशनी में काम करते । इस इमारत को नवाब ने जिस निष्ठा, भक्ति और धार्मिक उत्साह के साथ बनवाया था वैसे ही शुद्ध और सच्चे उत्साह से लोगों ने बनाया भी । नतीजा यह हुआ कि ऐसी सुंदर और शानदार इमारत बनकर तैयार हो गयी जो अपनी किस्म की बेमिसाल और अद्भुत है । उसका नक्शा बनाने के लिए बड़े-बड़े मशहूर भूमिति-विज्ञ और शिल्पी बुलाये गये और सबने कोशिश की कि हमारा नक्शा दूसरों के प्रस्तावित नक्शे से बढ़ जाये । मगर क़िफ़ायत उल्लाह नामक एक बेमिसाल शिल्पी का नक्शा पसंद किया गया और उसी के अनुसार इमारत बनना शुरू हो गयी जो 167 फुट लंबी 53 फुट चौड़ी है । ईंट और बहुत ही बढ़िया किस्म के चूने से यह इमारत बनायी गयी जिसमें फ़र्श से छत तक लकड़ी का नाम नहीं । इस इमारत का मुग़ल बादशाहों की पत्थर की इमारतों से कोई संबंध नहीं है क्योंकि लखनऊ में इतना ज्यादा संगमरमर नहीं मिल सकता था । लेकिन इमामबाड़े और आसफ़-उद्दौला की दूसरी इमारतों को देखिए तो वे एक नयी सुंदरता और शान रखती हैं । इमामबाड़े के लदाव की छत जो कड़ा देकर बनायी गयी है इतनी बड़ी



है कि इतनी बड़ी लड़ाव की छत सारी दुनिया में कहीं नहीं है और इस वजह से इसकी भी दुनिया की आश्चर्यजनक कारीगरी में गिनती की जाती है।

आसफ़उद्दौला की इमारतों पर योरुप की इमारतों का ज़रा भी असर न था। वे अपनी क्रिस्म की खालिस एशियाई इमारतें हैं जिनमें दिखावटी नहीं असली और सच्ची शान-शौकत पायी जाती है। नवाब आसफ़उद्दौला के बाद इन इमारतों की किसी ने देखभाल नहीं की। ग़दर के बाद अंग्रेजों ने उन पर कब्ज़ा करके आसपास के मकानों को हटा दिया और सिवाय उस और के जिघर नदी है, बाक़ी तीनों ओर मैदान करके इमामबाड़े को क़िला और रूमी दरवाज़े को उसका फाटक बना लिया। उस ज़माने में इमामबाड़े में गोरे रहते थे, उसके बड़े हाल में अस्त्रागार था और उसके फर्श पर बड़ी-बड़ी तोपें दौड़ती फिरती थीं। मगर न कभी ज़मीन खुदी, न दरो-दीवार की कोई चीप उखड़ी। अब अंग्रेज सरकार ने इमामबाड़े को छोड़कर फिर मुसलमानों के हवाले कर दिया है। उसकी मस्जिद में एक मुज्जहिद साहब नवाज़ पढ़ाते हैं और इमामबाड़े में ताज़ियादारी होती है।

नवाब आसफ़उद्दौला की इमारतों की मज़बूती का अंदाज़ा इससे हो सकता है कि उन्हें बने हुए हालांकि सवा सौ बरस से ज़्यादा की मुद्दत गुज़र गयी मगर आज तक उसी शान-शौकत और उसी मज़बूती और पायदारी से अपनी जगह कायम हैं। न कोई ईंट अपनी जगह से हटी है और न किसी जगह चूने ने ईंटों को छोड़ा है। इसके ख़िलाफ़ अवध के दूसरे बादशाहों ने करोड़ों रुपये खर्च करके जो इमारतें बाद में बनवायीं उनमें हमारी देशी रख-रखाव की भलक तो ख़ैर है ही नहीं इसके अलावा वे बहुत कमज़ोर भी हैं। और अगर समय-समय पर उनकी मरम्मत न होती रहती तो आज तक कब की गिर चुकी होतीं।

आसफ़उद्दौला इमामबाड़े और मच्छी भवन के पास अपने महल 'दौलत-खाना' में रहते थे। शहर के बाहर और दरिया पार जनसंकुलता से दूर और सांसारिक भगड़ों से अलग रह कर विलासिता में तल्लीन रहने के लिए बिबयापुर का महल बनवाया। अक्सर जब वे सैर-शिकार के लिए जाते तो इसी मकान में ठहरते। इसी तरह चनहट में एक स्वास्थ्यप्रद और आनंददायक मकान और 'चार बाग़' और 'ऐश बाग़' में कोशकें बनवाईं और उसी ज़माने में याहियागंज में और उसके पास अस्तबल बने। फिर मुहल्ला बज़ीरगंज



क्रायम हुआ जो आसफ़उद्दौला के बेटे वज़ीर अली खां का निवास होने के कारण उन्हीं के नाम से मशहूर और उन्हीं की यादगार है।

अब चूँकि लखनऊ में शासक और अधिकारी सभी स्थायी रूप से रहने लगे इसलिए आम जनता का रुख लखनऊ की तरफ़ फिर गया। जो लोग शुजा-उद्दौला के ज़माने में फ़ैज़ाबाद में बस गये थे उन्होंने फ़ैज़ाबाद को छोड़-छोड़कर लखनऊ में आकर बसना शुरू किया। दूसरी तरफ़ दिल्ली के लोग अपनी जन्म भूमि छोड़-छोड़कर सीधे लखनऊ आते थे और उन्हें फिर वापस जाना नसीब न होता था। जनता के इस बढ़ते हुए जमघट ने नये मुहल्ले आबाद करना शुरू कर दिये इसलिए कि बाहर के आनेवालों में से जिसे जहाँ जगह मिल जाती आबाद हो जाता और सैकड़ों नये मुहल्ले आबाद होते चले जाते।

चुनांचे अमानीगंज, फ़तेहगंज, रकाबगंज, नरवास, दौलतगंज, बेगमगंज, खानसामां का अहाता (जिसे नवाब आसफ़उद्दौला के एक निजी दरोगा ने आबाद किया और उद्घाटन-समारोह में खुद उन्हें बुलाया), टिकेटगंज, टिकेटराय का बाज़ार (जो प्रधान मंत्री महाराजा टिकेट राय के नाम पर है), तरमनीगंज, टिकरी या टिकली, हसीनउद्दीन खां की छावनी, हसनगंज बावली, भवानीगंज, वालकगंज, कश्मीरी मुहल्ला, सूरत सिंह का अहाता, नवाज़गंज, तहसीनगंज, खुदागंज, नगरिया (जिसकी नवाब आसफ़उद्दौला की मां वही बेगम साहिबा ने उसी दिन बुनियाद डाली जिस दिन दरिया पार खुद उन्होंने अलीगंज की बुनियाद रखी थी), अंबरगंज, महबूबगंज, तोप दरवाजा, खयालीगंज, भाऊलाल का पुल (इन दोनों मुहल्लों के संस्थापक राजा भाऊमल अवध राज्य के वित्त मंत्री थे) ये सब वे मुहल्ले हैं जो आसफ़उद्दौला के शासन-काल में बसे और बने और उन्हीं दिनों दरिया के पार हसन रज़ा खां ने हसनगंज बसाया।

नवाब आसफ़उद्दौला की दरियादिली की सभी में शोहरत थी और दूर-दूर के शहरों में उनकी दानशीलता की चर्चा होती थी। लोग उठते-बैठते इज़्ज़त और मुहब्बत के साथ उनका नाम लेते और उनके सारे वैयक्तिक अव-गुण उनकी दानवीरता के आवरण में छिपकर नज़रों से ओझल हो गये थे। जनता को नवाब की सूरत में एक विलासी शासक नहीं बल्कि एक निस्वार्थ और संत-स्वभाव वाली दिखाई देता। हिंदू दुकानदार आज तक सुबह को आख़ खुलते ही श्रद्धावश कहते हैं 'या आसफ़उद्दौला वली।'।

इसी ज़माने में जनरल क्लाड मार्टिन नामक एक बहुत बड़ा धनवान



फ्रांसीसी व्यापारी जो लखनऊ में आकर रह पड़ा था उसने एक बहुत ही आली-शान कोठी का नक्शा बनाकर नवाब आसफ़उद्दौला के हुज़ूर में पेश किया। नवाब को वह इतना पसंद आया कि उसकी कीमत में दस लाख अशरफ़ियां देने को तैयार हो गये। अभी वयनामे की कार्रवाई पूरी हो भी न पायी थी कि नवाब आसफ़उद्दौला का निधन हो गया और इमारत अभी पूरी भी न हो पायी थी कि खुद मोस्यो मार्टिन दुनिया से कूच कर गये। उन्होंने चूंकि अपार धन छोड़ा था और वारिस कोई न था इसलिए मरते समय वसीयत कर दी कि मेरी लाश इसी कोठी के अंदर दफन की जाये ताकि मेरे बाद उसे अवध के शासक जन्त न कर सकें। इस इमारत का नाम उन्होंने 'कांस्टेंशिया' रखा था मगर जनता में वह आजकल 'मारकीन साहब की कोठी' मशहूर है और दर्शनीय है। मरने के बाद वे इसी कोठी में दफन हुए। वह मदरसा आज तक जारी है जिससे बहुत से विद्यार्थियों को खाना और कपड़ा मिलता है। मगर सुनते हैं कि मार्टिन साहब ने इस स्कूल और इसकी छात्रवृत्तियों को किसी धर्म या जाति विशेष के लिए सीमित नहीं किया था बल्कि वसीयत की थी कि ईसाई, हिंदू, मुसलमान सभी समान रूप से इससे लाभ उठा सकते हैं। लेकिन अब यह स्कूल सिर्फ योरूपियन बच्चों के लिए सीमित है। किसी हिंदुस्तानी को वजीफ़ा मिलना तो दरकिनार वह वहां शिक्षा भी प्राप्त नहीं कर सकता। शायद यह इस वजह से हो कि ग़दर के जमाने में जाहिल और जोशीले बलवाइयों ने क्रूर खोद कर मि० मार्टिन की हड्डियां निकाल लीं और उन्हें इधर-उधर फेंक दिया। अंग्रेजों को उनके आधिपत्य के बाद एक हड्डी संयोगवश मिल गयी जो फिर उसी मिट्टी में दबा दी गयी। लेकिन इन बलवाइयों के काम के ज़िम्मेदार ग्राम हिंदुस्तानी नहीं हो सकते।

सन 1798 ई० में नवाब आसफ़उद्दौला का देहांत हुआ और उनकी जगह नवाब वज़ीर अली खा गद्दीनशीन हुए जिनकी शादी की धूमधाम का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। मगर चार ही महीने में ऐसे मूर्खतापूर्ण और घृणित काम कर बैठे कि अधिकतर लोग उनसे नाराज़ हो गये। खुद बहू बेगम साहबा उनके मुक़ाबिले में अपने सौतेले बेटे यामीनउद्दौला नवाब सम्राटअली खां को ज्यादा पसंद करती थीं। उधर यह खबर फैली कि वज़ीर अली खां आसफ़-उद्दौला के बेटे ही नहीं हैं नयोंकि आसफ़उद्दौला के बारे में बहुतों का ख्याल था कि पैदाइशी नपुंसक थे।



नवाब सआदतअली खां आसफ़उद्दौला के विरोध के कारण उनके समय में मुद्दतों उनके राज्य से बाहर और दूर रहते थे। मुद्दतों कलकत्ते में रहे और एक लंबे अर्से तक बनारस में क़ायम रहे। जब वज़ीर अली खां के बारे में यह विचार क़ायम हो गया तो फिर सआदतअली खां पर दृष्टि गयी और वे बनारस से लाये गये और बिबयापुर की कोठी में खुद गवर्नर जनरल बहादुर ने दरबार करके वज़ीर अली खां को अपदस्थ और नवाब सआदतअली खां को गद्दी पर बैठाने का फैसला किया। वज़ीर अली खां फ़ौरन गिरफ़्तार करके बनारस भेज दिये गये जहाँ उन्होंने तैश में आकर मि० चरी को मार डाला और उसकी सज़ा में गिरफ़्तार करके चिनारगढ़ भेजे गये और वहीं मरे। उनकी मुसीबतों और परेशानियों का एक बड़ा भारी किस्सा मशहूर है जिसका वर्णन इस संक्षिप्त लेख में नहीं किया जा सकता।

## [5]

नवाब सआदतअली खां ने सन् 1798 ई० में गद्दी पर बैठते ही आघा प्रांत अंग्रेजों को भेंट कर दिया। मशहूर है कि वे राज्य मिलने की आशा छोड़कर बनारस में पड़े हुए थे कि खबर पहुंची नवाब आसफ़उद्दौला बहादुर की मृत्यु हो गयी और राजसिंहासन पर वज़ीर अली खां बैठ गये। यह सुनते ही राज्य पाने की रही-सही उम्मीदों पर भी पानी फिर गया। इसी निराशा की स्थिति में थे कि बनारस के किसी योरुपियन अधिकारी ने आकर पूछा, 'नवाब साहब, अगर आपको अवध की हुकूमत मिल जाये तो अंग्रेज सरकार को क्या दीजिएगा?' जो चीज़ हाथ से जा चुकी हो इंसान के दिल में उसकी कद्र ही क्या हो सकती है? अनायास बोल उठे, 'आघा मुल्क अंग्रेजों की नज़र कर दूंगा'। यह वायदा सुनकर उस अंग्रेज अधिकारी ने कहा, 'तो आप खुश हों और मैं आपको खुशख़बरी सुनाता हूँ कि आप ही को लखनऊ का शासक चुना गया है।' सआदतअली खां अचानक यह खुशख़बरी सुनकर खुश तो जरूर हुए मगर अपने वायदे का ख़्याल आया तो एक सन्नाटे में आ गये और आखिर गद्दी पर बैठने के बाद इस वायदे को पूरा करने में अपना आघा राज्य बांट देना पड़ा जिसका काँटा ज़िदगी भर उनके दिल में खटकता रहा।



अंग्रेजी इतिहासों में उनसे वचन लिया जाने का तो जिक्र नहीं है मगर इसे सभी मानते हैं कि नवाब सआदतअली खां को चूँकि अंग्रेजों ने तख्त पर बिठाया था इसलिए उन्होंने अपना आधा राज्य आभारस्वरूप अंग्रेजों की भेंट कर दिया। बहरहाल कुछ भी हो सआदतअली खां की गद्दीनशीनी के वक्त अवध का राज्य आधा रह गया। लखनऊ के पुराने लोगों में मशहूर है कि इसी दुख में सआदतअली खां ने बहुत ही मितव्ययिता से काम लेकर और माल-गुजारी वसूल करने में बड़ी कुशलता और सूझबूझ जाहिर करके बाईस-तेईस करोड़ रुपया जमा किया और इंग्लैंड में ब्रिटिश सरकार से पत्र-व्यवहार करके यह तय कर लिया था कि हिंदुस्तान की हुकूमत का ठेका ईस्ट इंडिया कंपनी के बजाये उन्हें दे दिया जाये और करार की पूर्ति होने ही को थी कि उनके साले ने किसी साजिश में शामिल होकर उन्हें जहर दे दिया और वही कहावत चरितार्थ हुई : न रहेगा वांस और न बजेगी वांसरी।

और इसी प्रकार की अनेक घटनाएं मशहूर हैं जिनका सबूत सिवाय अफ-वाहों के और कुछ नहीं मिल सकता। लेकिन इसमें शक नहीं कि सआदतअली खां इतने मितव्ययी और अच्छे शासक थे कि उन जैसे शासक ने अपने राज्य का कोई हिस्सा आसानी से न दिया होगा। दूसरे, उनके रवैये और नीति में एक ऐसी अस्थिरता और रहस्यमयी व्याकुलता दिखाई देती है कि चाहे पता न चले मगर साफ़ मालूम होता है कि वे कोई बड़ा काम करनेवाले थे और उनके तेवर बड़े सार्थक थे।

प्रांत को वांट देने की वजह से उन्हें सबसे बड़ी मुश्किल यह पेश आयी कि राज्य की आधी आमदनी घट गयी। और आसफ़उद्दौला ने खर्च हद से ज्यादा बढ़ा रखे थे। चुनावे उन्हें दरबार के खर्च घटाना पड़े जो अपने में बड़ा मुश्किल काम था। इस कोशिश में उन्होंने हिसाब की जांच की, छोटी-छोटी रकमों पर नज़र डाली, माफ़ियों और जागीरों की बहुत ही सख्ती के साथ छानबीन की और दरबार के खर्च में, जहाँ तक बना, कमी की। गरज़ यह कि जिस तरह से हो सका बदनामियां उठाकर और लोगों पर सख्तियां करके उन्होंने सल्तनत की आमदनी बढ़ायी और खर्च घटाया।

ये कार्रवाइयां देखकर समझदार और इंसाफ़पसंद लोग तो सआदतअली खां की योग्यता और सूझबूझ के कायल हो गये मगर आम जनता में बड़ी सख्त नाराजगी फैली। एक ओर तो उन माफ़ीदारों और जागीरदारों का गिरोह



शिकायत करता था जिनकी जायदादें जव्त हुई थीं, दूसरी ओर वे फ़ालतू और पुराने नौकर रोते-फिरते थे जिनकी जगहें कम कर दी गयी थीं। इतना ही नहीं प्रांत में एक बड़ा भारी गिरोह उन लोगों का भी था जो वजीर अली खां के समर्थक थे। उनको राज्य का जाइज़ और सच्चा हक़दार मानते थे और सम्राटअली खां को लुटेरा बताते थे। कहना चाहिए कि देश में हज़ारों दुश्मन थे जिनसे खतरा था कि नवाब की जान पर हमला न कर बैठें। रिआया के अलावा फ़ौज भी नये नवाब से बहुत नाराज़ थी। वेशुमार फ़ौज का टिड्डी दल जो नवाब शुजाउद्दौला के समय में था उसमें आसफ़उद्दौला ही के ज़माने से अंग्रेज़ सरकार की सलाह से कमी शुरू हो गयी थी। मगर आसफ़-उद्दौला की दानशीलता और फ़िज़ूलखर्ची के कारण वे बहलते रहे और शिकायत की आवाज़ ज़्यादा न उभर सकी। सम्राटअली खां ने जब ज़्यादा छंटनी की और उसके साथ खुद भी मितव्ययिता बरती तो हर तरफ हाय-हाय पड़ गयी और जो था उनकी जान को रो रहा था।

नतीजा यह हुआ कि उनकी जान की हिफ़ाज़त के लिए अंग्रेज़ सरकार को ज़रूरत महसूस हुई कि एक बाज़ाब्ता अंग्रेज़ फ़ौजी गार्ड खास शहर के अंदर रखा जाये क्योंकि शहर के दंगाइयों और विद्रोहियों को कुचलने के लिए और शांति तथा व्यवस्था बनाये रखने के उद्देश्य से एक बाहरी ज़बरदस्त शक्ति का हर वक्त शहर में रहना बहुत ही ज़रूरी था जिसके बारे में सुना जाता है कि नवाब सम्राटअली खां ने इस प्रस्ताव को बहुत ही अनिच्छा से मंज़ूर किया।

अवध के शासकों ने इससे पहले अपने रहने-सहने के बारे में बहुत ही सादगी जाहिर की थी। पहले तीन नवाबों यानी नवाब बुरहान-उल-मुल्क, नवाब सफ़दरजंग और नवाब शुजाउद्दौला ने जिन सादे मकानों में ज़िंदगी बसर की वे भी उनकी निजी मिल्कियत नहीं बल्कि किराये पर थे। उन्होंने अपना असली मकान या तो जंग के मैदान को माना या सारे राज्य को जिसमें वे दौरा करते रहते और सारी ज़मीन के हर हिस्से को अपना मकान ही समझते रहे। नवाब आसफ़उद्दौला बहुत व्यस्त थे, ऐयाशी और फ़िज़ूलखर्ची में बदनाम थे, मगर उनके लिए भी सिर्फ़ एक सादा, पुराने ढंग का मकान यानी पंच महला काफ़ी था, हालांकि उन्हें इमारत का बड़ा शौक था। इससे ज़्यादा क्या होगा कि बीस लाख रुपये एक इमामबाड़े और मस्जिद के बनवाने में खर्च कर



दिये और उससे ज्यादा ही रकम चौक, विभिन्न बाजारों, मंडियों, पुलों और सरायों आदि के निर्माण में खर्च की। गरज यह कि पहले तीन शासकों का इमारतों का शौक अगर किलों, गढ़ियों के निर्माण और फौजी सामान के जुटाने में पूरा होता था तो आसफ़उद्दौला का शौक मजहबी इमारतों या लोक-हित के कामों में। इसके साथ इमारतें बनवाने का पुराना शौक भी अब तक निभता चला जाता था। आसफ़उद्दौला के इमामबाड़े तक की इमारतें पुराने स्थापत्य का नमूना हैं। दिल्ली और आगरा में शाहजहां बादशाह को उच्चकोटि का संगमरमर और संगे सुर्ख करीब की खानों में मिल गया था जिसने वहां की इमारतों में खास तरह की नफासत और शान पैदा कर दी। लखनऊ में पत्थर का मिलना नामुमकिन था और आगरा या जयपुर से लाना इतना दूभर था कि किसी को मंगवाने का साहस न हो सकता था। आसफ़उद्दौला ने ईंट और चूने से वही काम लिया और वैसे ही शानदारी दिखा दी।

नवाब सआदतअली खां को मितव्ययिता, कंजूसी और रुपया जमा करने की हवस के वावजूद मकानों और इमारतों का शौक था। मगर अफ़सोस उनका यह शौक कलकत्ता में रहने और जगह-जगह की इमारतों के देखने से ऐसा खत्म हुआ कि उनके जमाने की इमारतों से वे पुरानी विशेषताएं समाप्त हो गयीं और तब से मानो स्थापत्य-कला का स्तर ही बदल गया।

लखनऊ में इमारत-संबंधी इस तब्दीली का असली कारण गद्दीनशीनी से पहले नवाब सआदतअली खां का अन्य प्रांतों में रहना, खानाबदोशी और योरु-पियन जातियों से मिलना-जुलना था और ज्यादातर यह चीज थी कि जनरल माटिन ने अपनी रुचि की दो-एक कोठियां बनवा कर स्थापत्य की एक नयी शैली नवाबों के सामने पेश कर दी जो मजबूती की दृष्टि से बेकार और जिदगी की जरूरतों के लिहाज से बहुत ही आकर्षक थी। इन इमारतों की हालत बिल्कुल उन खिलौनों की-सी थी जो बच्चों के हाथ में दिये जाते हैं और रोज़ टूटते और नये खरीदे जाते हैं। योरुप के आलोचक आलोचना करते समय बड़े जोर-शोर से एतराज करते हैं कि आसफ़उद्दौला के दादवाले लखनऊ के नवाबों की इमारतें बनाने की रुचि बिल्कुल भ्रष्ट हो गयी थी और उनकी तमाम इमारतें लड़कों के खिलौनों या लड़कियों के घरोंदे हैं, मगर इधर ध्यान नहीं देते कि यह रुचि बिगाड़ी किसने? कहा जाता है कि यहां की राष्ट्रीय रुचि इसलिए बिगड़ गयी थी कि यहां दरअसल कोई जाति थी ही नहीं। और



इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता कि यहां की राष्ट्रीयता को बिगाड़ा किसने और किसकी कारस्तानियों ने लोगों से उनकी पुरानी रीति छुड़ा दी ? सच यह है कि यह सब कुछ उन्हीं का किया-धरा था ।

सम्राटअली खां ने पहले फ़रहान बख्श की कोठी पचास हजार रुपये पर जनरल मार्टिन से मोल ली, उसी में रहना शुरू किया और उसके आसपास और कई मकान बनवाये । फिर वहां से करीब ही रेजीडेंट साहब के रहने के लिए टेढ़ी कोठी बनवायी जिसके खंडहर रेजीडेंसी के अंदर पड़े हुए हैं । उसके बाद अपने दरबार के लिए उन्होंने लाल बरहदरी बनवायी जिसमें अब लायब्रेरी है और उन दिनों 'क़स्र-उल-मुल्तान' के नाम से मशहूर थी । इसके अलावा दरिया पार उन्होंने 'दिल आराम' नामक एक नयी कोठी बनवायी और उसी सिल-सिले में एक बुलंद टेकरे पर जो अब सदर यानी लखनऊ की फ़ौजी छावनी के इलाके में स्थित है और जहां सारे शहर, गिर्द के मैदान और नदी का सुंदर दृश्य आंखों के सामने आ जाता है एक खूबसूरत कोठी बनवायी और 'दिलकुश' उसका नाम रखा । इसी तरह एक और कोठी बनवायी जिसका नाम 'हयात-बख्श' रखा । मगर उस कोठी का नवाब सम्राटअली खां के बाद के अवध नरेशों ने इस्तेमाल नहीं किया । उसमें ग़दर से पहले मेजर बैंक रहते थे और ग़दर के बाद यह आम रिवाज था कि अंग्रेज सरकार की ओर से जो भी प्रतिष्ठित योद्धियन अवध के चीफ़ कमिश्नर होकर आते उसी कोठी में आकर रहते ।

ऊपर लिखी कोठियों के अलावा नवाब ने मशहूर इमारतें 'मुनवरबख्श' और 'खुरशीद मंजिल' भी बनवायीं और चोपड़ा का अस्तबल भी इन्हीं की यादगार है । मगर इन सब इमारतों के निर्माण में अपनी पुरानी देशी रीति छोड़ दी गयी और योरोप से आयी हुई नयी शैली अपनायी गयी और ज़ाहिर है कि इस संबंध में लखनऊ का कोई पुराना मकान इन नयी, आलीशान इमारतों का मुकाबिलान कर सकता था जो खुद ब्रिटिश सरकार के प्रभाव और प्रबंध से हिंदुस्तान के विभिन्न शहरों में बन चुकी हैं या दिन-ब-दिन बनती जाती हैं । ग़रज यही ज़माना है जब से लखनऊ में उन पुरानी रूचि की इमारतों का खात्मा हो गया जिनका ऐतिहासिक महत्व हो और जो अपनी किसी विशेषता के कारण पर्यटकों को अपनी ओर आकृष्ट करें ।

नवाब सम्राटअली खां ने लखनऊ के पश्चिमी भाग में एक बड़ा गंज



वनवाया और उसकी आवादी और रौनक के लिए ऐसा इंतजाम किया कि उसके लिए खास कानून बनाये गये और व्यापारियों तथा दुकानदारों को खास तरह के अधिकार दिये गये। उसने बड़ी रौनक पायी और आज तक इस बात के बावजूद कि वह शहर की आवादी से दूर और बिल्कुल अलग स्थित है, विभिन्न वस्तुओं की सबसे बड़ी मंडी है और आलम नगर का स्टेशन सिर्फ उसी की वजह से रोज-बरोज तरक्की पाता जाता है।

सम्राटगंज के अलावा दूसरे बड़े बाजार जो नवाब साहब के समय में कायम हुए और आवाद भी हुए ये हैं : रकावगंज (जो आज लोहे की सबसे बड़ी और अनाज वगैरा की एक प्रमुख मंडी है), जंगलीगंज, मकबूलगंज, मौलवीगंज, गोलागंज और रस्तोगी मुहल्ला। मोती महल में जो असली और पुरानी इमारत है वह भी नवाब सम्राटअली खां की बनवायी हुई है। यह इमारत मौजूदा मोती महल के अहाते में उत्तर की ओर स्थित है। इसमें बहुत ही सुंदर सफेद गुंबद था जिसमें कारीगर ने मोती की-सी आबो-ताब पैदा कर दी थी।

सम्राटअली खां अवध के सभी नवाबों से ज्यादा बुद्धिमान, राजनीतिज्ञ और इसके साथ बहुत ही मितव्ययी बल्कि कंजूस माने जाते हैं। प्रांत का शासन प्रबंध उन्होंने आसाधारण योग्यता और चतुरता से किया और इसमें कोई संदेह नहीं कि अगर उन्हें अपने शासन-काल के अंत तक पूरी तरह संतोष मिल जाता तो पिछली सारी बुराइयां दूर हो जातीं और वे प्रांत का अच्छी तरह सुधार कर पाते। लेकिन खराबी यह हुई कि ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ उनके संबंध अच्छे नहीं रहे। यहां तक कि कभी-कभी उनका मन राजसिंहासन तथा शासन आदि से भी खट्टा हो गया। इन्हीं बातों से तंग आकर उन्होंने आधे से ज्यादा राज्य महान ब्रिटिश सरकार के सुपुर्द कर दिया और समझे कि अब मैं अपने इलाके में जहां मेरा राज्य है बिना किसी भिन्नक के शासन कर सकूंगा, लेकिन अफसोस कि अब भी उन्हें चैन न मिला। जो प्रांत उनके अधिकार में छोड़ा गया था उसमें भी जगह-जगह अंग्रेज फौज के कैंप कायम किये गये और उनमें से अधिकतर लखनऊ और उसके आसपास ही बनाये गये। उन फौजों की देखभाल भी मुश्किल थी और उनकी संख्या अधिक होने के कारण राज्य पर भारी बोझ पड़ गया था और नतीजे में उन्हें अपनी बहुत-सी फौज घटा देनी पड़ी।



लेकिन इन चिंताओं और परेशानियों के बावजूद उन्होंने जो-जो सुधार किये वे भी बहुत प्रशंसनीय हैं। मगर सबसे अजीब यह बात है कि बाजारों की तरक्की और व्यापार को प्रोत्साहन देने के साथ-साथ उनके दरबार में गुणी और प्रतिष्ठित लोगों का इतना बड़ा जमाव था कि उस समय हिंदुस्तान के और किसी दरबार में ऐसे वाकमाल लोग न नज़र आ सकते थे। ऐसे लोग अक्सर उसी जगह जमा हुआ करते हैं जहां के रईस आम लोगों की अपेक्षा ज्यादा उदारता और दानशीलता प्रकट करते हैं। सम्राटअली खां, जैसा कि हम बयान कर चुके हैं, मितव्ययी और कंजूस थे मगर उस कंजूसी और मितव्ययिता के साथ उनमें यह गुण भी था कि उनकी वैयक्तिक योग्यता दूसरे व्यक्तियों की योग्यता को स्वीकार करने पर मजबूर हो जाती थी और इसी बात ने उनके हाथों से लायक लोगों की कद्र करायी और लखनऊ पहले से ज्यादा वाकमाल लोगों का केंद्र बन गया। जो क़ाबिल आदमी जहां होता सम्राटअली खां की कद्रदानी की शोहरत सुनते ही अपना बतन छोड़ कर लखनऊ का रुख करता और यहां ऐसा आराम पाता कि फिर कभी अपने घर जाने का नाम न लेता।

सन 1814 ई० में नवाब सम्राटअली खां की मृत्यु हुई और उनके बेटे गाज़ीउद्दीन हैदर राजगद्दी पर बैठे। क़ैसर बाग की वर्गीकार इमारत के अंदर नवाब सम्राटअली खां और उनकी बीवी मुर्शिदाबादी के मकबरे हैं। इन दोनों मकबरों की जगह एक मकान था जिसमें नवाब गाज़ीउद्दीन हैदर उस समय रहा करते थे जब वे युवराज थे। बाप की आंखें बंद होते ही जब वे राजमहल में गये तो कहा, "मैंने वालिद का घर लिया तो जरूर है कि अपना मकान उन्हें रहने को दे दूं।" इस खयाल के मुताबिक मरहूम नवाब को अपने घर में दफन कराया और पुराना मकान ढहाकर ये मकबरे बनवाये।

अब गाज़ीउद्दीन हैदर के समय में न बाप की-सी सूझबूझ और दौलत की कद्र थी और न पिछले शासकों की-सी फ़ौजी सरगर्मी। हां आसफ़उद्दौला के जमाने की-सी आराम-तलबी और ऐशपरस्ती जरूर थी। मगर उसमें भी यह फ़र्क आ गया था कि आसफ़उद्दौला की फ़िज़ूलखर्ची भी देश तथा जनता को लाभ पहुंचाने के लिए होती थी और अब सिर्फ़ स्वार्थपरता के लिए होती थी।

गाज़ीउद्दीन हैदर को बाप का जमा किया हुआ करोड़ों रुपयों का नक़द खजाना मिल गया था जो शाही शौक के पूरा होने में बड़ी दरियादिली से



उड़ने लगा। मोती महल में, हम कह आये हैं कि, उत्तर की ओर सम्राटअली खां ने एक कोठी बनवायी थी, गाज़ीउद्दीन हैदर ने उस अहाते में दो और कोठियां बनवायी जिनके नाम, “मुबारक मंज़िल” और “शाह मंज़िल” रखे गये। शाह मंज़िल के पास ही किश्तियों का एक पुल था और मुबारक मंज़िल उसके पूर्व में थी। शाह मंज़िल के सामने नदी के पार एक चरागाह थी जो हज़ारी बाग के नाम से जानी जाती थी और उसमें मीलों तक सुखद बगीचा चला गया था। उसमें अक्सर मस्त हाथी, गैंडे और जंगली जानवर लड़ाए जाते और बादशाह उस पार शाह मंज़िल के कोठे पर बैठकर उनकी लड़ाई का तमाशा देखा करते थे। शेरों की लड़ाई भी वहीं होती जिसके लिए मज़बूत कटहरे और एक बड़िया सर्कस बना हुआ था। मगर जो छोटे नुक्सान न पहुंचानेवाले जानवर लड़ाए जाते उनकी लड़ाई खास शाह मंज़िल के अहाते में इसी पार होती थी।

ये दरिदों और जंगली जानवरों के लड़ाने का शौक हिंदुस्तान में यहां से पहले और कहीं नहीं सुना गया। मालूम होता है कि रेजिडेंटों और दरबार में आने-जानेवाले योरूपियनों से रोमियों के एंफ्री थियेटर के हालात सुनकर जहांपनाह के दिल में शौक पैदा हुआ मगर मौलाना हबीबुर्रहमान खां साहब शेखानी के बताने से हमें मालूम हुआ कि दरिदों की लड़ाई का रिवाज मुगलों के ज़माने से है।

गाज़ीउद्दीन हैदर ने अपनी एक योरूपियन बीबी के लिए विलायती महल बनवाया और उसका नाम विलायती बाग करार दिया। वहां से करीब ही कदम रसूल की इमारत बनवायी। गाज़ीउद्दीन हैदर की इच्छा के अनुसार अंग्रेज़ी दरबार से उन्हें बादशाह की उपाधि प्रदान की गयी। इससे पहले अवध के शासकों का पद मंत्री के समान समझा जाता था और सिवाय ‘नवाब’ के और कोई सम्मानित नाम या पद उन्हें नहीं दिया जाता था। उस ज़माने तक हिंदुस्तान में मुगल शहंशाहों की इतनी आन-बान बाक़ी थी कि यद्यपि देश स्वतंत्र था और विद्रोही शासकों में बंट गया था और दिल्ली के बादशाह के कब्जे में सिर्फ दिल्ली के आसपास की ज़मीन बाक़ी रह गयी थी, लेकिन इस बदहाली पर भी शहंशाह और जहांपनाह वही थे। न तो दिल्ली के सम्राटों के अलावा हिंदुस्तान में किसी को ‘बादशाह’ कहलाने का हक़ था और न खिताब या इज़्ज़त देने का। उनके इस गरूर को तोड़ने के लिए ईस्ट इंडिया



कंपनी ने ग़ाज़ीउद्दीन हैदर को जिन्होंने बाप के खजाने में से बहुत-सा रुपया अंग्रेज़ों को कर्ज़ दे दिया था, शाही का खिताब दिया और अवध दरबार ने इस सम्मान को बड़ी कद्र की निगाह से देखा। चूनांचे उस वक़्त से अवध के शासक जो रेज़िडेंटों के हाथों के खिलौने थे, बादशाह बन गये और अंतिम शासक बाज़िदग़ली शाह के मरने तक उनके कृपापात्र रहे।

ग़ाज़ीउद्दीन हैदर ने इसी शाही खिताब की यादगार में दरिया पार मच्छी भवन के सामने एक नया बाज़ार बसाया और उसका नाम बादशाहगंज रखा। इसी ज़माने में हकीम मेहदी ने मेहदीगंज आवाद किया और प्रधान मंत्री आगा मीर की शाही इमारात के दूर तक फैल जाने की वजह से ऐन बीष शहर में मुहल्ला 'आगा मीर की ड्योड़ी' कायम हुआ और उसी दौर में आगा मीर की सराय कायम हुई।

बादशाह की और उससे ज्यादा बादशाह बेगम की मज़हबी मामलों में बहुत ज्यादा दिलचस्पी थी। सफ़विया<sup>1</sup> खानदान के ज़माने से ईरान का मज़हब शीया इसना अशरी<sup>2</sup> था मगर हिंदुस्तान के आम मुसलमान सुन्नी थे। नवाब बुरहान-उल-मुल्क चूँकि विलायत से नये आये थे इसलिए उनका और उनके सारे खानदान का मज़हब शीआ था। इस सबके बावजूद बहुत ज़माने तक लखनऊ में हुकूमत का वही पुराना तरीक़ा चला आता था जो इस्लामी सल्तनत के शुरू से ही हिंदुस्तान के दूसरे शहरों और सारे देश का था। मगर उस वक़्त बादशाह और उनकी खास मल्का की मज़हबी दिलचस्पी की वजह से शीआ मत लखनऊ के शासन का प्रमुख अंग बन गया। फिरंगी महल के विद्वानों की ओर से शासकों का ध्यान हट गया और मुज्जहिदों<sup>3</sup> का खानदान तरक्की पाकर सल्तनत का असली क़ानूनसाज़ करार पाया।

लेकिन शीआ मत अगर अपनी असली हालत पर कायम रहता तो कोई बात न थी, ख़राबी यह हुई कि बादशाह बेगम की अमीरों की-सी मज़हबी गतिविधि ने, जो अज्ञान से भरी थी, शीआ मत में नयी-नयी बातें पैदा कीं जिनकी वजह से सिर्फ़ यही नहीं हुआ कि बादशाहों और अमीरों में तरह-तरह की बचकाना आदतें पैदा हुईं बल्कि लखनऊ का शीआ मत सारे संसार

<sup>1</sup> ईरान का एक परिवार।

<sup>2</sup> बारह इमामों को मानने वाला शीआ।

<sup>3</sup> शीआ संप्रदाय का अधिकारी विद्वान।



के शीआ मत से नया, निराला और अजीब हो गया ।

सबसे पहले बेगम साहबा ने उस समय के बड़े इमाम साहब की छठी की रस्म मनाई जिसमें अगर यह होता कि किसी महफ़िल में इमाम साहब के हालात बयान करके सबाब हासिल कर लिया जाये तो कोई हर्ज न था, मगर नहीं यहां हिंदुओं की जन्माष्टमी की परंपरा के अनुसार पूरा ज़च्चाखाना बनाया जाता । उसके बाद यह तरक्की हुई कि उन सैयदों की, जिनका वंश निर्मल था, खूबसूरत लड़कियां लेकर बारह इमामों की बीवियां करार दी गयीं जिनका नाम “अछूतियां” रखा गया और जब वे इमामों की बीवियां थीं तो फिर उनके यहां इमामों का जन्म भी होता और बारहों इमामों के जन्मोत्सव बड़े ठाट-बाट के साथ मनाये जाने लगे ।

गाज़ीउद्दीन हैदर बहुत ही क्रोधी-स्वभाव और उद्विग्न-चित्त शासक थे । उनका रौबदाब ऐसा था कि उनके समय में अंग्रेज़ों से संबंध तो अच्छे रहे मगर आगा मीर, जो प्रधान मंत्री था, दरबार पर इतना हावी हो गया था कि खुद बादशाह बेगम और राजकुमार तक उसके अत्याचार से न बच सके । गाज़ीउद्दीन हैदर उसे घूसों और लातों से मारते जिस मार को वह खुशी से खा लेता मगर इसका बदला दरबार के दूसरे प्रतिष्ठित सदस्यों और बादशाह के रिश्तेदारों से लिया करता ।

इससे पहले अवध नरेश ने धार्मिक श्रद्धावश नदी के किनारे और मोती महल के पास नजफे-अशरफ़ यानी हजरत अली के रीज़े (समाधि) की नक़ल लखनऊ में बनवाई और उसकी रोशनी और देख-भाल के लिए बहुत-सा रुपया अंग्रेज़ सरकार के हवाले किया जिसकी बदौलत आज तक वह बारीनक़ और खूब आबाद है । सन 1827 में जब नवाब साहब का निधन हुआ तो वे उसी में दफ़न हुए ।



1827 ई० में गाज़ीउद्दीन हैदर के बेटे नसीरउद्दीन हैदर तख्त पर बैठे। गाज़ीउद्दीन हैदर के ज़माने से, जैसा कि हम बता चुके हैं, अवध के शासक नवाब नहीं, बादशाह थे। इस सम्मान का प्रारंभ दिल्ली के वज़ीर के पद से हुआ था और पहले के ज़बरदस्त, महत्वपूर्ण शासक सभी नवाब वज़ीर कहलाते थे। लेकिन अब जबकि असल हुकूमत और धाक खत्म हो चुकी थी और हिंदुस्तान की राजनीति में उन लोगों का बिल्कुल असर बाक़ी न रहा था, ये बादशाह बन गये।

खयाल किया जा सकता है कि अंग्रेज़ों ने अवध के शासकों को बादशाही इज़्ज़त दी तो अपनी हिमायत से उनकी धाक और दबदबा भी बढ़ा दिया होगा और उन्हें नाम ही का बादशाह नहीं बल्कि असल में बादशाह बनाकर दिखाया गया होगा। लेकिन नहीं, हमें यह नज़र आता है कि उस ज़माने में अवध के बाहर उन लोगों का असर तो बिल्कुल था ही नहीं, खुद अपने राज्य में भी वे इतने आज़ाद न थे जितने कि उनके पूर्वज होते आये थे। अब किसी की ताजपोशी वगैरह अंग्रेज़ों की मंजूरी के हो ही न सकती थी। अंग्रेज़ फ़ौज सारे राज्य में जगह-जगह फैली हुई थी। कोई भी महत्वपूर्ण मामला वगैरह रेज़िडेंट साहब के हस्तक्षेप के तै ही न हो सकता था। राजसिंहासन एक मंच था जिस पर जो कुछ होता बज़ाहिर नज़र आता कि अभिनेता कर रहे हैं लेकिन असल में उस अभिनय का नियंता कोई और ही व्यक्ति था जो पर्दे की आड़ में था और जो चाहता था करता था।

मगर खुदा की इतनी मेहरबानी थी कि उन पिछले अवध-नरेशों और उनके साथ-साथ राज्य से संबद्ध सभी व्यक्तियों की संवेदनशीलता समाप्त हो चुकी थी जिसके कारण वे अपनी कमज़ोरी और लाचारी को बिल्कुल महसूस न कर सकते थे। गाज़ीउद्दीन हैदर बादशाह बनते ही ऐश-इशरत में गर्क हो गये और नसीरउद्दीन हैदर को तो शाही तख्त विरसे में मिला था। नवाब सआदतअली खां का जमा किया हुआ रुपया दोनों की विलासिता में सहायक हुआ। कुछ अंग्रेज़ों को उधार दिया गया, कुछ उन मज़हबी रस्में संपन्न करने में खर्च हुआ जिन्हें बादशाह और उनकी मल्काओं ने अपनी रुचि के अनुसार



बड़े शौक से इजाद किया और बाक़ी फ़िज़ूल खर्चियों और ऐयाशियों की नज़्र होने लगा। गाज़ीउद्दीन हैदर ने तो इतना भी किया था कि नजफ़े-अशरफ़ की नक़ल बनवाकर अपनी क़ब्र का ठिकाना कर लिया और बिना इसके कि अपने विरसे पर भरोसा करें कुछ रुपया अंग्रेज़ों के हवाले किया कि उसके सूद से धार्मिक संस्कारों के साथ नजफ़ की देखभाल किया करें। चुनांचे आज तक उनकी क़ब्र पर चिराग़ जलाया जाता है, मजलिसें<sup>1</sup> होती हैं, कुरान-पाठ होता है और मुहर्रम में खूब रोशनी होती है जिसकी बदौलत थोड़े से गरीबों का भी भला हो जाता है। मगर नसीरउद्दीन हैदर को भोग-विलास से इतनी भी फ़ुर्सत न मिली। दरिया पार मुहल्ले इरादत नगर में उन्होंने एक कब्रला बनवायी जहां खुद उनकी क़ब्र बननेवाली थी मगर उसकी देखभाल पर ज़रा भी ध्यान नहीं दिया गया जिसका नतीजा यह है कि आज वह डालीगंज के स्टेशन के पास उजाड़ और ख़ामोश पड़ी है और शायद कोई चिराग़ जलानेवाला भी नहीं। उनके जमाने में नये मुहल्ले गणेशगंज और चांदगंज वहीं नदी के पार आबाद हुए।

नसीरउद्दीन हैदर को ज्योतिष से बड़ा लगाव था जिसने उन्हें खगोल शास्त्र की ओर आकृष्ट किया और उन्होंने इरादा किया कि अपने शहर में एक उच्च कोटि की वैधशाला कायम करें। चुनांचे उसी मक़सद के लिए एक कोठी नवाव सम्राटअली खां के मक़बरे और मोती महल के दरम्यान में बनवायी जो वैधशाला होने के कारण लखनऊ में 'तारे वाली कोठी' के नाम से मशहूर हुई। इसमें बड़ी-बड़ी दूरबीनें और अन्य उच्च कोटि के यंत्र इकट्ठे किये गये। उनको ठीक ढंग से कायम करने का काम और उनका इंतज़ाम कर्नल वैंलकावस के सुपुर्द हुआ जो एक अच्छे खगोलविज्ञानी थे। मगर लखनऊ की यह वैधशाला मानो कर्नल साहब ही के जीवन की एक अज्ञात घटना थी क्योंकि 1827 ई० से नसीरउद्दीन हैदर का शासन प्रारंभ हुआ जिसके चार-पांच साल बाद शायद यह वैधशाला कायम हुई होगी और उस समय से 1847 ई० तक जबकि अवध के अंतिम शासक वाजिदअली शाह का ज़माना था, यह वैधशाला उन्हीं की देखरेख में चलती रही। उसी वर्ष में कर्नल साहब का देहांत हुआ और उनकी जगह कोई खगोलविज्ञानी उस काम के लिए नियुक्त नहीं किया गया। वाजिदअली शाह ने उसकी ओर से लापर-

<sup>1</sup>कब्रला के शहीदों की शोक-सभा।



वाही बरती। लखनऊ के कुछ अधिकृत व्यक्तियों की ज़बानी सुना गया कि उसकी सबसे बड़ी दूरबीन को वाजिदअली शाह ने एक खिलौना समझकर हैदरी वेश्या के हवाले कर दिया था। लेकिन 'ग़जेटियर' से मालूम होता है कि यह वैधशाला सल्तनत के समाप्त होने तक कायम थी। शायद ग़दर में बलवाइयों ने इसे तबाह कर दिया क्योंकि एहमदउल्ला शाह ने (जो डंका शाह भी कहलाते थे और अंग्रेज़ फ़ौज से बड़ी वीरता और साहस के साथ लड़ते थे) तारे वाली कोठी ही में निवास किया था, इसी में अपना दरबार कायम किया था और विद्रोही सेना के अफ़सर यहीं इकट्ठे होकर सलाह-मशविरा किया करते थे।

इसी ज़माने में रौशनउद्दौला ने जो प्रधान मंत्री थे अपनी ख़ूबसूरत और शानदार कोठी बनवायी जिसमें फ़िलहाल डिप्टी कमिश्नर बहादुर इजलास करते हैं इसलिए कि वाजिदअली शाह ने इस कोठी को कैसर बाग़ बनवाते वक्त ज़ब्त कर लिया था और जब प्रांत पर अंग्रेज़ों का कब्ज़ा हुआ तो यह कोठी सरकारी जायदाद थी।

नसीरउद्दीन हैदर का ज़माना, सच यह है कि, बहुत ही ख़तरनाक ज़माना था। एक ओर तो शासन-प्रबंध ढीला था, बादशाह को ऐश-ईशरत और अपनी बनाई हुई मज़हबी रस्मों से फ़ुर्सत न मिलती थी, सारा इतिज़ाम प्रधान मंत्री पर छोड़ दिया जाता था और मंत्रियों की यह हालत थी कि कोई ऐसा व्यक्ति मिलता ही न था जो नेकनियती और समझदारी से काम चला सके। हकीम मेहदी बुलाये गये। वे प्रबंधक तो अच्छे थे लेकिन चाहते थे कि सल्तनत को अपनी जायदाद बना लें। रौशनउद्दौला मंत्री बने, उनमें न कुछ करने की सामर्थ्य थी और न दिलचस्पी, उनसे कुछ करते-घरते न बनी। बादशाह की फ़िज़ूल-खर्चियों की यह हालत थी कि सआदतअली खां का जमा किया हुआ सारा रुपया पानी की तरह उड़ गया और राज्य की आमदनी महल के खर्च के लिए काफ़ी न हो सकी। इतना ही नहीं, बादशाह और उनकी मां, गाज़ीउद्दीन हैदर की खास पत्नी, में भगड़े शुरू हुए। वे मुन्नाजान को बादशाह का बेटा बताती थीं और बादशाह उसे अपना बेटा नहीं मानते थे। इन बातों ने अवध की यह हालत कर दी कि मालूम होता था शासकों में शासन करने और देश को संभालने की बिल्कुल सामर्थ्य नहीं है।

रैज़िडेंट साहब और हिंद के गवर्नर जनरल ने बार-बार समझाया, डराया,



धमकाया, अंजाम से आगाह किया और बराबर कान खोलते रहे, मगर यहां किसी के कान पर जूं न रेंगी। नसीरउद्दीन हैदर में औरतों में रहते-रहते इस हद तक जनानापन आ गया था कि वे औरतों की-सी बातें करते और औरतों ही का लिबास पहनते। जनाना-मिजाजी के साथ मजहबी विश्वास ने यह शान पैदा कर दी कि बारह इमामों की फ़र्ज़ी बीबियां (अछूतियां) और उनके जन्मोत्सव आदि को जिनको उनकी मां ने प्रचलन दिया था और अधिक प्रश्रय मिला। यहां तक कि इमामों के जन्म से संबंधित समारोहों में वे खुद गर्भवती स्त्री बन कर प्रसूति-गृह में बैठते, चेहरे और हाव-भाव से प्रसव-पीड़ा प्रकट करते और फिर खुद एक काल्पनिक बच्चे को जन्म देते जिसके लिए जन्म, छठी और नहान की व्यवस्था उसी तरह की जाती जिस तरह कि वास्तव में ऐसे समय की जाती है। ये उत्सव इतने अधिक थे कि साल भर बादशाह को इन्हीं से फुर्सत न मिलती थी, सल्तनत की तरफ कौन ध्यान देता ?

अबध दरबार और अंग्रेज़ सरकार के संबंध देखने से मालूम होता है कि अगर गवर्नर जनरल और रेज़िडेंटों की मेहरबानी न होती और इंग्लैंड का जो बोर्ड ईस्ट इंडिया कंपनी की निगरानी करता था, कंपनी को रोके-थामे न रहता तो हुकूमत के खात्मे की कार्रवाई उसी ज़ामाने में हो गयी होती। मगर इस दरबार की ज़िदगी, जिसके शासक बचकाना आदतें रखते थे, अभी बाकी थी, अंग्रेज़ प्रांत पर अधिकार करने का विचार करके रह गये।

नसीरउद्दीन हैदर के संबंध में लखनऊ के पुराने और विश्वस्त लोगों का बयान है कि वे इस स्वैयता और बचकाना हरकतों के साथ-साथ बहुत ही ज़ालिम भी थे। लेकिन चूंकि सारी ज़िदगी औरतों में बसर होती थी इसलिए उनके जुल्म का शिकार भी ज्यादातर औरतें ही होतीं। बीसियों स्त्रियों को छोटे-छोटे क़सूर और मामूली बदगुमानी पर दीवारों में चुनवा दिया। कहते हैं कि रास्ता चलते किसी मर्द को किसी औरत के सीने पर हाथ रखे देख लिया था, फौरन औरत की छातियां और मर्द के हाथ कटवा डाले।

आखिर दस बरस की कुरीतियों के बाद जबकि अंदर-बाहर के सभी दर-बारी ज़िदगी से तंग आ गये थे, बादशाह खुद अपने दोस्तों और रिश्तेदारों के हाथ का शिकार बने और किसी ने ज़हर देकर 1837 में उनका काम तमाम कर दिया। नसीरउद्दीन हैदर निस्संतान मरे थे। मुन्नाजान को गाज़ीउद्दीन हैदर की बेगम ने हमेशा अपना पोता और सल्तनत का सच्चा वारिस बनाकर



पेश किया। मगर गाजीउद्दीन हैदर और नसीरउद्दीन दोनों ने उनके शाही नस्ल से होने को नहीं माना था। इसी कारण से अंग्रेज सरकार ने नवाब सआदत अली खां के बेटे नसीरउद्दौला मुहम्मद अली खां की गद्दीनशीनी का पहले से बंदोबस्त कर लिया था, मगर बेगम साहबा न मानीं। मुन्नाजान को लेकर लाल बारहदरी यानी उस जगह ले गयीं जहां सिंहासन था। रेजिडेंट ने हज़ार रोका और समझाया, मगर एक न सुनी और ज़बरदस्ती मुन्नाजान के तख्त पर कदम रखते ही उनकी बलाएं लीं और अपने दुश्मनों से फ़ौरन बदला लेना भी शुरू कर दिया। बहुतों के घर लुटवाये, कुछ को गिरफ़्तार कर लिया, बाज़ क़त्ल हुए और शहर में एक हड़बोंग मच गया।

रेजिडेंट साहब और उनके सहायक फ़ौरन दरबार में पहुंचे। बादशाह बेगम को समझाया कि मुन्नाजान सल्तनत के वारिस नहीं हो सकते और इसमें आपको हरगिज़ कामयाबी न होगी। फिर लाट साहब का लिखित फ़रमान दिखाया और कहा कि बेहतर यही है कि मुन्नाजान तख्त को खाली कर दें और नसीरउद्दौला को गद्दी पर बिठाया जाये, मगर किसी ने एक न सुनी। बल्कि किसी ने असिस्टेंट रेजिडेंट पर हमला किया जिससे उनका चेहरा लहू-लुहान हो गया। रेजिडेंट ने मंडियाओं से अंग्रेज फ़ौज पहले ही से बुलवा ली थी और उसने तख्तगाह के सामने तोपें लगा दी थीं और सिपाही क़तार बांधे खड़े थे। मजबूरन रेजिडेंट साहब ने घड़ी हाथ में ली और कहा दस मिनट की मोहलत दी जाती है। इस समय के अंदर अगर मुन्नाजान तख्त से न उतरे तो ज़बरदस्ती की कार्रवाई की जायेगी। इसकी भी किसी ने परवाह न की हालांकि रेजिडेंट बार-बार कहते जाते थे कि अब पांच मिनट बाक़ी हैं, अब दो ही मिनट रह गये, और अब देखिए पूरा एक मिनट भी नहीं।

इन चेतावनियों पर किसी ने ध्यान न दिया और यकायक तोपों ने गुराबें मारना शुरू कीं। आनन-फ़ानन में तीस-चालीस आदमी गिर गये। दरबारी घबराकर गिरते-पड़ते भागे। जो नृत्य मंडली मुजरा कर रही थी उसमें से भी कई आदमी ज़रूमि हुए। शीशे के बर्तन भनाभन टूटकर गिरने लगे। जब कई वफ़ादार बहादुर, जो डट कर मुक़ाबिला कर रहे थे, मारे जा चुके तो मुन्नाजान ने भी तख्त से गिर कर भागने का निश्चय किया, मगर पकड़ लिए गये। गरज़ बेगम साहबा और उन्हें दोनों को अंग्रेजों ने गिरफ़्तार कर लिया और साथ ही नसीरउद्दौला को गद्दी पर बिठा दिया गया जो मुहम्मदअली शाह के



नाम से अवध के बादशाह क्रारार पाये और मुन्नाजान और उनकी दादी हिरा-सत में लखनऊ से कानपुर और कानपुर से किला चिनारगढ़ भेज दिये गये और दो हजार चार सौ रुपया माहवार उनकी तनख्वाह लखनऊ के खजाने से मुकर्रर कर दी गयी ।

मुहम्मद अली शाह की उम्र गद्दीनशीनी के वक्त त्रेसठ बरस की थी । बूढ़े और तजुर्बेकार थे, जमाने की ऊँच-नीच और दरबार की वचकाना हर-कतें देखते रहे थे । सबसे बड़ी बात यह थी कि नवाब सआदतअली खाँ के बेटे थे और उनकी आँखें देखे हुए थे । उन्होंने बहुत संभल कर काम किया : मित-व्ययिता के नियम बनाये और जहाँ तक बना, इंतजाम को संभालने की कोशिश की । मगर उम्र ज्यादा आ चुकी थी और शरीर जवाब दे रहा था । तख्त पर बैठते ही उन्होंने हकीम मेहदी को फरुखाबाद से बुलवाकर वज़ीर के पद का खिलअत दिया मगर चंद ही रोज़ बाद वे मर गये । तब ज़हीरउद्दौला को अपना प्रधान मंत्री बनाया । दो-तीन महीने बाद वे भी दुनिया से चल बसे और मुनव्वरउद्दौला वज़ीर क्रारार पाये जिन्होंने दो-चार महीने के बाद ही इस्तीफ़ा दे दिया और कर्बला चले गये । फिर अशरफ़उद्दौला मुहम्मद इब्राहीम खाँ वज़ीर क्रारार पाये जो औरों के मुक़ाबिले ज्यादा समझदार और गंभीर प्रकृति के थे ।

मुहम्मदशाह की तख्तनशीनी पर अंग्रेज़ सरकार और अवध की सल्तनत में एक नया क्रारार हुआ जिसके अनुसार अंग्रेज़ सरकार ने जो फ़ौज अवध की निगरानी के लिए रखी थी उसमें बहुत ज्यादा वृद्धि हुई और ईस्ट इंडिया कंपनी की गवर्नमेंट को यह इस्तिथार हासिल हुआ कि सारे अवध में या उसके जिस इलाक़े के शासन में ढील देखे उसे जब तक चाहे अपने शासन में रखे । बादशाह ने अनिच्छा से इस क्रारार पर हस्ताक्षर किये और जहाँ तक बना प्रांत की स्थिति में सुधार करने लगे ।

तख्तनशीनी के दूसरे ही बरस उन्होंने अपना मशहूर इमामबाड़ा हुसैना-वाद और उसके करीब एक आलीशान मस्जिद बनवाना शुरू की जिसके लिए यह प्रबंध किया गया कि दिल्ली की जामे मस्जिद से रौनक और आकार में बढ़कर हो ।

उन दिनों लखनऊ की आबादी और रौनक इतनी बढ़ गयी थी और इतने अधिक लोग वहाँ और आसपास आबाद थे कि उसे हिंदुस्तान का बाबुल



कहना बेजा न था। वास्तव में यह शहर हर हैसियत से उस युग का जिंदा बाबुल था।

इस समानता के बारे में शायद अंग्रेजों या किसी अन्य दरबारी से सुनकर मुहम्मदअली शाह ने इरादा किया कि लखनऊ को पूरा-पूरा बाबुल बना दें और अपनी एक ऐसी यादगार कायम कर दें जो उनके नाम को अवध के दूसरे बादशाहों से ज्यादा बुलंदी पर दिखाए। उन्होंने बाबुल के मीनार या वहां के हवाई बाग की तरह की एक इमारत हुसैनाबाद से करीब और मौजूदा घंटा-घर के पास बनवाना शुरू की जिसमें मेहराबों के गोलाकार वृत्त पर दूसरा वृत्त और दूसरे वृत्त पर तीसरा वृत्त, गरज यों ही तले-ऊपर कायम होते चले जाते थे। इरादा था कि यों ही सात मंजिलों तक उसे ऊंचा करके एक इतना बड़ा और ऊंचा बुर्ज बना दिया जाये जो दुनिया भर में लाजवाब हो। और उसके ऊपर से सारे लखनऊ और उसके आसपास का मैदान नजर आये। यह इमारत अगर पूरी बन जाती तो निश्चय ही लाजवाब और आश्चर्यजनक होती। उसका नाम सतखंडा करार दिया गया था और बड़े इंतजाम के साथ बन रही थी, मगर पांच ही मंजिलें बनने पायी थीं कि मुहम्मद अली शाह ने 1842 ई० में इस संसार से कूच किया।

मुहम्मद अली शाह ने अपने ज़माने में बिना इसके कि अंदरूनी भगड़े पैदा हों या देश की शासन-व्यवस्था बिगड़े, लखनऊ को बहुत ही खूबसूरत शहर बना दिया। हुसैनाबाद के फाटक से रोमी दरवाजे तक दरिया के किनारे-किनारे एक सड़क निकाली जो चौक कहलाती थी। इस सड़क पर दुतर्फा आलीशान मकानों के बावजूद एक तरफ रोमी दरवाजा, आसफउद्दौला का इमामबाड़ा और उसकी मस्जिद थी, दूसरी तरफ सतखंडा और हुसैनाबाद का फाटक था। इस नये इमामबाड़े की अनेक गगनचुंबी इमारतें थीं और उनके बाजू में जामा मस्जिद स्थित थी। और सब इमारतों ने मिलकर दोनों ओर एक ऐसा मनोहर दृश्य प्रस्तुत कर दिया था जो दुनिया के तमाम मशहूर और और सुंदर दृश्यों को मात करता था। और अब भी हालांकि दरम्यान में शहर के बाशिंदों के जितने मकान थे सब खुद गये, मगर यह दुनिया का एक सुंदरतम दृश्य माना जाता है।



मुहम्मदअली शाह के बाद अमजदअली शाह राजसिंहासन पर बैठे । मुहम्मदअली शाह ने कोशिश की थी कि युवराज की शिक्षा-दीक्षा उच्च कोटि की हो । चुनांचे उन्हें विद्वानों की संगति में रखा । नतीजा यह हुआ कि अमजद अली शाह बजाये इससे कि पढ़ने-लिखने में कोई विशेष प्रगति करें शिष्टाचार और आदत-स्वभाव की दृष्टि से एक सच्चे मौलवी बन गये । हुकूमत की बागडोर हाथ में आने के बाद उनका जो कुछ होसला था यह था कि उनके साथ सारी रियाया हुजूर को अपना श्रेष्ठ मान ले । लेकिन जाहिर है कि धार्मिक विद्वानों और देश के नेताओं को राजनीति से कोई सरोकार नहीं हो सकता । वे न राजनीतिज्ञ हो सकते हैं और न राजमर्मज्ञ । उनसे जो कुछ हिदायत मिल सकती थी यह थी कि सैन्यों की सेवा की जाये और राज्य का धन ईश्वर के भक्तों की सहायता और सेवा में खर्च हो । और यह काम भी श्रद्धावान, संयमी और सच्चरित्र अवध नरेश अमजद अली शाह की नज़र में उसी समय संतोषजनक हो सकता था जब खुद मुज्ताहिद-उल-अस्र के मुबारक हाथों से संपन्न हो । चुनांचे देश की आमदनी में से लाखों रुपये जकात (दान) के नाम से उनकी नज़र किये जाते और उसके अलावा और भी बहुत-सी खैरात की रकमें उन्हीं के हाथ में जातीं ।

अमजद अली शाह के लिए संयम और शुद्धता का विचार एक रोग बन गया था । वे इन्हीं चीजों की पाबंदी में इतने व्यस्त रहते थे कि शासन-प्रबंध की ओर ध्यान देने की उन्हें फुर्सत ही न मिल पाती थी । इसका लाजिमी नतीजा यह हुआ कि मुहम्मद अली शाह ने अपनी तजुर्बकारी और समझ-बूझ से जो कुछ प्रबंध किये थे सब बेकार हो गये और यह हालत हो गयी कि क्राज़ी मुहम्मद सादिक खां के बयान के मुताबिक सारे कर्मचारी दुश्चरित्र, बेईमान और स्वार्थी थे । रिआया तबाह थी, ज़वरदस्त का ठेंगा सर पर था, ज़ालिम और मुजरिम को सज़ा न मिलती थी, खज़ाना खाली था, रिश्वत-खोरी की गर्मबाज़ारी थी और जो हंगामे और फ़साद पैदा होते थे किसी के मिटाये न मिट सकते थे ।

लेकिन इस संयम और जनसाधारण के हितों के प्रति उदासीनता और



लापरवाही पर भी उन्होंने मुहल्ला हज़रतगंज आबाद किया जो आज लखनऊ में तमाम मुहल्लों से ज्यादा साफ-सुथरा, घना आबाद, बहुत ही खूबसूरत धनी व्यापारियों का सबसे बड़ा बाज़ार है और सिविल लाइन का सबसे ज्यादा बारौनक हिस्सा है। उन्होंने लखनऊ से कानपुर तक सीधी एक पक्की सड़क बनवायी। उनके काल में सबसे बड़ा काम यह हुआ कि लोहे के पुल की इमारत बन कर तैयार हो गयी। इस पुल के निर्माण का एक महत्व यह भी है कि इसमें लगी सामग्री गाज़ीउद्दीन हैदर ने इंग्लैंड से मंगवायी थी, मगर वे पुर्जो और सामान जब तक लखनऊ पहुंचे बादशाह यह असार संसार छोड़ चुके थे। नसीरउद्दीन हैदर के ज़माने में जब वे पुर्जो विलायत से आये तो उन्होंने अपने दरबार के इंजीनियर मि० सिक्लेयर को उन पुर्जों के जोड़ने और पुल को बना कर खड़ा कर देने का ठेका दिया और हुक्म दिया कि वे पुर्जो रेज़िडेंसी के सामने दरिया के उस पार डाल दिये जायें। जिस जगह पुल के ये लोहे के पुर्जो डाले गये थे उस जगह का पता देने के लिए आज वही एक घाट और मंदिर कायम है। मि० सिक्लेयर ने दरिया के अंदर खंवे गाड़ने के लिए गहरे कुएं खुदवाये और उन खंवों की जुड़ाई भी करा ली, मगर उसके बाद उनसे कुछ करते करते न बना और पूल पूरा न हो सका। मुहम्मद अली शाह के ज़माने में यह पुल अधूरा पड़ा रहा, मगर अमजद अली शाह ने अपने काल में उसकी ओर ध्यान दिया और पुल बन कर तैयार हो गया। लेकिन जो लोहे का पुल आजकल कायम है वह मुहम्मद अली शाह के ज़माने का पुल नहीं है। वह एक हैंगिंग ब्रिज यानी लटकने वाला पुल था जिसका सारा भार लोहे के चार ऊंचे और ज़बरदस्त खंवों पर लटक रहा था। अंग्रेज़ों के ज़माने में जब उसके पुर्जों पर जंग लग गया और वे कमज़ोर पड़ गये और उस पर आम आमद-रफ्त में खतरा नज़र आया तो उसे गिरवाकर उसकी जगह दूसरा लोहे का पुल कायम किया गया और वही पुल आज भी मौजूद है।

अमजद अली शाह ही के ज़माने में उनके वज़ीर अमीनउद्दौला ने अमीनाबाद आबाद किया जिसकी आबादी और रौनक आजकल दिन-दूनी और रात-चौगुनी तरक्की कर रही है। अमजद अली शाह ने अपने ज़माने में हालांकि कुछ नहीं किया और न अपने शौक से कोई ऐसी इमारत बनवायी जो आजकल उनकी यादगार हो, मगर शायद अपने संयम और पवित्र-हृदयता



के बदले उन्हें यह कुदरती नामवरी हासिल हो गयी कि लखनऊ के आजकल के वे सबसे ज्यादा मशहूर, सबसे ज्यादा आवाद और दौलतमंद मुहल्ले अमीनाबाद और हजरतगंज उन्हीं के जमाने की यादगार हैं।

आखिर जमाने ने उनके दौर का पन्ना भी पलटा और 1848 ई० में जबकि 'उम्र अड़तालीस बरस से कुछ ही दिन ज्यादा थी, कैसर के रोग से पीड़ित होकर दुनिया से रुखसत हो गये और अपने आवाद किये हुए मुहल्ले हजरतगंज में मेंडू खां रिसालदार की छावनी के अंदर दफन हुए। उनका इमामवाड़ा जिस में वे दफन हैं हजरतगंज के पश्चिमी हिस्से में लंबे-सड़क मौजूद है जिसकी इमारत उनकी मृत्यु के बाद वाजिद अली शाह ने दस लाख रुपये खर्च करके बनवायी थी। यह इमामवाड़ा हुसैनाबाद की एक घटिया नकल है और अगर हुसैनाबाद की तरह इसमें भी रोशनी होती तो मुहर्रम में लखनऊ का पूर्वी हिस्सा भी जगमगा उठा करता। अगरचें उसके लिए कोई पेंशन मुकर्रर नहीं है, लेकिन उसकी आमदनी भी कम नहीं। अहाते की इमारत के बाहरी हिस्से की दुकानों में बहुत से अच्छे-अच्छे व्यापारियों की दुकानें हैं और अंदरूनी इमारतों में बहुत से यूरोशियन वगैरा रहते हैं जिनसे किराये की अच्छी-खासी रकम वसूल होती है। मगर किराया वसूल करने वालों का यह भी एहसान है जो मुहर्रम में खास कब्र और इमामवाड़े में चंद चिराग रोशन कर दिया करते हैं।

अब अमजद अली शाह के बड़े बेटे वाजिद अली शाह तख्त पर बैठे। उनका जमाना इस पूर्वी दरबार के इतिहास का अंतिम पृष्ठ और उस प्राचीन शोकगीत का अंतिम मद है। चूंकि अवध के शासन का अंत उन्हीं के काल में हुआ इसलिए तमाम समझ-बूझ वाले लोगों के धिक्कार के वही भागी बने और यह भी लगभग सभी ने मान लिया कि सल्तनत के पतन का कारण वही थे। लेकिन जिस जमाने में उनकी सल्तनत का खात्मा हुआ है उन दिनों हिंदुस्तान की सारी देशी ताकतें टूट रही थीं और बुरी-भली सब तरह की पुरानी हुकूमतें दुनिया से मिटती जाती थीं। पंजाब में सिखों का और दक्षिण में मराठों का दफ्तर क्यों उलटा? वे तो बहादुर, जबरदस्त और होशियार माने जाते थे। दिल्ली में मुगल शहंशाही का और बंगाल में नवाब नाज़िम बंगाल का पतन क्यों हुआ हालांकि उनमें ऐसा बचकानापन भी न था जितना कि लखनऊ के शासकों में मौजूद था। उपर्युक्त चारों दरबारों में कोई वाजिद



अली शाह न था, हालांकि उनकी तबाही लखनऊ की तबाही से कम न थी।

असल बात यह है कि उस युग में इधर तो हिंदुस्तानियों की ग़फ़लत और जहालत का पैमाना छलकने के करीब पहुँच गया था और उधर ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति और ब्रिटिश राष्ट्र की दूरदर्शिता, योग्यता और परिश्रम ये सब अपने प्रयत्नों और अपनी उच्च संस्कृति तथा सभ्यता का फल पाने की रोज़-बरोज़ पात्र बनती जा रही थीं। यह नामुमकिन था कि अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों की बुद्धिमता, अभ्यास, सूझबूझ, नियमितता हिंदुस्तान के अज्ञान और आत्मविस्मृति पर विजय न पातीं। उस युग ने सारी दुनिया में संस्कृति का एक नया रूप धारण किया था और वह पुकार-पुकार कर हरेक जाति से कह रहा था कि जो इसमें मेरा साथ न देगा मिट जायेगा। ज़माने के इस ढिंढोरे की आवाज़ हिंदुस्तान में किसी ने सुनी और सब मिट गए। इन्हीं मिटनेवालों में अदध की सल्तनत भी थी जिसके पतन का दायित्व बेचारे वाजिद अली शाह पर डाल देना इतिहास के साथ अन्याय करना है।

धर्मशास्त्र का पालन करनेवाले बाप ने वाजिद अली शाह को भी विद्वानों की संगति में रखकर अपना जैसा बनाना चाहा था और यह रंग एक हद तक वाजिद अली शाह पर चढ़ा भी जो उम्र के ढलने तक ज़्यादा खिलता गया। मगर अमजद अली शाह का इसमें कुछ जोर न चला कि सल्तनत के बारिस राजकुमार की स्वाभाविक प्रवृत्ति विलासिता और ललित कलाओं की ओर थी। हालांकि बाप के आग्रह के कारण लिखने-पढ़ने में भी अच्छे थे लेकिन संगीत का शौक हावी था। अपने राजकुमारत्व-काल ही में अपनी वैयक्तिक रुचि से उन्होंने पिता की इच्छा के विपरीत गवैयों और ढारियों को अपने साथ रख कर गाना-बजाना सीखा। आवारा औरतों और डोम-ढारियों से संपर्क बढ़ाया और परिणाम यह हुआ कि जो आनंद उन्हें सुंदर स्त्रियों और गवैयों की संगति में आता ज्ञान-विज्ञान की सभ्य मंडलियों में न आता था।

बाप के खिलाफ़ उन्हें इमारत का भी शौक था और युवराजत्व ही में उन्होंने अपनी आनंद-सभा और भोगविलास के लिए एक सुहावना बाग़ और उसमें दो-एक छोटे-छोटे और खूबसूरत मकान बनवाये। अली नकी खां जिन्हें तख़्त पर बैठते ही वज़ारत का खिलअत दिया, उनसे अपने राजकुमारत्व-काल में एक रंडी के घर पर मुलाक़ात हुई। उनकी यौवनभरी चंचलता ने



राजकुमार को प्रभावित किया और जब उपयुक्त बाग और इमारत उनकी निगरानी में बनी और पसंद आयी तो समझ लिया गया कि वज्जारत और राज्य के प्रबंधक के लिए उनसे अधिक उपयुक्त कोई व्यक्ति नहीं है।

वाजिद अली शाह की सल्तनत की शुरुआत तो इस प्रकार हुई कि नौजवान बांके बादशाह को न्याय और सेना-सुधार से विशेष रुचि थी। सवारी में आगे-आगे दो चांदी के संदूकचे चलते। जिस किसी को कुछ शिकायत होती अर्जी लिख कर उसमें डाल देता। कुंजी खुद बादशाह के पास रहती। महल में पहुंच कर हुजूर उन अर्जियों को निकालते और अपने हाथ से उन पर हुक्म लिखते। इस तरह कई नये रिसाले और कई पलटनें भर्ती हुईं। रिसालों के नाम बादशाह ने अपने लेखन-कौशल से बांका, तिरछा, घनघोर रखे और पलटनों के नाम अख्तरी, नादरी रखे गये। नवाब साहब खुद घोड़े पर सवार होकर जाते और घंटों धूप में खड़े होकर उनकी क़वायद और युद्ध कौशल में उनका अभ्यास देखते और खुश हो-होकर दक्ष सैनिकों को इनाम-इकराम देते। उन्होंने फ़ौजी क़वायद के लिए खुद ही फ़ारसी शब्दावली और वाक्य बनाये : “रास्त रौ” (सीधे चल), “पस बया” (पीछे घूम), “दस्तर-चप बगिरद” (बाईं ओर मुड़)। चंद रोज़ बाद जवान और हसीन औरतों की एक छोटी जनानी फ़ौज बनायी गयी और उनको भी इन्हीं शब्दों में क़वायद सिखायी गयी।

मगर आधुनिक युग का यह पहला चिह्न कुछ ही दिन बाकी रहा। पूरा एक साल भी न गुज़रा होगा कि तबीयत इन चीज़ों से उकता गयी। राज-कुमारत्व-काल की वही पुरानी रुचि फिर लौट आयी। सुंदर और भवारा औरतों की संगत बढ़ी, आनंद मंडलियों का आयोजन प्रारंभ हुआ और थोड़े ही दिनों में डोम, ढाड़ी ही सभासद और राज्य के प्रतिष्ठित लोग बन गये। बादशाह के दिल में अब अगर ज्ञान-विज्ञान या शिष्ट रुचि बाक़ी थी तो वह शाइरी थी क्योंकि वे खुद शेर कहते और शाइरों की क़द्र करते थे।

लखनऊ में उन दिनों शाइरी का चर्चा हृद से ज़्यादा बढ़ा हुआ था। अकेले लखनऊ में इतने शाइर मौजूद थे कि अगर सारे हिंदुस्तान के शाइर जमा किये जाते तो उनकी तादाद लखनऊ के शाइरों से न बढ़ सकती। “मीर” और “सौदा” की पुरानी शाइरी बेकार हो चुकी थी। अब “नासिख” की ज़बान और “आतश” के खयालात दिमागों में बसे हुए थे जिनमें “रिद”



और "सहवा" की सुरा-सुंदरी विषयक शाहरी और नवाब मिर्जा "शौक" की मसनवियों ने विषय-वासना को बढ़ावा दिया था और इसी प्रकार के विषयों में बादशाह की रुचि थी और यही उनके स्वभाव के अनुरूप भी थे ।

इस्लामी शाहरी का रंग इस्लामी खिलाफत की पहली सदी तक तो यह था कि शाह एक खास औरत पर आशिक्र होते । उसका नाम ले-लेकर उसकी सुंदरता और उसकी अदाओं की चिंता कर्षकता का वर्णन करते और उससे संबोधन कर-करके अपनी बेचैनी और व्याकुलता जाहिर करते । अक्सर छिप-छिपकर उससे मिलते, मगर तहजीब और शिष्टता के दायरे से कभी कदम बाहर न निकालते । चंद रोज बाद अरब ही में माशूक गुमनाम हो गया और आमतौर पर शाहों का माशूक उनके खयाल का एक पुतला बन गया जिसे भोगी तो कोई सुंदर स्त्री या कोई सुंदर लड़का बताते मगर सूफी अन्योक्ति के माध्यम से उसे अपना प्रियतम यानी स्रष्टा बता देते । यही समोया हुआ, छिपा ढंका अंदाज फ़ारसी शाहरी में रहा और यही रुचि उस समय तक उर्दू शाहरी की भी थी, मगर नवाब मिर्जा शौक ने अपनी शाहरी को हसीन पर्दादार औरतों पर आशिक्र होकर उनके खराब करने का साधन बनाया । और क्रयामत यह थी कि उनकी मसनवियों की जबान ऐसी खूब-सूरत, बेतकल्लुफ़ और साफ़-सुथरी थी और उनमें प्रेम-प्रणय के भाव इतने ज्यादा भर गये थे कि सम्य और शिष्ट लोगों से भी बिना देखे और मजा लिये न रहा जाता ।

वाजिद अली शाह ने भी इन मसनवियों को देखा और चूँकि वे खुद शाह्र थे, इस रंग को अपनाकर अपने बहुत से प्रेमों और अपने जीवन की सैकड़ों असंगतियों को खुद ही शेर के रूप में ढालकर देश में फैला दिया और खुद अपने नैतिक अपराधों को स्वीकार कर लिया । मैं समझता हूँ कि बादशाह तो बादशाह वज़ीरों और अमीरों में भी विरले ही ऐसे रहे होंगे जिन्होंने युवा-वस्था में अपनी कामवासना जी भर के पूरी न की हो । मगर वाजिद अली शाह की तरह किसी ने अपने उन वेशर्मी के अपराधों को खुद ही लोगों के सामने पेश नहीं किया था । वाजिद अली शाह जोर में आये तो चाहे शाहरी में न बढ़ सकें मगर अपने भावों और विचारों और अपने कारनामों को दुनिया के सामने प्रकट करने में नवाब मिर्जा से भी दो कदम आगे निकल गये और यहां तक तरक्की की कि बाज़ मौकों पर उन्हें धृणित बाज़ारी



मझाक और अश्लील शब्दों के प्रयोग में भी संकोच नहीं होता ।

वे कहारियों, रंडियों, दासियों, महल में आने-जानेवाली औरतों, गरज सैकड़ों औरतों पर मोहित हुए और चूँकि युवराज थे इसलिए अपने प्रेम में पूरी तरह सफल हुए । उनके प्रेम की शर्मनाक दास्तानें उनकी कविताओं तथा अन्य रचनाओं में खुद उनकी जवान से सुनी जा सकती हैं और यही कारण है कि इतिहास में उनका चरित्र सबसे अधिक अपवित्र और कलुषित नजर आता है ।

चूँकि इमारत का वेहद शौक था, इसलिए तख्त पर बैठते ही क़ैसर बाग की इमारत बनवाना शुरू कर दी, जो चाहे आसफ़उद्दौला की इमारतों की तरह मजबूत न हो, मगर खूबसूरती और शानदारी में लाजवाब है । इसमें बहुत ही सुंदर और शानदार दो मंजिली इमारतों का एक आयाताकार इलाका दूर तक चला गया था जिसका एक रुख जो दरिया की तरफ था ग़दर के बाद खोद डाला गया और तीन पहलू अब तक कायम हैं जिनको विभिन्न टुकड़ों में बांट कर गवर्नमेंट ने अवध के ताल्लुकादारों के हवाले कर दिया है और हुक्म दिया है कि उनमें रहें और उनको उसी स्थिति में कायम रखें ।

क़ैसरबाग का अंदरूनी सहन जिसमें पेड़-पौधे लगे हुए थे जिलौखाना (अस्तवल) कहलाता था । दरम्यान में पत्थर वाली बारहदरी थी जो आज-कल लखनऊ का टाऊन हाल है । उसमें और कई इमारतें भी थीं जिन्होंने जमीन के उस हिस्से को संसार की विलक्षण वस्तु बना दिया था । ये इमारतें क़ैसर बाग के पूर्वी फ़ाटक के बाहर थीं । लोगों को उस फ़ाटक से निकलते ही दोनों तरफ लकड़ी के पर्दे मिलते थे जिनमें से गुजरकर वे चीनी बाग में पहुंचते । वहां से बायें हाथ की तरफ मुड़कर आप जलपरियों के एक आलीशान फ़ाटक पर पहुंचते जिस पर प्रधान मंत्री नवाब अली नको खां का क़ायम रहता था ताकि हर वक़्त जहांपनाह से करीब रहें और ज़रूरत के वक़्त फ़ौरन बुलाये जा सकें । इस फ़ाटक के उस तरफ हज़रत बाग था और अंदर ही दाहिनी तरफ चांदी वाली बारहदरी थी । यह एक मामूली ईंट-चूने की इमारत थी मगर छत में चांदी के पत्तर जड़े होने की वजह से चांदी वाली बारहदरी कहलाती थी । इसी से लगी हुई कोठी 'खास मक़ाम' थी जिसमें खुद जहांपनाह सलामत रहते और वहीं नवाब सम्राट अली खां की बनायी हुई पुरानी कोठी 'बादशाह मंजिल' थी ।



फिर इन लकड़ी के स्कीनों के गलियारे से निकलकर दूसरी तरफ मुड़िए तो पेचीदा इमारतों का एक सिलसिला दूर तक चला गया था जो चौलक्खी के नाम से मशहूर थी। इन इमारतों की बुनियाद हुजुरी नाई अजीमउल्लाह ने रखी थी जिन्हें बादशाह ने चार लाख रुपये देकर मोल लिया था। नवाब की खास बेगम और दूसरी प्रतिष्ठित पत्नियां इसमें रहती थीं। इसी के अंदर गदर के जमाने में हज़रत महल का क़ायम रहा और यहीं उनका दरबार हुआ करता था।

यहां से एक सड़क क़ैसर बाग़ की तरफ आयी थी जिसके किनारे एक बड़ा भारी सायादार दरख्त था। इसके नीचे आसपास संगमरमर का एक सुंदर गोल चबूतरा बनाया गया था जिस पर क़ैसर बाग़ के मेलों के जमाने में जहांपनाह जोगी बनकर और गेरुए कपड़े पहनकर आते और धूनी रमाकर बैठते। इस चबूतरे से आगे बढ़कर एक आलीशान फाटक था जो चौलक्खी फाटक कहलाता था इसलिए कि उसके बनने में एक लाख रुपये खर्च हुए थे और इससे बढ़कर आप फिर क़ैसर बाग़ में आ जाते। क़ैसर बाग़ की इमारत में सल्तनत के अस्सी लाख रुपये खर्च हुए थे और उसके चारों तरफ की इमारतों में जहांपनाह की बेगमों और परियों जैसी सुंदर स्त्रियां रहती थीं जिनकी जगह अब अजीब-ग़रीब सूरतों को देखकर बाज़ पुराने जमानेवाले कह उठा करते हैं :

परीनहुप्ता रुखां-ओ-देव दरकरिश्मा-ओ नाज़

बसोख्त अक्लज हैरत कि ईचे बुलअजबीस्त<sup>1</sup>

क़ैसर बाग़ के पश्चिमी फाटक के बाहर रौशनउद्दौला की कोठी थी। उसे वाजिद अली शाह ने ज़ब्त करके उसका नाम 'क़ैसर पसंद' रख दिया था और उनकी एक प्रेमिका नवाब माशूक महल उसमें रहती थीं। अब उसमें डिप्टी कमिश्नर साहब की अदालत है। उसके सामने और क़ैसर बाग़ के उस पश्चिमी पहलू पर भी एक दूसरा अस्तबल था।

साल में एक बार क़ैसर बाग़ में एक शानदार मेला होता था। जिसमें पब्लिक को भी क़ैसर बाग़ में आने और जहांपनाह की विलासिता का रंग देखने का मौक़ा मिल जाता था। बादशाह ने श्रीकृष्णजी का रास, जो हिंदुओं

<sup>1</sup>परी ने अपना चेहरा छिपा लिया है और देव (राक्षस) नाज़-नखरे दिखा रहा है। अक्ल हैरान है कि यह सब कैसे हुआ ?



में प्रचलित है, देखा था और श्रीकृष्णजी की प्रणय-लीला ऐसी पसंद आ गयी थी कि इस रास से डामे के तौर पर एक खेल बनाया था जिसमें खुद कन्हैया बनते, वेगमें गोपियां बनतीं और नाच-रंग की महफिलें गर्म होतीं। कभी जवानी के जोश में आकर जोगी बन जाते, मोतियों को जलाकर भभूत बनायी जाती जिसके कारण फक्कीरी में भी शाही के करिश्मे नज़र आते। मेले के जमाने में इन सभाओं में शामिल होने के लिए ग्राम शहरियों को इजाज़त हो जाती। लेकिन शर्त यह थी कि गेरुए कपड़े पहन कर आयें। नतीजा यह होता था कि अस्सी-अस्सी बरस के बुढ़े भी काशाय पहनकर छेला बन जाते और बादशाह की जवानी की आनंद-मदिरा से अपने बुढ़ापे का जाम भर लेते।

यही रंग चला जाता था और लखनऊ में बड़ी बेफ़िक्री के साथ रंगरेलियां मनाई जा रही थीं कि ब्रिटिश सरकार को रेज़िडेंटों ने यहां के हालात से आगाह किया और वहां के बोर्ड ने यह फ़ैसला कर दिया कि अवध प्रदेश का राज्य ब्रिटेन में शामिल कर लिया जाये। इस हुक्म की तामील के लिए अंग्रेज़ फ़ौज लखनऊ में आई और यकायक उम्मीद के खिलाफ़ बादशाह को हुक्म सुनाया गया कि, “आपका राज्य अंग्रेज़ साम्राज्य में शामिल कर लिया गया है। आपके लिए बारह लाख रुपया सालाना और आपके तुलसी लश्कर<sup>1</sup> के लिए तीन लाख रुपया सालाना पेंशन जो आपकी और आपके आश्रितों की ज़रूरतों के लिए बहुत काफी है मुक़रर की गयी है और आपको इजाज़त है कि शहर के अंदर आराम से बेफ़िक्रे बनकर बैठिये और रिआया की फ़िक्रों से आज़ाद होकर बेघड़क रंगरेलियां मनाइये।” यह हुक्म सुनते ही शहर में सन्नाटा हो गया। खुद बादशाह ने रो-धोकर बहुत कुछ माफ़ी-तलाफी की। बादशाह की मां और खास महल ने वकालत का भी हक़ अदा किया लेकिन गवर्नर जनरल बहादुर के हुक्म में रहबदल करना रेज़िडेंट साहब के इस्ति-यार से बाहर था। ईस्ट इंडिया कंपनी की गवर्नमेंट ने बिना किसी विरोध के अवध प्रांत पर कब्ज़ा कर लिया और बादशाह अपनी मां, युवराज, खास वेगमात और सच्चे साथियों को लेकर कलकत्ता रवाना हुए कि इंग्लैंड जाकर अपील करें और अपनी बेगुनाही साबित करके सत्तनत के खात्मे के हुक्म को मंसूख करायें।

<sup>1</sup> बादशाह की गद्दीनशीनी से संबद्ध सेना।



वाजिद अली शाह की यह बड़ी खुशनसीबी थी कि ताज-तख्त से जुदा होते ही आखिर 1856 ई० में लखनऊ छोड़कर कलकत्ता की तरफ रवाना हो गये ताकि अपने मामले में बाज़ाबता पैरवी करें और गवर्नर जनरल हिंद के दरबार से कामयाबी न हो तो लंदन पहुंच कर मुकदमे को पार्लमेंट और इंग्लिस्तान की मल्का के सामने पेश कर दें। चुनांचे जब कलकत्ता में काम न निकला तो इंग्लिस्तान जाने का इरादा किया मगर हकीमों ने समुद्र यात्रा बादशाह के लिए नुकसानदेह बनाई और उनके सलाहकारों ने रोका। नतीजा यह हुआ कि खुद बादशाह तो कलकत्ता ही में ठहर गये मगर अपनी मां और भाई के साथ युवराज को इंग्लैंड भेज दिया। इस सफ़र में मेरे नाना मुंशी कमरउद्दीन साहब भी उस अभागे बादशाही काफिले के साथ थे। बादशाह ने अंग्रेज सरकार का प्रस्तावित वेतन लेने से इंकार कर दिया था और अड़े हुए थे कि हम तो अपना ताज-तख्त ही लेंगे जो बेकसूर छीना गया है।

बादशाह कलकत्ता में थे, इनका खानदान लंदन में था और मामले पर अभी विचार हो रहा था कि यकायक कारतूसों के भगड़ों और गवर्नमेंट की ज़िद ने 1857 ई० में गदर पैदा कर दिया और मेरठ से बंगाल तक ऐसी आग लगी कि अपने-पराये सबके घर जल उठे। और ऐसा हंगामा पैदा हुआ कि हिंदुस्तान में ब्रिटिश गवर्नमेंट की बुनियाद ही हिलती नज़र आती थी। जिस तरह मेरठ वगैरा के बागी हर तरफ से सिमटकर दिल्ली में जमा हुए थे और शाह ज़फ़र को हिंदुस्तान का शहशाह बनाया था, वैसे ही इलाहाबाद और फ़ैजाबाद के विद्रोही मई 1857 ई० में पूरे जोश के साथ लखनऊ पहुंचे। उनके आते ही यहां के भी बहुत से बेफ़िक्रे उठ खड़े हुए और अवध के शाही खानदान का और कोई सदस्य न मिला तो वाजिद अली शाह के एक दस बरस के नाबालिग बच्चे मिर्जा वीरजीस क़द को तख्त पर बिठा दिया और उनकी मां नवाब हज़रत महल सल्तनत की मुख्तार बनीं। थोड़ी-सी अंग्रेज़ फ़ौज जो यहां मौजूद थी और उसके साथ यहां तमाम योरुपियन ओहदेदार जो बागियों के साथ से बच सके बेनी ग़ारद में क़िलाबंद हो गये जिसके पास बागियों के पहुंचने से पहले ही क़िले बना लिये गये थे और सुरक्षा का काफ़ी



प्रबंध कर लिया गया था। गनीमत हुआ या यह कहिए कि किस्मत अच्छी थी कि वाजिद अली शाह लखनऊ से जा चुके थे वरना वही खाहमखाह बादशाह बनाये जाते। उनका हथ जफ़र शाह से भी बदतर होता और अवध के अभागों को ज़रा पनपने के लिए मटिया बुर्ज के दरबार का जो क्षणिक सहारा मिल गया था वह भी न नसीब होता।

अब लखनऊ में अंग्रेज़ों की वासी फ़ौज के अलावा अवध के अक्सर ज़मींदार और ताल्लुकेदार और बादशाह के ज़माने में अलग किये गये सिपाही बहुत बड़ी संख्या में मौजूद थे। उनमें शहर के बहुत से व्यभिचारियों और हर वर्ग के लोगों का तूफ़ाने-बेतमीज़ी भी शरीक हो गया था। मालूम होता था कि थोड़े से अंग्रेज़ों पर असंख्य विद्रोही टूट पड़े हैं। मगर फ़र्क़ यह था कि घेरा डालनेवालों में सिवाय शहर के लफंगों और अपने को बहादुर समझनेवाले थोथे और उद्दंड लोगों के एक भी ऐसा व्यक्ति न था जो युद्ध कला से परिचित हो और सारी विखरी हुई शक्तियों को एकत्र करके एक बाज़ावा फ़ौज बना सके। इसके विपरीत अंग्रेज़ अपनी जान पर खेलकर अपनी रक्षा करते, सिर हथेली पर रखकर हमलावरों को रोकते थे और आधुनिक युद्ध कौशल से अच्छी तरह परिचित थे।

अब लखनऊ में विरजीस क़द्र का ज़माना और हज़रत महल की हुकूमत थी। विरजीस क़द्र के नाम का सिक्का जारी हुआ, सल्तनत के ओहदेदार मुक़र्रर हुए, सूबे से मालगुजारी बसूल होने लगी और सिर्फ़ मनोरंजन के लिए घेरा डालने की कार्रवाई भी जारी थी। लोग हज़रत महल की तत्परता और नेकी की तारीफ़ करते हैं। वे सिपाहियों की बहुत क़द्र करतीं और उनके काम और हौसले से ज़्यादा इनाम देती थीं। मगर इसका क्या इलाज कि यह मुमकिन न था कि वे खुद पर्दे से निकल कर फ़ौज की सिपहसालार बन जातीं। उनके सलाहकार अच्छे न थे और सिपाही काम के न थे। हर व्यक्ति स्वार्थी था और कोई किसी का कहना न मानता था। अंग्रेज़ फ़ौज के वासी इस घमंड में थे कि यह सब कुछ हमारी ही वजह से है, असली शासक हम ही हैं और जिसके सिर पर जूता रख दें वही बादशाह हो जाये। एहमदउल्लाह नाम के एक शाह साहब जो फ़ौज़ाबाद के वाग़ियों के साथ आये थे और कई लड़ाइयों में लड़ चुके थे, वह अपना रोब जमा रहे थे। बल्कि खुद अपनी हुकूमत त्रायम करना चाहते थे। विरजीस क़द्र के मुक़ाबिले पर लखनऊ ही में उनका



दरबार अलग कायम था और दोनों दरबारों में राजनीतिक विरोध के साथ शीआ-सुन्नी का भगड़ा और तास्सुब भी सामने आने लगा। गरज बादशाह और शाह साहब में शत्रुता बढ़ती जाती थी। आखिर उसी साल नवंबर के महीने में विरजीस क़द्र की गद्दीनशीनी को छह-सात महीने ही हुए थे कि अंग्रेज़ फ़ौज लखनऊ पर क़ब्ज़ा करने के लिए आ गयी जिसके साथ पंजाब के सिख और भूटान के पहाड़ी भी थे और कहा जाता है कि उन्हीं लोगों ने ज्यादा जुल्म किये। दो ही तीन दिन की गोलाबारी में नयी सल्तनत का जो निशान नज़र आया था, मकड़ी के जाले की तरह टूटकर रह गया। हज़ारों भगोड़ों के साथ हज़रत महल और विरजीस क़द्र नेपाल की तरफ भागे। शाह साहब ने दो-तीन दिन लड़-लड़ कर हालांकि विरजीस क़द्र के लिए आज़ादी से भागने का मौका पैदा कर दिया, मगर खुद अपनी जान न बचा सके। हार खाकर भागे। वाड़ी और मुहम्मदो होते हुए पवाई में पहुंचे। वहां किसी ने गोली मार दी। पवाई के राजा ने सिर काटकर अंग्रेज़ों के पास भेजा और बदले में इनाम और जागीर पायी।

आबादी को वाशियों से साफ करने के लिए अंग्रेज़ों ने शहर में सख्त गोलाबारी की। सारी रियाया घबरा उठी, मर्द-औरतें घर छोड़कर भागीं और एक ऐसी क़यामत आ गयी कि जिन लोगों ने देखा है आज तक याद करके कांप जाते हैं। मुहल्ले की बैठने वालियां जिन की सूरत कभी सूरज तक ने न देखी थी तंगे पैर जंगलों की खाक छानती फिरती थीं। बेकसी में एक-एक का दामन पकड़ती थीं और जो मिलता था दुश्मन ही मिलता था और 'सादी' का यह मिसरा पूरी तरह चरितार्थ हो रहा था कि "यारां फ़रामोश करदंदा इश्क" (प्रेमी प्रेम करना भूल गये)। इसी हालत में विजेता सेना ने शहर को लूटा और जब सब कुछ नष्ट हो गया तब कहीं खुदा-खुदा करके लोगों को फिर अपने घरों में आने की इजाज़त मिली। अब एक तहल्के के बाद जो शांति स्थापित हुई थी वह आज तक कायम है और रोज़-बरोज़ तरक्की करती जाती है। लेकिन पुरानी सल्तनत के कर्ता-धर्ता और बादशाह के रिश्तेदार और दोस्त, जो सल्तनत के खात्मे के बाद बिल्कुल बेकार हो गये और नयी सल्तनत से फ़ायदा उठाने की योग्यता न रखते थे, मिटते ही चले गये। चुनांचे बड़े-बड़े धनवान और प्रतिष्ठित घरानों के बरवाद होने का सिलसिला मुद्दत तक बराबर जारी रहा। मुहल्ले के मुहल्ले उजड़ते चले जाते



थे और खानदान के बाद खानदान मिट रहा था और अक्सर लोगों को यकीन हो गया था कि चंद रोज़ के बाद लखनऊ का नामो-निशान भी बाकी न रहेगा। लेकिन आखिरकार अंग्रेज़ सरकार की वह नीति जिसके कारण दुनिया में अंग्रेज़ों ने अपने उपनिवेश कायम किये हैं, सफल हुई और लखनऊ उस समय की दुर्घटनाओं से बच निकला और पनपने लगा। जिन्हें मिटना था मिट गये और जो बाकी रहे वे संभलने योग्य हो गये और अगर मि० बटलर जैसे कुछ और अधिकारी लखनऊ को मिल गये तो उम्मीद है कि आइंदा बहुत तरक्की करेगा।

ज़रूरत मालूम होती है कि घटनाओं के इसी क्रम में हम वाजिद अली शाह की बाकी जिंदगी और कलकत्ता में उनके प्रवास के समय के हालात भी अपने पाठकों के सामने पेश कर दें क्योंकि बिना इसके यह इतिहास पूरा नहीं हो सकता। कलकत्ता में खुद हमारा बचपन बादशाह की छत्रछाया में गुज़रा है और अगर पिछली बातें हमने लोगों से सुनकर और इतिहास के पन्नों में पढ़ कर बयान की हैं तो आइंदा आंखों देखे हालात बयान करेंगे।

कलकत्ता से तीन-चार मील की दूरी पर दक्षिण की ओर हुगली नदी किनारे “गार्डन रिज” नामक एक शांत मुहल्ला है और चूंकि वहां मिट्टी का एक तीदा-सा था, इसलिए आम लोग इसे मटिया बुर्ज कहते हैं। यहां कई आलीशान कोठियां थीं जिनकी ज़मीन दरिया के किनारे-किनारे लगभग दो ढाई मील तक चली गयी है। जब वाजिद अली शाह कलकत्ता पहुंचे तो गवर्नमेंट आफ इंडिया ने ये कोठियां उन्हें दे दीं : दो ख़ास बादशाह के लिए, एक नवाब ख़ास महल के वास्ते और एक अली नक़ी ख़ां के रहने के लिए जो बादशाह के साथ थे और उनके गिर्द ज़मीन का एक बड़ा टुकड़ा, जो चौड़ाई में नदी के किनारे से लगभग मील-डेढ़ मील तक चला गया था और उसका हल्का छह-सात मील से कम न होगा, बादशाह को अपने और अपने कर्म-चारियों के निवास के लिए दिया गया। म्युनिसिपैलिटी की सड़क इस रकबे की लंबाई के बीच से गुज़रती थी। वे दो कोठियां जो बादशाह को दी गयी थीं उनके नाम बादशाह ने “मुल्तान ख़ाना” और “असद मंज़िल” करार दिये। नवाब ख़ास महल की कोठी पर जब बादशाह ने कब्ज़ा कर लिया तो उसका नाम “मुरस्सा मंज़िल” रखा और अली नक़ी ख़ां की कोठी आखिर तक उन्हीं के कब्ज़े में रही और उनके बाद उनकी औलाद, ख़ासतौर से नवाब



अख्तर महल के कब्जे में रही जो अली नक़ी खां की बेटी और बादशाह की खास बीबी बल्कि उनके दूसरे युवराज मिर्जा खुशबख्त बहादुर की मां थीं।

गदर के जमाने में अंग्रेज़ फ़ौज के वाणी अफ़सरों ने इरादा किया कि अगर बादशाह उनके शासक बनें तो वे कलकत्ता में गदर कर दें। मगर बादशाह ने गवर्नमेंट आफ़ इंडिया के मामले में यह नीति उस समय भी न अपनायी थी जब उन्हें गद्दी से उतारा गया था और न अब पसंद की बल्कि लाट साहब को उन लोगों के इरादे की इत्तिला कर दी जिस पर उन्हें घन्यवाद दिया गया। मगर दो ही चार रोज़ के बाद मुनासिव समझा गया कि बादशाह को फ़ोर्ट विलियम में रखा जाये ताकि फिर कभी वाणी उन तक न पहुंच सकें। लंदन में उनकी ओर से जो मुक़दमा पेश था वह इस कारण से मुलतवी कर दिया गया कि जिस देश के लिए यह दावा है वह अब हमारे कब्जे में ही नहीं, जब उस पर फिर ब्रिटिश साम्राज्य का अधिकार होगा तब देखा जायेगा।

बादशाह हिरासत ही में थे कि लखनऊ का उपद्रव शांत हो गया और मसीहउद्दीन खां ने, जो लंदन में बादशाह के मुख्तार-ए-आम थे, फिर अपना दावा पेश किया। उन्हें शुरू-शुरू में कामयाबी और सल्तनत की बहाली की पूरी उम्मीद थी मगर बदकिस्मती से उन लोगों में जो किले में बादशाह के सलाहकार और मुसाहिब थे—चाहे किसी बाह्य प्रेरणा से या खुद अपने फ़ायदे के खयाल से—एक साज़िश हुई। उन लोगों ने सोचा कि अगर मसीहउद्दीन खां मुक़दमा जीत गये तो हमें कौन पूछेगा और बस वही वह रह जायेंगे। लिहाजा सबने बादशाह को समझाना शुरू किया कि “जहांपनाह, भला कभी किसी ने मुल्क लेकर दिया है? मसीहउद्दीन खां ने हुजूर को धोखे में डाल रखा है। होना-हवाना कुछ नहीं है और जहांपनाह मुफ़्त में तकलीफ़ उठा रहे हैं। डेढ़-दो साल से तनख़्वाह नहीं ली है, हर बात की तंगी है और हम सरकार के नौकर भी पैसे-पैसे को मोहताज हैं। मुनासिव यह है कि हुजूर अंग्रेज़ सरकार के प्रस्तावों को मान लें और तनख़्वाह वसूल करके इत्मिनान और बेफ़िक़्री से अपनी बेग़मात और सरकारी नौकरों के साथ ज़िदगी बसर फरमायें।” बादशाह को खर्च की तंगी थी और बादशाह से ज़्यादा उनके साथी परेशान थे। मुसाहिबों ने जब बार-बार यह सुझाव दुहराया तो उन्होंने बिना झिझक के वाइसराय को लिख भेजा, “मुझे अंग्रेज़ सरकार की प्रस्तावित पेंशन स्वीकार



है, लिहाजा मेरी इस वक्त तक की तनख्वाह दी जाये और मुकदमा जो लंदन में दायर है, खारिज किया जाये।" जवाब मिला, "अब आपको पहले तो पिछले दिनों की पेंशन नहीं दी जायेगी, सिर्फ इस वक्त से पेंशन जारी होगी। दूसरे सिर्फ बारह लाख रुपये सालाना दिये जायेंगे और जो तीन लाख रुपये सालाना आपके मुलाजिमों के लिए तय किये गये थे अब उनके देने की जरूरत नहीं समझी जाती।"

अधिक संभावना तो यह थी कि बादशाह इस नुकसान को बरदाश्त नहीं करते, मगर मुसाहिबों ने इस पर भी राजी कर दिया। गवर्नमेंट आफ इंडिया ने इंग्लिस्तान में इत्तला दी कि वाजिद अली शाह ने सरकार के प्रस्ताव स्वीकार कर लिये, लिहाजा उनका मुकदमा खारिज किया जाये। ये घटनाएं मैने खुद अपने नाना मुंशी क्रमरउद्दीन साहब की जवान से सुनी हैं जो बादशाह के साथ गये दफ्तर के मीर मुंशी और मौलवी मसीहउद्दीन खां के नायब-ए-खास थे और कुल कारंवाइयां उन्हीं के हाथ से अमल में आती थीं। बादशाह के पेंशन पर राजी हो जाने की खबर जैसे ही लंदन पहुंची, मसीहउद्दीन खां के होश जाते रहे। बादशाह की मां, उनके भाई और युवराज ने सिर पीट लिया और हैरान थे कि यह क्या ग़ज़ब हो गया। अफ़सोस इस वक्त तक का सब किया-धरा खाक में मिला जाता है। आखिर मसीहउद्दीन खां ने सोचते-सोचते एक बात पैदा की और पार्लमेंट में यह कानूनी आपत्ति पेश की कि "बादशाह फ़िलहाल गवर्नमेंट आफ इंडिया की हिरासत में हैं और ऐसी हालत में उनका कोई बयान विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।" आपत्ति ठीक ही थी और मान ली गयी। गवर्नमेंट आफ इंडिया को बादशाह के मुस्तार की आपत्ति की सूचना दी। साथ में मसीहउद्दीन खां और शाही खानदान के सभी सदस्यों ने बादशाह को लिखा : "यह आप क्या ग़ज़ब कर रहे हैं ? हमें अबध का राज्य वापस मिलने की पूरी उम्मीद है।" अब ग़दर खत्म हो चुका था। गवर्नमेंट ने बादशाह को छोड़ दिया और खुशी-खुशी क़िले से निकल कर मटिया बुर्ज में आये और आज़ादी हासिल हुई ही थी कि मुसाहिबों ने अर्ज़ किया, "हुज़ूर ! मसीहउद्दीन खां लंदन में यह कह रहे हैं कि जहंपनाह ने तनख्वाह लेने को सिर्फ़ क़ैद होने की वजह से मंज़ूर कर लिया है।" यह सुनते ही बादशाह ने उत्तेजित होकर उसी वक्त लिख भेजा कि, "हमने आज़ादी से और अपनी रज़ामंदी से गवर्नमेंट के प्रस्ताव को स्वीकार किया है और



मसीहउद्दीन खां का यह कहना बिल्कुल ग़लत है कि हमने क़ैद में होने या किसी जोर-ज़बरदस्ती की वजह से मंजूरी दी है। लिहाज़ा हम आइंदा के लिए उस मुल्तारनामे ही को मंसूख किये देते हैं जिसके अनुसार वे हमारे मुल्तार-ए-आम बनाये गये हैं।”

अब क्या था, सारी कार्रवाई ख़त्म हो गयी। बादशाह मटिया बुर्ज में रंगरेलियां मनाने लगे, मुसाहिबों के घरों में धन बरसने लगा और शाही खानदान का अभागा काफ़िला जो इंग्लिस्तान में पड़ा हुआ था, करीब-करीब वहीं तबाह हो गया। अक्सर साथियों ने साथ छोड़ दिया, बादशाह की मां इस सदमे से बीमार हो गयीं और इसी बीमारी में चलीं कि फ्रांस से होती हुई मुस्लिम तीर्थ स्थानों में जायें और उनके दर्शन लाभ करके कलकत्ता पहुँचें। मगर मोत ने पेरिस के आगे क़दम न बढ़ने दिया, वहीं उनका निधन हो गया। फ्रांस के उस्मानी दूतावास की मस्जिद के पास मुसलमानों का एक क़ब्रिस्तान है उसी में दफ़न हुईं। मिर्ज़ा सिकंदर हश्मत को मां के मरने का ऐसा सदमा हुआ कि मां के मरते ही खुद भी बीमार पड़ गये और मां के चौदह-पंद्रह रोज़ बाद वे भी मां के बराबर लिटा दिये गये। सिर्फ़ युवराज कलकत्ता वापस आकर मां-बाप से मिले।

कहते हैं कि शुरू-शुरू में मटिया बुर्ज में भी बादशाह की ज़िंदगी बहुत सुभ्रवूभ और होशियारी की थी। यह हालत देखकर पास-पड़ोस के लोगों ने कुछ ब्राह्मण लाकर दे दिये, फौरन ‘ऊँघते को ठेलते का बहाना’ कहावत चरितार्थ हुई और आनंद-मंडली वहाँ भी जमा होने लगी। हिंदुस्तान के अच्छे-अच्छे गवैये आकर नौकर हुए और मटिया बुर्ज में संगीतकारों का ऐसा जमघट हो गया कि और किसी जगह न था।

सुंदर स्त्रियों के एकत्र करने और प्रेम-प्रणय की क्रियाओं में फंसे रहने का वहाँ भी वैसा ही शौक था जैसा कि लखनऊ में सुना जाता है, मगर मटिया बुर्ज में इस शौक में कुछ मज़हबी एहतियात भी बरती जाने लगी। बादशाह शीआ थे और शीओ के धर्म में मुत्त्रा<sup>1</sup> बिना किसी रोक-टोक के जायज़ है। इस मज़हबी आज़ादी से फ़ायदा उठाकर बादशाह जी भर के अपना शौक पूरा कर लेते और क़ायदा था कि ऐसी औरत की, जिसके साथ मुत्त्रा न हुआ हो, सूरत देखना भी पसंद न करते। यह एहतियात इस हद तक

<sup>1</sup> एक निश्चित अवधि के लिये किया गया विवाह।



बढ़ी हुई थी कि एक जवान भिश्तन जो बादशाह के सामने जनाने में पानी लाती उसे भी मुत्त्रा करके उसे नवाब आबरसां बेगम का खिताब दे दिया। एक जवान भंगन जिसकी हुजुरी में आमद-रफ्त रहती उसे भी मुत्त्राशुदा बेगमात में शामिल करके नवाब मुसपफा बेगम का खिताब दिया गया। इसी तरह संगीत का शौक भी मुत्त्राशुदा औरतों तक ही सीमित रहता। शायद ही कभी ऐसा रहा होगा कि बादशाह ने कभी किसी बाज़ारी वैश्या का मुजरा देखा हो। खुद मुत्त्राशुदा बेगमों की पार्टियां बना दी गयी थीं जिन्हें विभिन्न प्रकार के नृत्य-गान की शिक्षा दी जाती थी। एक राधा मंज़िल-वाल्यां, एक भूमरवाल्यां, एक लटकनवाल्यां, एक शारदा मंज़िलवाल्यां, एक नथवाल्यां, एक घूंघटवाल्यां, एक रासवाल्यां, एक नकलवाल्यां और इसी तरह के बीसों गिरोह थे जिनको नाच-गाने की ऊंची शिक्षा दी गयी थी और उन्हीं के नाच-गाने में उनका दिल बहलता था। उन सबसे मुत्त्रा हो गया था, बेगमें कहलाती थीं और दो-एक गिरोहों में अगर कुछ कम उम्र और नाबालिग लड़कियां ऐसी थीं जिनके साथ मुत्त्रा नहीं हुआ था तो उसकी वजह यह थी कि उनके बालिग होने पर उनके साथ मुत्त्रा कर लिया जायेगा। उनमें से अधिकतर खुद बादशाह के करीब खास सुल्तानखाने में रहतीं और बाज़ को दूसरी कोठियों में अलग महल सरायें मिली थीं। इन मुत्त्राशुदा औरतों में से जिनके संतान हो जाती उनको 'महल' का खिताब दिया जाता, रहने को अलग महलसरा मिलती और उनकी तनख्वाह और इज्जत बढ़ जाती।

इससे साफ़ जाहिर है कि संगीत के अलावा और तमाम हैसियतों से बादशाह बड़े संयमी थे और धार्मिक सिद्धांतों का पालन करते थे। उनकी नमाज़ में कभी देर न होती थी, तीसों रोज़े रखते थे। अफ़ीम, शराब, फ़लक सैर या और किसी क्रिस्म के नशे से ज़िदगी भर परहेज करते रहे और मुह-रंम की मातमदारी बड़ी निष्ठा से किया करते थे।

तीसरा शौक उन्हें इमारत का था। सुल्तानखाने के पास बीसियों महल-सरायें बन गयीं और बहुत-सी नयी कोठियां और उनमें महलसरायें बनीं। गवर्नमेंट से सिर्फ़ सुल्तानखाना, असद मंज़िल और मुरस्सा मंज़िल मिली थी मगर बादशाह के शौक ने चंद ही रोज़ में बीसियों कोठियां बनवा दीं जिनके आसपास बहुत ही हरे-भरे और आनंददायक बाग़ थे। जिस वक़्त मैंने देखा है



बादशाह के कब्जे में निम्नलिखित आलीशान कोठियां थीं जो दक्षिण से उत्तर तक सिल-सिलेवार चली गयी थीं : सुल्तानखाना, क़स-उल-बैज़ा, गोश:-ए-सुल्तानी, शहंशाह मंज़िल, मुरस्सा मंज़िल, असद मंज़िल, शाह मंज़िल, नूर मंज़िल, तफ़रीह बरूश, बादामी, आसमानी, तहनीयत मंज़िल, हद्-ए-सुल्तानी सद्-ए-सुल्तानी, अदालत मंज़िल। इनके अलावा और भी कई कोठियां थीं जिनके नाम मुझे याद नहीं रहे।

इनके अलावा बागों के अंदर तालावों के किनारे बहुत से कमरे, बंगले और छोटे-छोटे महल थे। इन तमाम कोठियों, कमरों, बंगलों और महलों में साफ-सुथरा फ़र्श बिछा रहता, चांदी के पलंगों पर बिछौने और तकिये लगे रहते, तस्वीरें और तरह-तरह का फ़र्नीचर सजा होता और सिर्फ़ देखभाल के खयाल से ज़रूरत से ज्यादा मकानदार मुक़रर थे जो रोज़ झाड़ते और हर चीज़ को सफ़ाई और सलीक़े से सजाकर रखते। गरज़ हर कोठी अपने में इतनी सजी हुई नज़र आती कि इंसान चकित हो जाता। कोठियों के आसपास के बाग़ और चमन ऐसे अंकों और ज्यायिति की आकृतियों के अनुसार बनाये गये थे कि देखने वालों को बादशाह की स्थापत्य कला के प्रति स्वाभाविक रुचि पर आश्चर्य होता।

लखनऊ में तो बादशाह ने सिर्फ़ क़ैसर बाग़ और उसके पास की चंद इमारतें या अपने वालिद का इमामवाड़ा और मक़बिरा ही बनवाया था, मगर मटिया बुर्ज में बढ़िया और ऊंचे दर्जे की इमारतों का एक खूबसूरत शहर बसा दिया था। दरिया के उस पार मटिया बुर्ज के ठीक सामने कलकत्ते का मशहूर पौलिटिकल गाडन है मगर वह मटिया बुर्ज की दुनियावी जन्नत और उसकी अजीब-अजीब चीज़ों के सामने मिट गया था। इन तमाम इमारतों, बगीचों, कुंजों और विस्तृत हरी-भरी चारागाहों के गिर्द वुलंद दीवारों का अहाता था, मगर म्युनिसिपैलिटी के आम रास्ते के किनारे-किनारे लगभग एक मील तक शानदार दुकानें थीं और उनमें वही निचले दर्जे के नौकर रह पाते थे जिन्हें अपने फ़र्ज पूरे करने के लिए वहां रहने की ज़रूरत थी। मगर अंदर जाने का रास्ता सिवाय फाटकों के जिन पर पहरा रहता, किसी दुकान में नहीं रखा गया था। खास सुल्तानखाने के फाटक पर निहायत शानदार नौबतखाना था। नक्क़ारची नौबत बजाते और पुराने पहरों और घड़ियों के हिसाब से दिन-रात घड़ियां बजाया करते थे।



दुनिया में इमारत के शौकीन हजारों बादशाह गुजरे हैं मगर अपनी पसंद और शौक से किसी बादशाह ने इतनी इमारतें और इतने बाग न बनवाये होंगे जितने कि वाजिद अली शाह ने अपनी असफल जिदगी और नाममात्र की बादशाही के थोड़े से अर्से में बनवाये। शाहजहां के बाद इस संबंध में अगर किसी का नाम लिया जा सकता है तो वह इसी अत्याचार-ग्रस्त अवध-नरेश का नाम है। यह और बात है कि कोई खास इमारत सैकड़ों-हजारों साल तक बाक़ी रही और किसी की सैकड़ों इमारतें जमाने ने चंद ही रोज़ में मिटाकर रख दीं।

इमारत के अलावा बादशाह को जानवरों का शौक था और उस शौक को भी उन्होंने इस दर्जे तक पहुंचा दिया कि दुनिया उसका सानी पैदा न कर सकी और शायद किसी व्यक्ति की कोशिश उसके आधे दर्जे को भी न पहुंच सकी होगी।

नूर मंज़िल के सामने लोहे के एक सुंदर कटहरे से घेरकर एक लंबा-चौड़ा रास्ता बनाया गया था जिसमें सैकड़ों चीतल, हिरन और जंगली चीपाये छूटे फिरते थे। उसी के दरम्यान संगमरमर का एक पुख्ता तालाब था जो हर वक्त लबालब भरा रहता और उसमें शूतुरमुर्ग किशोरी,<sup>1</sup> फ़ील-मुर्ग,<sup>2</sup> सारस, क्राजें,<sup>3</sup> बगले, करकरे,<sup>4</sup> हंस, मोर, चकोर और सैकड़ों क्रिस्म के पक्षी और कछुवे छोड़ दिये गये थे। सफाई का ऐसा प्रबंध था कि मजाल क्या जो कहीं बीट या किसी जानवर का पर भी नज़र आ जाये। एक तरफ तालाब के किनारे कटहरों में शेर थे और उस चारागाह के पास ही लकड़ी के सलाखदार बड़े-बड़े खानों का एक सिलसिला शुरू हो गया था जिसमें बीसियों तरह के और खुदा जाने कहां-कहां के बंदर लाकर जमा किये गये थे जो अजीब-अजीब हरकतें करते और इंसान को बिना अपना तमाशा दिखाये आगे न बढ़ने देते।

हौजों में अनेक स्थानों पर मछलियां पाली गयी थीं जो इशारे पर जमा हो जातीं और कोई खाने की चीज़ डालिये तो अपनी उछल-कूद से खूब बहार दिखातीं। सबसे बढ़कर यह कि शहंशाह मंज़िल के सामने एक बड़ा-सा लंबा और गहरा हीज़ कायम करके और उसके किनारों को चारों तरफ से खूब

<sup>1</sup>छोटे पशु, <sup>2</sup>मोर की जाति का पक्षी, टर्की,

<sup>3</sup>बड़ी बत्ख, <sup>4</sup>एक सुंदर पक्षी।



चिकना करके और आगे की तरफ झुकाकर उसके बीच में एक कृत्रिम पहाड़ बनाया गया था जिसके अंदर सैकड़ों नालियां दौड़ाई गयी थीं और ऊपर से दो-एक जगह काटकर पानी का सोता भी बहा दिया गया था। उस पहाड़ी में हजारों कड़े-बड़े दो-दो, तीन-तीन गज के लंबे सांप छोड़ दिये गये थे जो बराबर दौड़ते और रेंगते फिरते। पहाड़ की चोटी तक चढ़ जाते और फिर नीचे उतर आते। मेढकें छोड़ी जातीं, उन्हें दौड़-दौड़ कर पकड़ते। पहाड़ के इर्द-गिर्द नहर की शान से एक नाली थी। उसमें सांप लहरा-लहरा कर दौड़ते और मेढकों का पीछा करते और लोग बिना किसी डर के पास खड़े सैर देखा करते। उस पहाड़ के नीचे भी दो कटहरे थे जिनमें दो बड़ी-बड़ी चीतें रखी गयी थीं। वे यों तो खामोश पड़ी रहतीं लेकिन जिस वक्त मुर्ग लाकर छोड़ा जाता उसे झपट कर पकड़तीं और पूरा-का-पूरा निगल जातीं। सांपों के रखने का इंतजाम इससे पहले शायद कहीं न किया गया होगा और यह खास वाजिद अली शाह का आविष्कार था जिसे यूरोप के पर्यटक आश्चर्य से देखते और उसकी तस्वीरें तथा उसका व्योरा लिखकर ले जाते थे।

उपर्युक्त जानवरों के अतिरिक्त हजारों पक्षियों के पीतल के पिंजरे खास सुल्तानखाने के अंदर थे। बीसियों बड़े-बड़े हाल थे जो लोहे के जाल से सुरक्षित कर दिये गये थे और गंज कहलाते थे। उनमें भांति-भांति के पक्षी बहुत अधिक संख्या में लाकर छोड़ दिये गये थे और उनके रहने और पलने-बढ़ने का पूरा सामान जुटाया गया था। बादशाह की कोशिश थी कि चरिद-परिद में से जितनी क्रिस्म के जानवर मिल सकें सब जमा कर लिये जायें और ऐसा पूरा, जिंदा चिड़ियाघर शायद संसार में और कहीं मौजूद न होगा। इन जानवरों को जुटाने में बेभ्रमक रुपया खर्च किया जाता और कोई शल्स नया जानवर लाता तो मुंह मांगे दाम पाता। कहते हैं कि बादशाह ने रेशमपरे कबूतरों का जोड़ा चौबीस हजार रुपये में और सफेद मोर का जोड़ा ग्यारह हजार रुपये में लिया था। जिराफ़ जो अफ्रीका का बहुत बड़ा और बहुत ही अजीब जानवर है, उसका भी एक जोड़ा मौजूद था। दो कोहान के बगदादी ऊंट हिंदुस्तान में कहीं नज़र नहीं आते लेकिन बादशाह के यहां थे। कलकत्ता में हाथी का नाम नहीं है मगर बादशाह के उस जिंदा नैचरल हिस्ट्री-म्यूजियम में एक हाथी भी था। सिर्फ़ इस ख्याल से कि कोई जानवर रह न जायें दो गधे भी चारागाह में लाकर छोड़ दिये गये थे। दरिदों में से शेर बबर,



देसी शेर, चीते, तेंदुए, रीछ, सियाहगोश,<sup>1</sup> चखें, भेड़िये सब कटहरों में बंद थे और उनकी बड़ी देखभाल रखी जाती थी।

कबूतरों का इंतजाम दूसरे जानवरों से अलग था। बादशाह की विभिन्न कोठियों में सब मिलाकर चौबीस-पच्चीस हजार कबूतर थे जिनके उड़ाने में कबूतरबाजों ने बड़े-बड़े कमाल दिखाये थे।

जानवरों पर जो खर्च हो रहा था उसका मामूली-सा अंदाजा इससे हो सकता है कि आठ सौ से ज्यादा जानवरबाज थे, तीन सौ के करीब कबूतरबाज थे, इतने ही मछली पालनेवाले थे और तीस-चालीस सांप पालनेवाले थे जिन्हें छह रुपया माहवार से लेकर दस रुपया माहवार तक तनख्वाहें मिलती थीं। अफसरों की तनख्वाहें तीस से बीस रुपये तक थीं और कबूतरों, सांपों और मछलियों के अलावा दीगर जानवरों की खुराक में कुछ कम हजार रुपये माहवार खर्च होते थे।

इमारत का काम ज्यादातर मूनिसउद्दौला और रेहानउद्दौला के सुपुर्द रहा जिन्हें इमारत की मद में लगभग पच्चीस हजार माहवार मिला करते थे।

हजार के करीब पहरों के सिपाही थे जिनकी तनख्वाहें आमतौर पर छह रुपये माहवार थीं, बाज-बाज आठ या दस रुपये भी पाते थे। यहीं तनख्वाह मकानदारों की थी जिनकी गिनती पांच सौ से ज्यादा थी। करीब अस्सी मुहर्रिर थे जो दस से तीस रुपये माहवार तक तनख्वाह पाते थे। प्रतिष्ठित मुसाहिबों और ऊँचे ओहदेदारों की संख्या चालीस-पचास से कम न होगी जो अठासी रुपये माहवार पाते थे। सौ से ज्यादा कहार थे।

इनके अलावा बीसियों छोटे-छोटे महकमे थे : बावर्चीखाना, आबदारखाना, भिंडीखाना, खसखाना और खुदा जाने क्या क्या। फिर एक मद मुत्त्राशुदा बेगमों के रिश्तेदारों और भाई-बंदों की थी जिन्हें उनकी हैसियत के मुताबिक तनख्वाहें मिलती थीं।

इन सब लोगों ने कोठियों के रकबे से बाहर, ज्यादातर इसी जमीन पर, जो बादशाह को दी गयी थी और बहुतें ने पास की दूसरी जमीनों पर मकान बना लिये थे और एक शहर बस गया था जिसकी मर्दुमशुमारी चालीस हजार से ज्यादा थी। उन सबकी जिंदगी का दारोमदार बादशाह की तनख्वाह के एक लाख रुपये माहवार पर था और किसी की समझ में न आता था कि इतने

<sup>1</sup> कुत्ते की जाति का एक पशु।



लोग इस थोड़ी-सी रकम में क्योंकर बसर कर लेते हैं। बंगाल में यह मशहूर था कि बादशाह के पास पारस पत्थर है—जब जरूरत होती है लोहे या तांबे को रगड़ कर सोना बना लिया करते हैं।

असल बात तो यह है कि बादशाह के रहने से कलकत्ता के पड़ोस में एक दूसरा लखनऊ आबाद हो गया था, असली लखनऊ मिट गया था और वहां के चुने हुए लोग मटिया बुर्ज में चले गये थे, बल्कि सच तो यह है कि उन दिनों लखनऊ लखनऊ नहीं रहा था, मटिया बुर्ज लखनऊ था। यही चहल-पहल थी, यही ज़बान थी, यही शाइरी थी, यही महफ़िलें और गनोरंजन की सामग्री थी। यहीं के विद्वान और संत थे, यहीं के अमीर और रईस थे और यहीं की जनता थी। किसी को नज़र ही न आता था कि हम बंगाल में हैं। यही पतंगबाज़ियां थीं, यही मुर्गबाज़ियां थीं, यही बटेरबाज़ियां थीं, यही अफ्रीमची थे, यही दास्ता-नगोई (कथा वाचन) थी और यही ताज़ियादारी थी, यही मर्सियाख्वानी थी, यही इमामबाड़े थे और यही कब्रला थी। बल्कि जिस शान-शौकत से बादशाह का खास ताज़िया उठता था लखनऊ में बादशाहों के समय में शायद उठ सका हो। ग़दर के बाद तो कभी कोई ताज़िया नहीं उठा सका। कलकत्ते के हज़ारों लोग और अंग्रेज़ तक ज़ियास्त (दर्शन) के लिए मटिया बुर्ज में आ जाते थे।

बादशाह अग्रचर्चे शीआ थे, मगर उनके स्वभाव में धार्मिक पक्षपात न था। उनका पुराना क़ौल था कि “मेरी दो आंखों में से एक शीआ है और एक सुन्नी है।” एक बार दो व्यक्तियों में धार्मिक मतभेद के कारण मारपीट हो गयी। बादशाह ने दोनों को निकाल देने का हुक्म दिया बल्कि अपने यहां उनका प्रवेश भी निषिद्ध कर दिया और फ़रमाया, “ऐसे लोगों का मेरे यहां गुज़र नहीं हो सकता।” आखिर में बादशाह की एक किताब में बाज़ ऐसे आपत्तिजनक शब्द छप गए थे जिन पर कलकत्ता के सुन्नियों में बड़ी हलचल मची मगर लोग यह नहीं जानते कि वे शब्द असल किताब में नहीं बल्कि दूसरों के इतिहास या समीक्षा में थे और बादशाह को ज्योंही पता चला, बिना किसी के कहे-सुने माफ़ी मांगने को तैयार हो गये। बेतास्सुबी का इससे ज़्यादा सबूत क्या होगा कि इतिज़ाम की सारी ज़िम्मेदार जगहें सुन्नियों ही के हाथ में थीं। प्रधान मंत्री मुंसरिमउद्दौला बहादुर सुन्नी थे, मुंशी उस्सुल्तान जो एक ज़माने में बादशाह के सबसे ज़्यादा निकट थे और सारे जानवरखाने, कुल मुहर्नारों और कई महकमों के बड़े अफ़सर थे, सुन्नी थे। बख़्शी अमानतउद्दौला बहादुर जिनके



हाथ से सारे नौकरों—यहां तक कि बेगमों और शाहजादों तक को—तनख्वाह मिलती थी, सुन्नी थे। इससे बढ़कर क्या होगा कि सिबैतनाबाद का इमाम-बाड़ा और खास इमामबाड़े 'बेतुलबक्का' का इंतजाम और मजलिसों और मजहबी समारोहों के आयोजनों की जिम्मेदारी भी सुन्नियों ही के हाथ में थी। वहां कभी किसी ने इसे महसूस ही नहीं किया कि कौन सुन्नी है और कौन शीआ है।

मटिया बुर्ज के दुकानदार और महाजन तक लखनऊ के थे और लखनऊ की कोई चीज़ न थी जो वहां मौजूद न हो। जिधर गुजर जाइये एक अजीब रीनक और चहल-पहल नज़र आती और उस जगह लोग इतने लीन, मस्त और बेसुध हो रहे थे कि किसी को यह ध्यान ही न था कि इस सब का अंजाम क्या होगा। शाही इमारतों और चारागाहों वगैरह के अंदर जाने की लखनऊ-वालों बल्कि मटिया बुर्ज के निवासियों को आम आजादी थी। बागों में टहलिये तो उससे ज़्यादा रमणीय स्थान कहीं न मिल सकता था। दरिया के किनारे खड़े हो जाइये तो अजीब सुखद दृश्य दिखायी देता था। कलकत्ता आने-जाने वाले जहाज़ सामने से होकर गुज़रते जो फ़ोर्ट विलियम की सलामी के लिए यहीं से अपनी झंडियां उतारना शुरू कर देते और लोग समझते कि बादशाह की सलामी ले रहे हैं। बेगमों की ड्योढ़ियों और महलसराओं के दरवाज़ों पर खड़े हो जाइये तो अजब धूमधाम में कभी-कभी ऐसी सूरतें नज़र आ जातीं और ऐसी सुंदर मुहाबरेदार भाषा और ऐसी प्यारी बातें सुनने में आ जातीं कि इंसान मुद्दतों बल्कि ज़िदगी भर मजे लिया करता।

आह ! यह सुंदर और चित्ताकर्षक दृश्य तो मिटने योग्य न था ! मगर हाय, समय के दुष्ट हाथों ने उसे मिटा ही दिया और ऐसा मिटाया मानो वह कभी था ही नहीं। 1887 ई० में सहसा बादशाह की आंखें मुंद गयीं और मालूम हुआ कि 'ख़्वाब था जो कुछ कि देखा, जो सुना अफ़साना था।' सब बातें ख़्वाब-ख़याल थीं। एक तिलिस्म था कि यकायक टूट गया और वह ख़ूब-सूरत अहाता जिसे देखने की तमन्ना योरुप के बादशाहों और हिंदुस्तान के राजाओं को रहा करती थी आज एक सुनसान जगह है जहां कुछ भी नहीं। जिसने उस अगले रंग को भी देखा था अब वहां के सन्नाटे को देखकर सिवाय इसके कि हसरत और दुख के साथ एक ठंडी सांस भर कर कहे, 'रहे नाम अल्लाह का !' और क्या कर सकता है।



इस दरबार के बादशाहों के इतिहास के बारे में अब सिर्फ इतना बताना बाकी है कि मिर्जा बिरजीस क़द्र बहादुर लखनऊ से भागे तो नेपाल की सरहद पर दम लिया। उनके साथ लगभग एक लाख आदमी थे। उन लोगों ने इरादा किया कि हिमालय की घाटियों में शरण लें और जब मौक़ा मिले, निकलकर अंग्रेज़ों पर हमला करें। जीत जायें तो अपने घर पहुंचें और हारें तो फिर भागकर पहाड़ों में जा छिपें। मगर यह निभनेवाली सूरत न थी। नेपाल राज्य न तो इतने आदमियों को अपने वहां शरण दे सकता था और न उनके लिए अंग्रेज़ों से लड़ सकता था। उसमें इतनी ताक़त ही न थी कि अंग्रेज़ों का मुक़ाबिला करता। लिहाज़ा नेपाल सरकार ने सिर्फ़ मिर्जा बिरजीस क़द्र और उनकी मां को शरण दे दी, लेकिन उनके साथियों को हुक़म दे दिया कि फ़ौरन वापस जायें और न जायें तो मार कर निकाल दिये जायें। नेपाल राज्य फ़ौरन उनसे ख़ाली करा लिया जाये। नतीजा यह हुआ कि सबके सब वहां से निकल-निकल कर भागे। बहुत से मारे गये, बहुत से भेस बदल-बदल कर किसी तरफ़ निकल गये और मिर्जा बिरजीस क़द्र मय अपनी वाल्दा के ख़ास नेपाल में जाकर रहने लगे। नेपाल दरबार से उनके लिए कुछ मामूली वज़ीफ़ा मुक़र्रर हो गया और कहते हैं उनके साथ जितने जवाहिरात थे सब नेपाल के खज़ाने की नज़ हो गये। आखिरकार हज़रत महल का वहीं निधन हो गया और उनके बाद महारानी विक्टोरिया की जुबिली के मौक़े पर ब्रिटिश साम्राज्य ने मिर्जा बिरजीस क़द्र का क़सूर माफ़ कर दिया, उन्हें वापस आने की इजाज़त मिली तो बिना किसी को इत्तला दिये नेपाल से भाग कर कलकत्ता पहुंचे। यहां वाजिदअली शाह का देहांत हो चुका था और बड़े युवराज होने की हैसियत से मिर्जा क़मर क़द्र सबसे ज़्यादा तनख़्वाह पा रहे थे। बिरजीस क़द्र ने दावा किया कि बादशाह के तमाम बेटों से ज़्यादा प्रतिष्ठित और अधिकारी मैं हूं। क़ानून के अनुसार बादशाह की पेंशन में से एक तिहाई घटाकर बाकी तनख़्वाह मुझे जारी की जाये और उनके तमाम बारिसों और रिश्तेदारों की ख़बरगिरी मेरे ज़िम्मे की जाये। इसकी पेंरबी में वे इंग्लिस्तान जाने की तैयारियां कर ही रहे थे कि उनके ख़ानदानवालों ही में से किसी ने दावत की। दावत से वापस आये तो



कै और दस्त जारी हो गये । आनन-फ़ानन हालत खराब हो गयी और एक ही दिन में वे, उनकी पत्नी और उनके बेटे सबकी ज़िदगी का खात्मा हो गया और दुनिया उस खानदान की उन तमाम यादगारों से खाली हो गयी जिन्होंने कभी तख्त-ताज की सूरत देखी थी ।

इस सबके बावजूद मटिया बुर्ज की चहल-पहल और उस नयी वस्ती की रौनक और आबादी ने ऐसी सूरत पैदा कर दी थी कि अगर यह स्थान दुर्घटनाओं की कुदृष्टि के प्रभाव से बच जाता तो मुद्दतों याद दिलाता रहता कि उस बदनसीब बादशाह के दरबार और उसके रिश्तेदारों की क्या शान-शौकत थी और उनका क्या स्तर था । मगर ब्रिटिश गवर्नमेंट की न्यायप्रियता ने वाजिदअली शाह की जायदाद बांट दी और उनके वारिसों के साथ ऐसा न्याय किया कि सारी जायदाद और सारा घर बेचकर जिसका जितना हिस्सा है उसके अनुसार बांट दिया जाये और जो कुछ है नक़द रुपये में बदल दिया जाये । इसका नतीजा यही हो सकता था कि मटिया बुर्ज की ईंट से ईंट बज गयी । लाखों का सामान कौड़ियों में बिक गया और वही अहाता जो कुछ ही दिनों में बाग़े-इरम<sup>1</sup> (शहाद का स्वर्ग) बन गया था, विनाश और पतन का नरक बन कर रह गया । अब तुम वहाँ जाकर खाक उड़ाओ कुछ नज़र न आयेगा । अगर आखें अगली रौनक और चहल-पहल को ढूँढती हों तो किसी इमरो-उल-क़ैस<sup>2</sup> को बुलाओ जो आंसू बहाता जाये और तुम्हें बताता जाये कि यहाँ मुरस्सा मंज़िल थी, यहाँ नूर मंज़िल थी, यहाँ सुल्तानखाना था और यहाँ असद मंज़िल थी । वहाँ मुशाइरे थे, वहाँ बड़े-बड़े विद्वानों की गोष्ठी होती थी, वहाँ बेतकल्लुफ़ दोस्त व्यंग्य-विनोद किया करते थे और वहाँ जादू का-सा असर रखनेवाले कवि और लेखक अपना कमाल दिखाते थे । उस जगह संसार की सुंदरियों का भुरमुट था, इस जगह नाच-गाने हुआ करते थे, उस जगह पर परी जैसी सुंदर स्त्रियों को गाने-नाचने की शिक्षा दी जाती थी और यहाँ जहाँपनाह अपनी सुंदर मुल्आशुदा बेगमों के बीच में बैठकर जश्न

<sup>1</sup> शहाद नामक बादशाह ने पृथ्वी पर ही एक कृत्रिम स्वर्ग बनवाया था जिसे बाग़े-इरम भी कहते हैं । कहते हैं वह उसमें प्रवेश करते समय घोड़े से गिरकर मर गया था ।

<sup>2</sup> इस्लाम-पूर्व युग का एक प्रख्यात कवि जिसने अपनी प्राचीन रंगशाला के विनाश का चित्रण बड़े मार्मिक शब्दों में किया था ।



मनाया करते थे। इस जगह अफ्रीमचियों के जमघट में दास्तान होती थी, इस जगह बटेरों की पालियां होती थीं। इस जगह कबूतर उड़ते थे और उस जगह कनकौवे के मैदान बदे जाते थे। इस ड्योढ़ी पर चंद्रमुखियां पर्दे से सिर निकाले भांकीती नज़र आती थीं, उस ड्योढ़ी पर मामा असीलों (रसोई बनाने वाली) की आमद-रफ्त से हर वक्त एक अजीब जोश-उत्साह रहता था। इस ड्योढ़ी पर खास शाइर हाज़िर रहते इसलिए कि महलसरा के मालिक को शाइरी से दिलचस्पी थी और उस ड्योढ़ी पर रोज़ रंगीन इबारत लिखनेवाले जवान लेखकों की तलाश रहती थी इसीलिए कि दूसरे-तीसरे यहां से एक नये रंग का तोदूनामा<sup>1</sup> जाकर बादशाह के हुज़ूर में पेश होता।

लेकिन मटिया बुर्ज के मिट जाने पर भी उस दरबार की हज़ारों यादगारें बाक़ी हैं। खुद लखनऊ शहर और उसकी सोसाइटी इस दरबार की याद दिला रही है और अवध का चप्पा-चप्पा उसकी महत्ता की याद दिलाता है, इसलिए कि इस पर जगह-जगह अतीत के राज्य के चिह्न बने हुए हैं। लखनऊ वालों की हर हरकत और अदा पिछले दरबार के सदस्यों का जीवित इतिहास है और उनकी चाल देखकर मुंह से हठात निकल जाता है, “ऐ गुल बतू खुर सनदम तू बूऐ कसे दारी” (ऐ फूल, मैं तुझ से खुश हूं, तुझ में किसकी गंध है)। लिहाज़ा इन प्राचीन अवशेषों की याद ताज़ा करने की गरज़ से अब हम यह बताना चाहते हैं कि इस दरबार के क़ायम होने से लखनऊ में जो सोसाइटी पैदा हो गयी थी वह क्या थी और उसने किस-किस तरह से हिंदुस्तान की संस्कृति पर असर डाल रखा था ?

हिंदुस्तान में उन दिनों फ़ारसी दरबारी ज़बान थी और हिंदुस्तानियों की संस्कृति ईरानी सभ्यता से प्रभावित थी। सफ़विद्या साम्राज्य के काल में ईरानियों का आम मज़हब शीआ इसना अशीरी हो गया था और हिंदुस्तान का मुग़ल सम्राट चंगताइया मज़हब-उल-मिन्नत का अनुयायी था मगर संस्कृति पर चूँकि फ़ारसी असर था इसलिए धार्मिक मतभेद के बावजूद जो ईरानी यहां आते उनका बड़ा सम्मान होता था। इसी शिष्ट व्यवहार के कारण नूरजहां बेगम जहांगीर के ताज-तख़्त की मालिक बन गयी थी। इसी की बदौलत दिल्ली के अधिकतर प्रतिष्ठित अधिकारी उस युग के अंत में शीआ थे और उसी की

<sup>1</sup> तोदूनामा उन खतों को कहते थे जो बेगमों जहांपनाह को भेजती थीं और जो आमतौर पर प्रेम-प्रणय से संबंधित होते थे।



वजह से अमीनउद्दीन खां नैशापुरी यहां पहुंचते ही नवाब बुरहान-उल-मुल्क बन कर गंगा के सारे विशाल क्षेत्र के मालिक हो गये। बुरहान-उल-मुल्क का प्रभाव और प्रभुत्व जितना बढ़ता गया और उन्नति करता गया उतने ही वे दिल्ली के विभिन्न क्षेत्रों के दक्ष लोगों के संरक्षक बनते गये। चूंकि उनकी और नवाब सफ़्दरजंग की ज़िदगी एक नये राज्य की बुनियाद डालने में बीती इसलिए सिवाय बहादुर सिपाहियों की कद्रदानी के उन्हें राष्ट्रीय संस्कृति और सामाजिक विषयों की ओर ध्यान देने की बहुत ही कम मोहलत मिली क्योंकि इन बातों का संबंध युद्ध और विजय के युग की अपेक्षा शांति और समृद्धि के युग से अधिक हुआ करता है।

लेकिन जब शुजाउद्दौला ने बक्सर की लड़ाई में हिम्मत हारने के बाद अंग्रेजों से नया समझौता किया और मजबूर होकर फ़ैजाबाद में खामोश बैठे तो अवध में एक नयी संस्कृति प्रारंभ हो गयी। इस लेख के शुरू में हम बता चुके हैं कि शुजाउद्दौला के जमाने में दिल्ली के बाकमाल लोग कितनी अधिक संख्या में वतन छोड़-छोड़ कर यहां आने लगे थे। दिल्ली से फ़ैजाबाद तक हर पेशे और हर वर्ग के लोगों के आने का कैसा तांता बंध गया था और सिर्फ़ नौ साल की मुद्दत में फ़ैजाबाद क्या से क्या हो गया था? शुजाउद्दौला के बाद नवाब आसफ़उद्दौला जब लखनऊ आकर रहे तो फ़ैजाबाद का जमा-जमाया अखाड़ा एकबारगी फ़ैजाबाद से उखड़कर लखनऊ में आ गया और दिल्ली के उच्च परिवारों और कला-प्रवीणों का जो दल फ़ैजाबाद जा रहा था, लखनऊ ही रोक लिया गया जो ठीक रास्ते में पड़ता था। और अंत में कुछ भद्रजन और शिल्पी जो फ़ैजाबाद में बेगमों की सरकारों में उलभे रह गये थे धीरे-धीरे वे भी लखनऊ में आ गये इसलिए कि आसफ़उद्दौला ने यहां धन-दौलत की ऐसी गंगा नहीं बहा रखी थी कि कोई सुनता और उसमें नहाने के शौक में एकदम न दौड़ पड़ता।

उन दिनों यों तो बहुत-सी हिंदू रियासतें मौजूद थीं मगर मुहज़ब और शिष्ट दरबार मुसलमान शासकों के ही समझे जाते थे और हिंदू राजा खुद इस बात की प्रशंसा करते थे कि सभ्यता और संस्कृति में हम मुसलमान दरबारों का मुक़ाबिला नहीं कर सकते क्योंकि अपनी प्राचीन संस्कृति को फिर से जीवित करके अपने लिए नयी संस्कृति और नया साहित्य पैदा करने का खयाल अभी उस अंग्रेज़ी शिक्षा ने पैदा नहीं किया था। इसका नतीजा यह



था कि अगर कोई उच्च कोटि का विद्वान, कवि या सिपाही मुसलमान के सामंतों से निराश होकर हिंदू धनिकों के इलाक़े में पहुंच जाता तो हाथों-हाथ लिया जाता और देवताओं की तरह उसका आदर-सत्कार किया जाता था।

मुसलमान दरबार उन दिनों इने-गिने ही थे। सबसे पहले तो दिल्ली का मुगल दरबार था और उसके प्राचीन वैभव के कारण हर तरह के कला-प्रवीणों और प्रामाणिक भद्रजनों का केंद्र दिल्ली बनी हुई थी और उसी सरज़मीन के रोड़े थे जिन्होंने दूर-दराज़ सूबों में जाकर नये-नये दरबार कायम किये थे जिनमें से दक्षिण में आसफ़जाह का दरबार था। वहां से आगे बढ़कर टीपू सुल्तान और नवाब अर्काट के दरबार थे। उत्तर में दिल्ली से चलिये तो पहले रुहेलखंड के बहादुर पठानों का राज्य मिलता, उसके बाद यह अवध का दरबार था। फिर उससे आगे मुर्शिदाबाद में नवाब नाज़िम-ए-बंगाल का दरबार था। उपर्युक्त इस्लामी दरबारों से दक्षिण के दरबार बहुत दूर थे। उनका रास्ता एक तो जंगलों और पहाड़ों की वजह से बहुत ही दुर्गम था और इस पर भी जुरंत करके कोई चल खड़ा होता तो ठग और डाकू, जो सारे देश में फैले हुए थे, रास्ते ही में उसकी जिंदगी का खात्मा कर देते। टीपू सुल्तान और नवाब कर्नाटक के राज्य तक जाना तो दरकिनार, किसी को निज़ाम हैदराबाद की रियासत तक पहुंचना भी मुश्किल से नसीब होता। इसलिए जब दिल्ली बिगड़नी शुरू हुई और मुगल सम्राटों की हालत खराब होने से वहां लोगों की क्रूर कम होने लगी तो लोगों ने आमतौर से दक्षिण की ओर जाना शुरू किया। इसमें शक नहीं कि रुहेलखंड बहुत क़रीब था, यहां के पठान शासक अगर उन्हें पूछते तो उनसे ज़्यादा मौक़ा किसी को हासिल नहीं था। मगर उनमें धार्मिकता, वीरता और अन्य गुण तो थे लेकिन ज्ञान-विज्ञान और सांस्कृतिक क्रियाकलाप से उन्हें कोई दिलचस्पी न थी। उनकी हालत का सही अंदाज़ा कीजिये तो मालूम होता है कि वे लोग शुद्ध रूप से सैनिक रुचि रखते थे जिन्हें अपने देश के लोगों को इकट्ठा करने और अपने जिगों की तादाद बढ़ाकर अपनी सैनिक शक्ति में वृद्धि करने के सिवाय और किसी बात का शौक़ न था। संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से देखिये तो उनकी हालत बिल्कुल जंगली गंवारों की-सी थी। ऐसे लोग भला कवियों, साहित्यकारों और दूसरे कलाकारों के महत्व को क्या समझते? लिहाज़ा उनके राज्य में जो दाखिल हुआ, क्रम बढाता हुआ आगे निकल गया और चार-पांच मंज़िलें



तै करके लखनऊ में पहुंचा तो देखा कि रईस से लेकर छोटे-से-छोटे वर्ग वाले भी उस का स्वागत कर रहे हैं और हर तरह की सेवा के लिए तैयार हैं। ऐसी जगह पहुंचकर फिर भला कौन वापस आ सकता है ? जो गया वहीं का हो गया। दिल्ली का हर लुटा-पिटा व्यक्ति यहां आते ही पांव तोड़ कर बैठ गया : न उसे अपना वतन ही याद रहा और न किसी और दरबार के देखने की हवस ही दिल में बाक़ी रही। चंद लोग यहां से आगे बढ़कर नवाब नाज़िम-ए-बंगाल तक भी पहुंच गये। मगर वे वही थे जिनकी लखनऊ क़द न कर सका। मगर ऐसे चंद गिनती ही के लोग थे वरना दिल्ली से जितने कलाकार आये सभी खपते चले गये। थोड़े-से अर्सों में ही यह हालत हो गयी कि उस समय के सबसे अधिक सुसंस्कृत समाज के जितने प्रसिद्ध बुजुर्ग थे सब लखनऊ के अंदर जमा थे।

सिर्फ एक चीज़ ऐसी थी जो इस दरबार के क़ायम होने से पहले ही लखनऊ में मौजूद थी और वह अरबी का ज्ञान था। इसकी बुनियाद उस समय पड़ गयी थी जब शहंशाह औरंगज़ेब ने फ़िरंगी महल के मकान मुल्ला निज़ाम-उद्दीन सिहालवी को दे दिये थे। मुल्ला साहब और उनके परिवारवालों ने चंद ही रोज़ में फ़िरंगी महल को हिंदुस्तान की एक ऐसी ऊंचे दर्जे की यूनिवर्सिटी बना दिया कि सारे हिंदुस्तान के सारे विद्वानों का केंद्र लखनऊ का यह छोटा-सा मुहल्ला ही करार पाया। शेख अब्दुल हक़ देहलवी के बाद दिल्ली में भी कोई प्रसिद्ध विद्वान पैदा नहीं हो सका था। आखिर में शाह वलीउल्लाह साहब के खानदान ने अलबत्ता बहुत प्रगति की लेकिन उनकी ख्याति केवल विद्वानों तक ही सीमित थी। हदीस<sup>1</sup> के अलावा और जितनी शाखाएं ज्ञान की हैं उनका विश्वविद्यालय लखनऊ ही था। उन दिनों लखनऊ एक गुमनाम शहर था मगर एक ऐसे अज्ञात स्थान का इतना बड़ा विश्वविद्यालय बन जाना कि हिंदुस्तान दरकिनार बुखारा, ख़्वारज़्म हिरात और काबुल उसके आगे सिर झुका दें, बहुत ही आश्चर्य की बात है। सारी इस्लामी दुनिया यहीं की शार्गिदी पर गर्व कर रही थी और यहीं के चुने हुए पाठ्यक्रम यानी सिलसिल-ए-निज़ामिया को अपनाती थी। ग़रज़ फ़िरंगी महल के विद्वानों के कारण इस नये दरबार के क़ायम होने से पहले ही लखनऊ दर्शन, तर्कशास्त्र, इस्लामी धर्म शास्त्र तथा उसके सिद्धांत और ज्ञान-विज्ञान की अन्य-अनेक शाखाओं का

<sup>1</sup> हज़रत मुहम्मद साहब की कही हुई बात।



केंद्र बन चुका था । लिहाज़ा इस एक चीज़ में तो लखनऊ इस दरबार का कृणी नहीं है, बाक़ी और सभी प्रकार की प्रगति इस सल्तनत के क़ायम होने ही से ही हुई ।

अब हम अलग-अलग यह बताना चाहते हैं कि दिल्ली से लखनऊ में कौन-कौन सी चीज़ें आयीं और यहां आकर उन्होंने क्या रंग अपनाया । सबसे पहली चीज़ उर्दू ज़बान है जो दिल्ली के उन भद्रजनों और फ़ौज के सरदारों की ज़बान थी जो अब बुरहान-उल-मुल्क बहादुर के साथ लखनऊ में आये थे । यह ज़बान दिल्ली में पैदा हुई और इसकी शाइरी की शुरुआत दक्षिण से हुई । 'वली' गुजराती ने दिल्ली में आकर अपना दीवान पेश किया और अपनी दिलकश शाइरी से उर्दू भाषियों को नींद से जगाया । उनके कलाम में कुछ ऐसा जादू था कि सुनते ही सबकी ज़बान पर चढ़ गया और दिल्ली में उर्दू शाइरी शुरू हो गयी ।

शुरू में तो कुछ ही वृजुर्ग थे जिन्होंने उस्तादी की शान से दिल्ली में शाइरी की दाद देना शुरू की । मगर उस जमाने को अगर उर्दू ज़बान का बचपन नहीं तो उर्दू शाइरी का बचपन कहना चाहिए । उर्दू जगत के उन अगले-पिछलों में सबसे अधिक विद्वान और सबसे बढ़कर 'दक्ष 'खान' आरजू थे जिन्हें मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद ने दूसरे दौर की शाइरी में रखा है । बाद के काल में बड़े-बड़े धुरंधर—जिनमें 'सौदा', 'मीर', मिर्ज़ा मज़हर 'जाने जानां' और ख़ाजा मीर 'दर्द' शामिल हैं—सब उनके शार्गिद थे । शाइरी और भाषा पर अपूर्व अधिकार की बुनियाद लखनऊ में इन्हीं पहले उस्ताद 'खान' आरजू ने डाली । नबाब शुजाउद्दौला के मामू सालारजंग ने बड़ी मिन्नत-समाजत से उन्हें लखनऊ बुलवाया और एक जमाने तक अवध में रह कर शुजाउद्दौला की गद्दी नशीनी के दो बरस बाद यानी 1752 ई० में ख़ास लखनऊ में ही उनका निघन हुआ । उर्दू शाइरी के वही पहले उस्ताद थे और उन्हीं से उर्दू काव्य के लखनऊ में आने की बुनियाद पड़ी । मगर अफ़सोस कि उनकी हड्डियां लखनऊ की सरज़मीन से छीन कर दिल्ली की मिट्टी में दफनायी गयीं ।

इसके बाद इसी दौरान शाइरी के दूसरे नामी उस्ताद अशरफ़ अली ख़ां 'फ़यां' ने, जो एहमद शाह बादशाह के दूध शरीक भाई थे, कदरदानी की तलाश में लखनऊ की राह ली । शुजाउद्दौला ने उनका बड़ा आदर-सम्मान



किया, उन्हें हाथों-हाथ लिया और एक जमाने तक अपने दरबार में रखा। मगर शाइरों के खयाल चाहे नाजुक न हों उनके दिमाग नाजुक हुआ करते हैं। किसी मामूली-सी बात पर रूठ कर अजीमावाद चले गये और गुजाउद्दौला के देहांत से दो बरस पहले वहीं उनकी मृत्यु हो गयी।

अब मौलाना मुहम्मद हुसैन आजाद का मुकर्रर किया हुआ शाइरी का तीसरा दौर शुरू हुआ जबकि 'खान' आरजू के शागिर्दों का उर्दू-शाइरी पर एकछत्र राज्य था। उस जमाने की हालत देखने से मालूम होता है कि दिल्ली अपने कलाकारों को अपनी गोद में संभाल नहीं सकती। हर तरह के कलाकार वहाँ से निकलते चले जाते हैं और जो जाता है फिर नहीं आता। इसके मुकाबिले में लखनऊ की यह हालत है कि जो भी कलाकार आता है, चाहे कहीं का हो, यहीं का होकर रह जाता है। मिर्जा रफ़ी 'सौदा', मीर तकी 'मीर', सैयद मुहम्मद मीर 'सौज' जो इस तीसरे दौर के महाकवि हैं, सब दिल्ली छोड़-छोड़कर लखनऊ में आये और यहीं की मिट्टी में सो गये।

इनके अलावा जो महाकवि इस जमाने में लखनऊ आये और यहीं के हो गये मीरजा जाफ़र अली 'हसरत', मीर हैदर अली 'हरान', ख्वाजा हसन 'हसन', मीरजा 'फाखर' मकी, मीर 'जाहक' बक़ाउल्लाह खां 'बक़ा', मीर हसन देहलवी मीर 'जाहक' के पुत्र (जिनकी मसनवी है) और इन्हीं के ऐसे बीसियों शाइर हैं। मीर क्रमरउद्दीन मिन्नत, मीर ज़ियाउद्दीन 'ज़िया', अशरफ़ अली खां 'फ़ुगा' दिल्ली से लखनऊ में आकर एक मुद्त तक रहे और यहीं चमके। मगर आखिर में बाहर के क़द्रदानों की कोशिश से कलकत्ता और अजीमाबाद में जाकर मौत की गोद में सोये। शेख मुहम्मद कायम 'कायम' का निधन हालांकि उनके वतन नगीना में हुआ मगर वे भी एक मुद्त तक इसी लखनऊ की सभा के एक ऐक्टर थे।

सिर्फ़ मीरजा मज़हर जान-जाना और ख्वाजा मीर 'दर्द' जैसे चंद बुजुर्ग दिल्ली में पड़े रह गये जिन्हें इसलिए दिल्ली में क़दम ज़माने का मौक़ा मिल गया था कि उनमें फकीरों का-सा संयम और संतोष मौजूद था और सज्जा-दानशीनी<sup>1</sup> की वंजह से अपनी दरवेशी को न छोड़ सकते थे। गरज शाइरी का यह तीसरा दौर वह ज़माना है जबकि दिल्ली की सभा वहाँ से उखड़कर

<sup>1</sup> किसी बड़े फ़कीर की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी का उस गद्दी पर बैठना।



लखनऊ में जम रही थी और लखनऊ में उसकी ऐसी कद्र हो रही थी जिसकी हिंदुस्तान के इतिहास में मिसाल नहीं मिलती ।

अब चौथा दौर शुरू हुआ । इसके शाइर भी अगर्चे दिल्ली और अकबरा-वाद वगैरा की ज़मीन से पैदा हुये थे मगर सबकी शाइरी लखनऊ ही में चमकी । यहीं से उनका नाम मशहूर हुआ, यहीं के मुशाइरों के वे मोरे-मजलिस थे । ये लोग आम तौर पर यहीं से निकले, यहीं रहे, यहीं उनका उत्कर्ष हुआ और यहीं मर-खप गये । इस दौर के शाइर 'जुरअत', सैयद 'इंशा', 'मुसहफ़ी', 'क़तील' और 'रंगीन', वगैरा थे । इन लोगों का अपने युग में भाषा पर पूरा अधिकार था और उनकी कविता की लोकप्रियता इतनी बढ़ गयी थी कि उनके सामने किसी उर्दू शाइर का नाम चमक ही न सका । इन सबकी हड्डियां कहाँ हैं ? लखनऊ की ज़मीन में ।

उस ज़माने में दिल्ली के साहित्यकार जिस संख्या में लखनऊ आ रहे थे उसका अंदाज़ा सैयद इंशा की एक कहानी से हो सकता है जिसमें उन्होंने उस युग के एक शरीफ़ बुद्धे और नूरन नामक एक वेश्या की बातचीत चित्रित की है । वह बुजुर्ग और वेश्या दोनों दिल्ली के हैं मगर दोनों लखनऊ में बातें कर रहे हैं । बी नूरन कहती है, "अज़ी आधो मोर साहब ! तुम तो ईद का चांद हो गये । दिल्ली में आते थे दो-दो पहर रात बैठते थे । लखनऊ में तुम्हें क्या हो गया कि कभी सूरत भी नहीं दिखाते ? अबकी कर्बला में कितना मैंने ढूँढा, कहीं तुम्हारा असर-आसार मालूम न हुआ । ऐसा न किजो की आठों में भी न चलो । तुम्हें अली की क़सम आठों में मुकर्रर चलयौ ।" इसका जवाब जो मीर साहब ने दिया है वह अगर्चे बहुत ही दिलचस्प है मगर हम विस्तार से बचने के खयाल से उसे छोड़ देते हैं । उन्होंने दिल्ली और लखनऊ के मौजूदा रंग पर एतराज़ किये हैं और समकालीन शाइरों पर नुक्ताचीनी की है जिससे हमें सरोकार नहीं । हमें सिर्फ़ यह बताना है कि उस ज़माने में शरीफ़ों और बाकमालों को तो छोड़िये, रंडियां तक आ-आकर लखनऊ में बसती जाती थीं । और जो लोग दिल्ली में फूलवालों की सैर के रसिया थे अब कर्बला और आठों के मेले में अपना दिल बहलाते थे ।

शम्स-उल-उलमा मौलाना आज़ाद ने बाद के दिल्ली के तमाम शाइरों को उनके युग या दूसरी विशेषताओं का खयाल किये बिना एक जगह जमा करके और ज़माने की तनाबें खेंच कर पांचवां दौर बना दिया है, लेकिन यह ना-



इंसाफी है। असली पांचवां दौर सिर्फ 'नासिख' और 'आतिश' का था जिसमें भाषा ने नया रूप धारण किया और बहुत से पुराने मुहाविरे निकाल दिये गये, नयी बंदिशें पैदा हुई और उस ज़वान की बुनियाद पड़ी जो दिल्ली और लखनऊ के बाद के शाइरों में समान रूप से लोकप्रिय हुई और करीब-करीब वह भाषा बन गयी जो अब हिंदुस्तान में प्रामाणिक है और यही वह ज़माना था जब कविता के साम्राज्य में पहले-पहल लखनऊ का सिक्का जारी हुआ।

इसके बाद छठा दौर वह था जब लखनऊ में 'बज़ीर' 'ज़िया', 'रिद', 'गोया', 'रश्क', 'नसीम' देहलवी, 'असीर', मसनवी-लेखक नवाब मिर्ज़ा 'शौक' और पं० दया शंकर 'नसीम' की शाइरी की धूम थी और दिल्ली में 'मोमिन', 'जौक', और 'गालिब' अपना शाइराना गीत सुना रहे थे। उस दौर ने सच यह है कि ज़वान को खयालों की दृष्टि से सबसे ज्यादा तरक्की दी।

इसके बाद सातवां दौर 'अमीर', 'दाग', 'मुनीर', 'तसलीम', 'मज़रूह', 'जलाल', 'लताफ़त', 'अफ़ज़ल' और 'हकीम' वगैरा का था।

इन आखिरी दौरों पर उड़ती हुई नज़र डालने से साफ नज़र आ जाता है कि ज़वान की खूबी और शाइरी ने लखनऊ में कैसी मजबूत जगह पकड़ी थी। चंद ही रोज़ में शेर कहना लखनऊ में एक फ़ैशन बन गया और शाइरों की यहां ऐसी भरमार हो गयी कि शायद कहीं किसी ज़वान में न हुई होगी। औरतों तक में शेरों-शाइरी का चर्चा हुआ और जाहिलों के कलाम में भी शाइराना खयाल, उपमाओं और अलंकारों की झलक नज़र आने लगी।

## [ 10 ]

फ़ारसी शाइरी का असल उठान मसनवी<sup>1</sup> से हुआ है और यह काव्य-रूप हमेशा सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण और लोकप्रिय समझा गया है। इसका प्रारंभ फ़िरदौसी के महाकाव्य 'शाहनामा' से हुआ। फिर 'निज़ामी', 'सादी', मोलाना 'रूम', 'खुसरो', 'जामी' और 'हात्तिफ़ी' वगैरा ने इसमें बड़ी ख्याति

<sup>1</sup> उर्दू का एक काव्य-रूप जिसमें कोई कहानी या उपदेश एक ही वृत्त में होता है और उसका हर शेर दूसरे शेर रदीफ़-क़ाफ़िए में नहीं मिलता और हर शेर की दोनों पंक्तियां सानुप्रास होती हैं।



प्राप्त की। उर्दू में मीर तकी 'मीर' ने छोटी-छोटी बहुत सी मसनवियां दिल्ली और लखनऊ के प्रवास के दौरान लिखी थीं मगर वे इतनी छोटी और मामूली हैं कि मसनवियों के संबंध में उनका जिक्र कुछ अनुचित जान पड़ता है।

मसनवी लिखने का प्रारंभ उर्दू में मीर 'जाहक' के बेटे मीर गुलाम हसन 'हसन' से हुआ जो बचपन ही में अपने पिता के साथ लखनऊ चले आये थे। यहीं के वातावरण में वे पले-बढ़े और यहीं उनकी काव्य-प्रतिभा का विकास हुआ क्योंकि जिस शिक्षा और जिस समाज ने उनकी मसनवी 'बैन-जोर' और 'बद्र-ए-मुनीर' लिखवाई वह शुद्ध रूप से लखनऊ की थी। इस जमाने में मिर्जा मुहम्मद तकी खां 'हवस' ने 'मसनवी लैला-मजनू' लिखी और लखनऊ में मसनवी के प्रति रुचि बढ़ने लगी। 'आतिश' और 'नासिख' के जमाने में तो ज़रा खामोशी रही मगर फिर जो यह शौक उभरा तो पं० दया शंकर 'नसीम' ने 'गुलज़ार-ए-नसीम' आफताबउद्दौला 'कलक' ने 'तिलिस्म-ए-उलफ़त' और नवाब मिर्जा शौक ने 'बाहर-ए-इश्क', 'ज़हर-ए-इश्क' और "फ़रेब-ए-इश्क" लिखी और उन्हें ऐसी ख्याति और लोकप्रियता प्राप्त हुई कि हर छोटे-बड़े की जवान पर इन मसनवियों के शेर चढ़ गये। इससे पहले के जमाने में किसी साहब ने 'मसनवी मीर हसन' के जवाब में 'लज्जत-ए-इश्क' नामक एक मसनवी लिखी थी। वह नवाब मिर्जा शौक की मसनवी के साथ प्रकाशित होने की वजह से उन्हीं के नाम से संबद्ध हो गयी, लेकिन वास्तव में न वह उनकी है और न उनके जमाने की।

इन सब मसनवियों को देखते हुए मसनवी 'गुलज़ार-ए-नसीम' इस बात के बावजूद कि वह बहुत लोकप्रिय हुई, उसमें सैकड़ों गलतियां हैं। देखने से मालूम होता है कि एक नौसिखुए का ताज़ुक खयाल है जो हर प्रकार के काव्यात्मक गुण अपनी कविता में पैदा करना चाहता है। मगर चूंकि उसे काव्य-कला पर पूरा अधिकार नहीं है इसलिए कदम-कदम पर ठोकरें खाता है और किसी जगह अपने लक्ष्य को नहीं पा सकता। इसके जवाब में आगा अली 'शम्स' ने जो एक अनुभवी शाइर थे इसी बहर (छंद) में एक मसनवी लिखी थी जिसमें गलती तो कोई थी ही नहीं, अलबत्ता उपमा, अलंकार और शब्दालंकारों के चमत्कार दिखाये थे। मगर अफ़सोस वह मसनवी मिट गयी और 'गुलज़ार-ए-नसीम' को जो प्रसिद्धि मिल चुकी थी उस पर वह हावी न हो सकी। दिल्ली में उन दिनों मोमिन खां ने चंद छोटी-छोटी बेमिसाल मसनवियां लिखीं जो बहुत प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुईं।



मोमिन खां की शाइरी में नाजुकखयाली बढ़ी हुई थी। काल्पनिक उपमाओं और अलंकारों पर वे अपनी कविता की इमारत खड़ी करते थे। मसनवियों में वे अधिकतर काल्पनिक भावों तथा विचारों को मानवीकृत करके अपनी कविता में एक विशुद्ध रस उत्पन्न कर देते थे। मोमिन खां के एक शिष्य 'नसीम' देहलवी लखनऊ में आये और यहां के मुशाइरों में अपना रंग ऐसा जमाया कि बहुत से लोग उनके शागिर्द हो गये। 'नसीम' देहलवी ने लखनऊ में अपने उस्ताद के रंग को खूब चमकाया और उनके शागिर्द 'तसलीम' लखनवी ने उर्दू मसनवी में 'नजीरी' 'उर्फ़ी' और 'साइब' की उर्वर कल्पना दिखायी और उर्दू काव्य में जीते-जागते 'फैजी' और 'ग़नीमत' लाकर खड़े कर दिये। इधर आखिर-जमाने में मौलवी मीर अली हैदर तथा तबाई 'नज्म' लखनवी ने शराब की निंदा में 'साक्नीनामा सक्कसक्रिया' के नाम से एक ऐसी बेमिसाल नीति-विषयक कविता उर्दू पब्लिक के सामने पेश कर दी कि उसका जवाब नहीं हो सकता। गरज कि मोमिन खां की चंद संक्षिप्त मसनवियों की ओर अगर ध्यान न दिया जाये तो उर्दू मसनवी-रचना का प्रारंभ भी लखनऊ में हुआ और उसकी प्रगति भी यहीं हुई।

कुछ लोग मीर हसन की मसनवी और 'गुलज़ार-ए-नसीम' के माध्यम से दिल्ली और लखनऊ की भाषा की तुलना किया करते हैं। जिस खयाल को मौलाना मुहम्मद हुसैन आजाद ने और अधिक पुष्ट किया लेकिन एक तो 'गुलज़ार-ए-नसीम' को 'नजीर' अकबराबादी के 'बंजारा-नामा' की तरह अगर ख्याति मिल भी गयी तो उसे मीर हसन की मसनवी की तुलना में रखना उर्दू कविता का घोर अपमान है। यदि तुलना ही करनी है तो मीर हसन की और मसनवी 'तिलिस्म-ए-उलफत' की हो सकती है और यदि 'गुलज़ार-ए-नसीम' की ज़बान जबरदस्ती लखनऊ की ज़बान मान भी ली जाये तो मीर हसन की मसनवी और 'गुलज़ार-ए-नसीम' की तुलना दिल्ली और लखनऊ की कविता की नहीं बल्कि खुद लखनऊ की अगली पिछली ज़बानों की तुलना है इसलिए कि मीर हसन की मसनवी पहली ज़बान का नमूना है और यह आखिरी ज़बान का।

शाइरी का एक महत्वपूर्ण और सबसे प्राचीन रूप मसिया<sup>1</sup> है। प्राचीन अरबी शाहरी में ज्यादातर मसिए और रजज़<sup>2</sup> ही कविता में चमत्कार दिखाने

<sup>1</sup> शोक-गीत ।

<sup>2</sup> युद्ध में अपने कुल की शूरता का वर्णन ।



के माध्यम थे। फ़ारसी में मर्सिया पढ़ने की प्रथा कमज़ोर पड़ गयी थी लेकिन सफ़विया वर्ग के शासन-काल में ईरान में शीआ संप्रदाय को प्रश्रय मिला तो हज़रत मुहम्मद साहब के रिश्तेदारों पर पड़ी मुसीबतों की याद ताज़ा करने के लिए शाइरों का ध्यान मर्सिए लिखने की ओर गया। मौलाना मोहम्मद शिम काशफ़ी ने कुछ पदों का एक अनुपम मर्सिया लिखा था जो हर जगह लोकप्रिय हुआ। उसके बाद से रिवाज़ था कि शाइर कभी-कभी हुसैन के मातम में दो-एक मर्सिए भी लिख दिया करते। लेकिन काव्य जगत में मर्सियागोई का महत्व इतना कम था कि कहा जाता था, 'बिगड़ा शाइर मर्सियागो'। फिर जब मज़हब की दृष्टि से सफ़विया साम्राज्य की उत्तराधिकारिणी अवध की सल्तनत बनी तो लखनऊ में मजलिसों की वृद्धि और ताज़ियादारी के जोश के कारण मर्सियागोई की ऐसी कद्र हुई कि इस कला की असाधारण प्रगति हुई और वास्तव में देखा जाये तो लखनऊ के उत्कर्ष का रहस्य भी इसी ऐतिहासिक घटना में निहित है। हिंदुस्तान में मुग़लों का राज्य था जिन्होंने फ़ारसी भाषा को दरबारी भाषा करार दे दिया और फ़ारसी संस्कृति उनकी ज़िंदगी तथा अन्य सभी महत्वपूर्ण क्रियाकलाप की केंद्र थी। नतीजा यह हुआ कि हर ईरानी हिंदुस्तान में आते ही आंखों पर बिठाया जाता और उसकी हर हरकत और हर अदा लोकप्रिय होती। दिल्ली में बादशाहों का मज़हब सुन्नी होने की वजह से ईरानी अपनी बहुत-सी बातों को छिपाते और वहां की महफ़िलों में इतने मुखर न हो पाते जितने कि वे वास्तव में थे। अवध का दरबार शीआ था और यहां का शासक परिवार खास खुरासान से आया था इसलिए यहां ईरानी बिल्कुल खुल गये और अपने असली रंग में प्रकट हो जाने से जितने मुखर और प्रफुल्ल हुए उतना ही ज़्यादा यहां के दरबारवालों ने धार्मिक एकता के कारण उनकी विशेषताएं अपनानी शुरू कर दीं और ईरानी संस्कृति जो दरअसल सासानी और अब्बासी शान-शौकत की गोद में पली हुई थी कुछ ही दिन के अंदर लखनऊ की संस्कृति का अंग बन गयी।

गरज 'सौदा' और 'मीर' के जमाने में मियां 'सिकंदर', 'गदा', 'मिस्कीन' और 'अफ़सुर्दा' मर्सियागो थे जो इमाम हुसैन की शहादत के बारे में छोटी-छोटी नज़में लिख कर मजलिसों में सुनाया करते थे। उनके बाद मीर खलीक और मीर ज़मीर ने मर्सियागोई का विकास किया और मर्सियों का आधुनिक रूप उन्हीं के समय से उभरा। यहां तक कि समय ने मीर ज़मीर के शार्गिद



मिर्जा 'दबीर' और मीर खलीक के सुपुत्र मीर 'अनीस' को बहुत ख्याति दिलायी और इन दोनों बुजुर्गों ने मसिया लिखने में ऐसे-ऐसे कमाल दिखाए कि वे साहित्याकाश के सूर्य और चंद्र बनकर चमके। वही मुक्ताबिला जो 'मीर' और 'सौदा' और 'आतिश' और 'नासिख' में रहा था अब मीर 'अनीस' और मिर्जा 'दबीर' में कायम हुआ। मिर्जा 'दबीर' के यहां भाषा की गरिमा, ऊंची कल्पना और पांडित्य था तो मीर 'अनीस' में सादगी, वेतकल्लुफी और मानवीय भावनाओं को प्रभावित करनेवाली भाषा की वह विशेषता थी जो ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा से ही संभव थी, सीखने से प्राप्त नहीं हो सकती। इन दोनों बुजुर्गों ने मसियागोई की कला को कविता के अन्य रूपों से आगे बढ़ा दिया और उर्दू साहित्य में वे नयी चीजें पैदा कीं जिन्हें अंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित लोग बूढ़ने लगे थे।

'अनीस' और 'दबीर' ने मसियागोई को उस चरम सीमा पर पहुंचा दिया था कि अब मसियागोई बजाये एक दोष होने के सबसे बड़ा काव्यात्मक गुण बन गयी थी। लखनऊ के सभी निवासी इन दोनों महाकवियों के ऐसे प्रशंसक और गुणग्राहक हुए कि सारा शहर दो गिरोहों में बंट गया और हर सहृदय या तो अनीसिया था या दबीरिया और इन दोनों गिरोहों में आपस में हमेशा विरोध रहता था।

मीर 'अनीस' ने मसियागोई के साथ मसियाखुवानी (वाचन) को भी एक कला का रूप दे दिया। यूनान के कुछ वक्ताओं के बारे में सुना जाता है कि उन्होंने अपने भाषणों में असर पैदा करने के लिए खास-खास कोशिशों की थीं और वे स्वर के उतार-चढ़ाव और हावभाव तथा मुद्रा-परिवर्तन से अपने भाषण में प्रभाव उत्पन्न करते थे। इस्लाम की इस लंबी उम्र में इस अत्यंत आवश्यक कला को मीर 'अनीस' ने ही ज़िंदा किया। समुचित शब्दों की ध्वनि में विविधता लाने और विषय के अनुकूल चेहरा बना लेने, मसिया पढ़ते समय अंग-प्रत्यंग के हावभाव दिखाने आदि से उसे अधिक प्रभावशाली बना देने की कला लखनऊ की और वह भी 'अनीस' के घराने की ईजाद है जिसे तरक्की देने के लिए अब भी प्रयत्न किये जा रहे हैं और हमारे वक्ता अपने भाषण में प्रभाव पैदा करने के लिए अगर इन उस्तादों से कुछ सीखें तो बहुत ही सफल वक्ता बन सकते हैं।

ड्रामा पाश्चात्य काव्य का एक महत्वपूर्ण अंग है, इससे अरबी और



फ़ारसी साहित्य बिल्कुल खाली था और चूँकि फ़ारसी पर ही उर्दू भी आश्रित थी इसलिए वहाँ भी उसकी ओर कभी ध्यान नहीं दिया गया। संस्कृत में बहुत उच्च कोटि के नाटक थे मगर उनसे हिंदुस्तान की पिछली सोसाइटी बिल्कुल अनभिज्ञ हो चुकी थी। रामचंद्रजी और श्रीकृष्ण के कारनामे अल-बत्ता हिंदुओं में धार्मिक निष्ठा के साथ दिखाये जाते थे। मगर उर्दू शाहरी को उनसे किसी तरह का सरोकार न था। रामचंद्रजी के हालात इंग्लिस्तान के ओलंपिया की तरह खुले मैदानों में महाकाव्य-प्रदर्शन की ही भांति दिखाये जाते और श्रीकृष्णजी के हालात नाच, गाने और संगीत के माध्यम से धार्मिक मंचों पर ठीक आपेरा की तरह से प्रस्तुत किये जाते जो 'रास' कहलाते थे। वाजिद अली को रास से खास दिलचस्पी पैदा हो गयी और रास के प्लॉट को आधार बनाकर उन्होंने अपना एक ड्रामा तैयार किया जिसमें वे कन्हैयाजी बनते या प्रेम में असफल एक योगी बनकर घूनी रमाते और बहुत-सी स्त्रियाँ अप्सराएँ और गोपियाँ बन कर उन्हें ढूँढती फिरतीं। फिर जब क्रैसर बाग के मेलों का दरवाजा जन-साधारण के लिए भी खुल गया तो सारे शहर के शौकीनों में नाटक की कला स्वयं विकसित होने लगी और कुछ ही दिन में इस कला की ऐसी प्रगति हुई कि कुछ मशहूर शाहिर भी उस युग के रुचि-स्तर के अनुसार नाटक लिखने लगे। चुनांचे वाजिद अली शाह के शौक के साथ ही मियाँ अमानत ने, जो एक अनुभवी कवि थे, 'इंदर सभा' लिखी और वर्तमानकाल की कंपनियों की तरह शहर में जगह-जगह विभिन्न मंडलियाँ उनकी 'इंदर सभा' को स्टेज पर खेलने लगीं जिनमें कहीं औरतें और कहीं लड़के ऐक्ट करते। इस नाटक में संगीत के नियमों के अनुरूप बड़ी कर्णप्रिय और मधुर धुनें बनायीं गयीं और सारा शहर 'इंदर सभा' देखने के लिए लालायित रहता। मियाँ अमानत की 'इंदर सभा' की सफलता देखकर और लोगों को भी शौक हुआ और इस प्रकार के बहुत से नाटक रचे गये और सभी का नाम 'सभा' पड़ गया। चुनांचे शहर में मदारी लाल बगैरा की बहुत-सी सभाएँ बन गयीं जिनके प्लॉट बदले हुए थे।

सभा के नये रंग ने शहर में ऐसी जिंदादिली पैदा कर दी कि सिवाय 'इंदर सभा' के लोग किसी और प्रकार का नाच-गाना पसंद ही न करते थे। हर तरफ सभाओं की धूम थी और इसकी बुनियाद पड़ गयी कि समाज के स्तर के अनुसार पुराने प्रेमखानों का अच्छी कविताओं में समावेश किया



जाये और उन्हें सुंदर ढंग से जनता के सामने पेश किया जाय। इसमें शक नहीं कि पारसी थियेट्रों ने अपने अच्छे प्रबंध और आकर्षक प्रदर्शन के द्वारा सभाओं का रंग फीका कर दिया। लेकिन यह न समझो कि ड्रामे का जो रूप लखनऊ में बनकर प्रचलित हुआ था, मिट गया। पहले तो पारसियों ने भी इस चीज को लखनऊ से लिया है, उनका पहला ग्राम खेल अमानत की 'इंदर सभा' था और इसके बावजूद कि लखनऊ के तमाम राष्ट्रीय समारोहों में आज तक सपेरे, हरिश्चंद्र बगैरा के ऐसे वीसियों प्रदर्शन हो रहे हैं और इस प्रकार के अभिनेताओं का एक स्थानीय गिरोह पैदा हो गया है जो जनता का मनोरंजन करता है हालांकि वहां के भद्रजनों की राष्ट्रीय रुचि समाप्त हो चुकी है। कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं किया जा सकता कि उर्दू ड्रामे की बुनियाद खास लखनऊ ही में पड़ी और यहीं से सारे हिंदुस्तान में इसका रिवाज हुआ।

उर्दू कविता का एक रूप वासोख्त है। ये खास किस्म के प्रेम-प्रणय संबंधी पद होते हैं और इनका विषय ग्राम तौर पर यह होता है कि कवि पहले अपना प्रेम प्रकट करता है और उसके बाद अपनी प्रेमिका का नख-शिख वर्णन करता है। फिर उसकी बेवफाईयां, उससे रूठ कर उसे यह विश्वास दिलाना कि हम किसी और प्रेमिका पर मोहित हो गये, उस काल्पनिक प्रेमिका के सौंदर्य की प्रशंसा करके अपनी प्रेमिका को जलाना, छेड़ना, जली-कटी सुनाना और यों उसका दर्प तोड़कर फिर मिलाप कर लेना। उर्दू काव्य का यह रूप लखनऊ ही से शुरू हुआ। मध्य युग के आते-आते तमाम शाइरों ने वासोख्त लिखे हैं और उनमें बड़े-बड़े चमत्कार पैदा किये हैं। दिल्ली में भी बाद के जमाने में अनेक वासोख्त लिखे गये विशेषतः मोमिन खां ने कई बहुत अच्छे वासोख्त लिखे मगर प्रारंभ लखनऊ ही से हुआ।

अमीरों की विलासप्रियता ने और भी कई काव्य-रूप पैदा किये जिनका प्रारंभ दिल्ली ही से हुआ था इनमें सबसे अधिक बेकार हजलगोई<sup>1</sup> है और कुछ हद तक दिलचस्प रेखती<sup>2</sup> है। हजलगोई का प्रारंभ दिल्ली में जाफर जटल्ली से हुआ जो शायद मुहम्मद शाह के जमाने में थे। उनके कव्य को मैंने शुरू से आखिर तक देखा है, सिवाय अश्लीलता और हद से बढ़कर बेशर्मी के न कोई काव्यात्मक सौंदर्य दिखायी देता है और न भाषा का ही कोई रस

<sup>1</sup> अश्लील कविता।

<sup>2</sup> स्त्रियों की भाषा में की गयी कविता।



है। इसके बाद दिल्ली की ही सरज़मीन से विलग्राम के एक हज़लगो कवि जिनका उपनाम 'साहब करां' था, लखनऊ आये और यहीं चमके। उनका नाम सैयद इमाम अली था और आसफ़उद्दौला के जमाने में वे लखनऊ आये थे। मालूम होता है कि लखनऊ के गिरे हुए स्तर वाले रईसज़ादों में उनको लोक-प्रियता मिली। उनका दीवान मिलता है और हालांकि उनकी कविता अश्लील और शिष्टता से कोसों दूर है मगर फिर भी उसमें एक बात है। काव्यात्मक गुणों के साथ भाषा और मुहाविरों का प्रयोग भी सुंदर है। लेकिन इस कला को लखनऊ के आखिरी दौर में मियां मुशीर ने, जो मिर्ज़ा दबीर के शर्गिद थे, कमाल के दर्जे तक पहुंचा दिया।

हज़लगोई के सिलसिलें में मियां 'चिरकी' का नाम भी लेना चाहिये। लखनऊ के मध्य युग में आशूर अली खां नामक एक जिंदादिल और बहुत ही योग्य और सहृदय रईस थे। उनके यहां की गोष्ठियां तत्कालीन समाज का एक सजीव नमूना थीं। उन्हीं ने जानसाहब और 'चिरकी' को पैदा किया और कुछ लोग कहते हैं कि उन्हीं की संगति में 'साहबकरां' भी पनपे थे। 'चिरकी' अपने हर शेर में पेशाब-पाखाने का जिक्र करते और उनके हर शेर से ऐसी बदबू आती है कि नाम सुनते ही हमारे पाठकों के दिमाग सड़ गये होंगे मगर चूंकि उसमें एक विशेषता थी इसलिए हमने उनका जिक्र कर दिया। उनकी कविता में कुछ काव्यात्मक सौंदर्य और कुछ अच्छी उपमाएं भी प्रयुक्त हुई हैं लेकिन उनके रुचि-स्तर ने इन खूबियों को भी गंदा और पलीद कर दिया है।

लेकिन रेख्ती की कला अशिष्ट होने के बावजूद दिलचस्प है और 'चिरकी' की शाइरी की तरह त्रासदायक नहीं। मर्दों और औरतों के मुहाविरों और लहजे में थोड़ा-बहुत फ़र्क़ हर ज़वान में हुआ करता है, मगर इतना नहीं जितना हमें अपनी ज़वान में नज़र आता है। फ़ारसी-अरबी सब भाषाओं में यह अंतर मौजूद है लेकिन उर्दू में यह अंतर बहुत ज्यादा स्पष्ट है। फ़ारसी और अरबी की प्राचीन रुचि यह थी कि स्त्रियां कविता करतीं तो अपनी ही भाषा में करती थीं और पुरुष यदि कभी स्त्रियों की भाषा में कोई भाव प्रकट करते हैं तो भाषा में लालित्य पैदा करने के लिए उन्हीं की भाषा का प्रयोग करते हैं। यही हाल अंग्रेजी का है। उर्दू शाइरी हमेशा से सिर्फ़ मर्दों की ज़वान में ही रही, यहां तक कि उसमें औरतें कहती भी हैं तो मर्द बनकर



कहती हैं, मदों ही की भाषा प्रयोग करती हैं और अपने लिए सर्वनाम तक पुल्लिग के इस्तेमाल करती हैं। अगर शाइर का नाम न मालूम हो तो कोई नहीं पहचान सकता कि यह किसी मर्द का कलाम है या औरत का।

उर्दू शाइरी का तीसरा या चौथा ही दौर था कि चंचल स्वभाव नव-युवकों में खयाल पैदा हुआ कि रेख्ते की तरह एक रेख्ती ईजाद की जाये। मीर हसन ने अपनी मसनवी में जरूरत के मौकों पर इस भाषा का प्रयोग किया था। मगर वहां तक तो कोई बात नहीं थी। मियां 'रंगीन' ने जो दिल्ली के रहनेवाले थे और लखनऊ की गोष्ठियों में भाग लेते थे इस रंग को स्थायी रूप से अपना लिया। लिहाजा सभ्य और शिष्ट समाज ने इस रंग को बेशर्मी और अशिष्टता समझा। चुनांचे सैयद 'इंशा' की जबानी हमने लखनऊ में दिल्ली के जिन सभ्य और वयोवृद्ध व्यक्ति और वहीं के एक वेश्या नूरन की बातचीत लिखी है उसमें वह बुजुर्ग फरमाते हैं, "और सबसे ज्यादा एक और सुनिये कि सम्राट् यार तहमास्प का बेटा अनवरी रेख्ता अपने को जानता है। 'रंगीन' तखल्लुस है, एक क्रिस्सा कहा है और इस मसनवी का नाम 'दिलपज़ीर' रखा है। औरतों की बोली इसमें बांधी है। मीर 'हसन' पर जहर खाया है, हर चंद उस मरहूम को भी कुछ शऊर न था। 'बद्र-ए-मुनीर' की मसनवी नहीं कही गोया सांडे का तेल बेचते हैं। भला इसको शेर क्यूंकर कहिये? सारे लोग दिल्ली के, लखनऊ के—औरत से लेकर मर्द तक—पढ़ते हैं :

चली वहां से दामन उठाती हुई

कड़े से कड़े को बजाती हुई

सो इस बेचारे 'रंगीन' ने भी इसी तौर पर क्रिस्सा कहा है। कोई पूछे कि भाई तेरा बाप रिसालदार मुसल्लम, लेकिन बेचारा भाले का हिलानेवाला, तेरा चलानेवाला था, तू ऐसा क्राबिल कहां से हुआ? और शोहदपन मिज़ाज में रंडी बाजी से आ गया है तो रेख्ते के तर्ई छोड़कर एक रेख्ती ईजाद की है इस वास्ते कि भले आदमियों की बहू-बेटियां पढ़कर मुश्ताक़ (उत्सुक) हों और उनके साथ अपना मुंह काला करें भला यह कलाम क्या है?

ज़रा घर को 'रंगी' के तहकीक़ कर लो

यहां से है कै पैसे डोली कहाँ

मर्द होकर कहता है, कहीं ऐसा न हो कमबख्त मैं मारी जाऊँ? और



एक किताब बनायी है, उसमें औरतों की बोली है जिसमें ऊपरबालियां चलीं, ऊपरवाला चांद, उजली धोवन वगैरा वगैरा ।”

मगर मुहब्बत बुड्ढे शिकायत करते-करते मर गये । नौजवानों की रंगीनी ने ‘रंगीन’ की इस रुचि को बढ़ावा दे कर ही छोड़ा और रेख्ती उर्दू का एक काव्यांग हो गया जिसका आविष्कार यद्यपि दिल्ली ही के एक कवि ने किया था, लेकिन लखनऊ में हुआ और यहीं उसका विकास हुआ । क्रिस्से के सिलसिले में इस ज़वान को मीर ‘हसन’ के बाद नवाब मिर्जा ‘शौक’ ने जिस कमाल को पहुंचा दिया उसकी प्रशंसा नहीं हो सकती । पन्ने-के-पन्ने पढ़ते चले जाइये यही नहीं पता चलता कि शेर कहने में शाइर ने अपनी ज़रूरत के अनुसार बोलने की भाषा में कहीं कुछ तबदीली भी की है या नहीं । लेकिन गज़ल कहने में ‘रंगीन’ के उत्तराधिकारी जान साहब बने जो लखनऊ के एक मामूली शख्स थे और आशूर अली खां की खराद पर चढ़कर तैयार हुए थे । गो कि जान साहब के बाद और रेख्तीगो भी लखनऊ में पैदा हुए मगर जो लोकप्रियता जान साहब को मिली उस तक कोई न पहुंच सका । उन्होंने गज़लें कहीं, वासोख्ती कही और भी कई नज़में कहीं ।

रेख्ती में अगर अश्लीलता और लंपटता से बचकर साफ-सुथरे भाव व्यक्त किये जाते तो यह कला भी प्रगति करती, मगर खराबी यह हुई कि उसकी बुनियाद ही लंपटता की भावनाओं और अश्लीलता के विचारों पर थी । इसलिए रेख्तीगोयों का कदम हमेशा तहजीब और संयम के मार्ग से भटक गया और उससे भाषा को चाहे कुछ फायदा हुआ हो, मगर नैतिकता को नुकसान पहुंचा ।

[ 11 ]

उर्दू गद्य उम्र में पद्य से कुछ छोटा है । मुद्दत तक पढ़े-लिखे लोगों का यह रवैया रहा कि अगर्चे कुछ लोग फ़ारसी में भी शेर कहते थे मगर ग्राम रुम्हान उर्दू गज़ल ही की तरफ था और हिंदुस्तान में उर्दू शाइरों की तादाद फ़ारसी शाइरों से बहुत ज़्यादा थी । मगर जहां तक गद्य का संबंध है सारे देश को फ़ारसी ही में पढ़ने का शौक था । ज्ञान-विज्ञान की किताबें फ़ारसी में लिखी



जातीं, मजहब की किताबें फ़ारसी में लिखी जातीं। यहां तक कि बूढ़े से लेकर बच्चे तक सब फ़ारसी ही में पत्र-व्यवहार करते थे। बच्चों को मदरसे में फ़ारसी ही की रचनाएँ पढ़ायी जातीं और फ़ारसी ही में खत लिखना उन्हें सिखाया जाता। नतीजा यह था कि बोलचाल में उर्दू भाषा चाहे कौसी ही मधुर हो गयी हो लेकिन जब लिखने की नौबत आयी तो सब गूंगे हो गये।

पहले-पहल उर्दू में मीर अम्मन देहलवी ने अंग्रेजों के प्रोत्साहन और उन्हीं की प्रेरणा से अपनी किताब 'चार दरवेश' लिखी। इसी ज़माने में मीरजा अली लुत्फ ने अपना तज़किरा-ए-शोअरा-ए-उर्दू लिखा जो अब्दुल्ला खां साहब की, जो उस समय हैदराबाद में थे, कोशिश से छप गया है। इसी ज़माने के करीब मौलवी इस्माईल साहब 'शहीद' ने तौहीद (अद्वैत) और इत्तिबाअ-ए-मुन्नत (पैगंबर के बताये मार्ग का अनुकरण) पर अपनी पुस्तक 'तक़वियत-उल-ईमान' (धर्म-शक्ति) लिखी। ये किताबें अब चाहे जिस नज़र से देखी जायें उन दिनों कोई साहित्यिक चमत्कार दिखाने के लिए नहीं लिखी गयी थीं। उनकी रचना सिर्फ़ इस उद्देश्य से की गयी थी कि सीधी-सादी भाषा में अपनी बात कह दी जाये और जन-साधारण उससे फ़ायदा उठा सकें। उपर्युक्त महानुभावों को अगर उर्दू साहित्य का क़ेमाल दिखाना होता तो उस समय की लेखन-शैली के अनुसार 'ज़हूरी' और नेमत खान-ए-अली और अबुलफ़ज़ल और ताहिर वहीद का रंग अपनाते जो उस समय साहित्य-जगत पर छाया हुआ था और जिसके बिना कोई रचना देश में प्रशंसा योग्य नहीं समझी जाती थी। लेखन ही नहीं बोलचाल में भी अगर शिष्टाचार का ज़्यादा खयाल रखा जाता तो वही अंदाज़ इस्तियार कर लिया जाता जैसा कि सैयद इंशा ने मीरजा मजहर जाने-जानां के भाषण से कुछ शब्द उद्धृत करके बना दिया है।

सच पूछिए तो उर्दू का गद्य लेखन लखनऊ ही से शुरू हुआ जबकि पहले मिर्ज़ा रजब अली बेग 'सुखूर' ने 'फ़साना-ए-अज़ायब' और अपनी दूसरी पुस्तकें प्रकाशित कीं। इसी ज़माने में 'नौरतन' भी लखनऊ में लिखी गयी जिसके लेखक मुहम्मद वल्लश 'महज़ूर' जो 'जुरअत' के शिष्य थे, लखनऊ ही में पले-बढ़े थे।

रजब अली बेग 'सुखूर' ने, सच यह है कि, गद्य-लेखन का चमत्कार दिखाया है और जिस वक्त वह किताब प्रकाशित हुई है, उर्दू-जगत में उसे बड़े आश्चर्य से देखा गया। मगर दुर्भाग्य से उन्होंने भूमिका में मीर अम्मन पर हमला कर



दिया था जिसकी वजह से उनकी सारी विशेषताओं का दिल्ली वालों की दृष्टि में कोई महत्व नहीं रहा। यहां तक कि मीर मुहम्मद हुसैन आज़ाद जैसे शिष्ट व्यक्ति भी उन्हें 'लखनऊ का शोहदा' बताते हैं और मालूम नहीं रजब अली बेग मरहूम से इस गुस्ताखी का बदला कब तक लिया जायेगा ? मीर अम्मन के गद्य का सौंदर्य अंग्रेजों को उन दिनों चाहे नज़र आ गया हो मगर हिंदुस्तान के उर्दू भाषियों में से किसी को नज़र न आया था और न नज़र आ सकता था। इसका कारण यह था कि अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव ने उस समय तक हिंदुस्तान के साहित्य की रुचि नहीं बदली थी और पूर्व का साहित्य खयालों और दिमागों में बसा हुआ था।

साहित्यिक शैली के बारे में मैंने कई बार लिखा है और फिर लिखता हूं कि उसका संबंध शिक्षा और रुचि विशेष के विकास से होता है। जिस तरह गिज़ाओं, खुशबूओं और रंगों तथा अन्य तमाम चीज़ों को नगर विशेष की संस्कृति अच्छा या बुरा बनाया करती है और विभिन्न जातियों तथा देशों में इतना मतभेद रहता है कि एक की स्वादिष्टतम और अत्यंत प्रिय वस्तु दूसरे के लिए बहुत ही नीरस और गर्हणीय होती है वैसे ही साहित्य और उसकी रुचि होती है। जो शैली एक जाति में विकसित होकर लोकप्रिय हो जाती है, वही दूसरी जाति की दृष्टि में नीरस, निरर्थक और मूर्खतापूर्ण होती है और उन दोनों में कोई यह निर्णय नहीं कर सकता कि कौन-सी अच्छी है और कौन-सी बुरी।

इस्लाम-पूर्व अरब में वही शैली सुंदर और अलंकृत मानी जाती थी जिसमें अनुप्रासात्मक वाक्य लिखे जायें, इवारत में उचित और प्रचलित शब्द और उनके पर्यायों का प्रयोग हो और एक ही मतलब बार-बार दोहराकर उसे प्रभावशाली और दिलचस्प बनाया जाये। इसी शैली को कुरान ने, चूंकि वह उसी जाति की भाषा में था, बड़े चमत्कारपूर्ण ढंग से विकसित किया और फिर वही शैली अरबी साहित्य का एक आवश्यक तत्व बन गयी। आजकल के स्तर से देखा जाये तो अरबी की मानक कृतियां 'मुकामात-ए-हुरीरी' और 'तारीख-ए-तैमूरी' आदि में अत्यधिक अनुप्रास, अनुचित विस्तार और अनावश्यक शब्दों की भरमार के अतिरिक्त कुछ नहीं है जिसका मुद्दतों तक संसार भर आनंद लेता रहा है। यही शैली फ़ारसी के साहित्यकारों ने अपनायी और ज्यों-ज्यों साहित्य प्रगति करता गया यही शैली प्रौढ़ और स्थायी बन गयी और चूंकि



प्रारंभ के उर्दू साहित्यकार इसी शैली से प्रभावित थे इसलिए उन्होंने भी इसी का अनुसरण किया और सभी ने उनकी प्रशंसा की। लिहाजा यह सोचना कि 'चार दरवेश' जिन दिनों लिखी गयी है उन दिनों वह सिवाय इसके कि अंग्रेजों को पसंद थी, जो उर्दू जानते ही न थे, हिन्दुस्तान के शिक्षित जन-समुदाय में कोई साहित्यिक चमत्कार समझी गयी होगी, बिल्कुल गलत है।

अब अंग्रेजी के असर से बेशक ऐसा जमाना आ गया है जब उर्दू को पुराने लिटरेचर ने जो जेवर और लिवास पहनाया था, उतार लिया गया और नये पश्चिमी कपड़े पहनाये गये। 'चार दरवेश' और उसकी-सी दूसरी किताबें चूंकि पुराने साहित्यिक आभूषण और वेशभूषा से वंचित थीं इसलिए लोगों को पसंद आयीं, इसलिए नहीं कि उनमें कोई खास खूबी थी बल्कि इसलिए कि उस प्राचीन और लोकप्रिय साहित्य की विशेषताओं से रिक्त थीं जो आज के लोगों को नापसंद है।

उसी जमाने में लखनऊ में मौलवी गुलाम इमाम 'शहीद' ने अपना मशहूर 'मौलूद शरीफ' लिखा जो उस वक्त की साहित्यिक रुचि के ऐसा अनुकूल था कि लोगों को बहुत पसंद आया और धार्मिक लोकप्रियता के कारण आज भी बहुत पसंद है।

लेकिन आधुनिक उर्दू गद्य वस्तुतः दिल्ली ही से निकला और हमेशा दिल्ली का ऋणी रहेगा। मिर्जा गालिव ने उर्दू गद्य में सादगी और सहजता की शैली अपनायी जो आधुनिक रुचि के बहुत ही अनुरूप है। हालांकि उनके यहां भी कभी-कभी अनुप्रास की छटा दिखायी देती है लेकिन वह इतनी सहज है कि पढ़ने वाले को उसका एहसास गौर करने से ही हो पाता है। आधुनिक शिक्षा ने लोगों को इस शैली को अपनाने के लिए पूरी तरह तैयार कर दिया था, लिहाजा हर जगह बाह-बाह होने लगी। उसके बाद सर सैयद ने इस सादगी में गंभीरता पैदा की मगर इस कोशिश के साथ कि भाषा कठिन न होने पाये और ऐसी रहे कि छोटे-बड़े सभी उसे समझ लें। मौलवी मुहम्मद हुसैन आजाद ने इसमें गंभीरता के साथ और भी सरलता पैदा कर दी जबकि लखनऊ के लोग अंग्रेजी के प्रभाव से दूर होने के कारण अभी तक पुरानी शैली पर ही मुग्ध थे। यहां वाजिद अली शाह की ज़िंदगी के आखिरी वक्त तक रंगीन और सानुप्रास इबारत लिखी जाती थी और लोगों को इस सादगी का मज़ा नहीं मिल पाया था।



अब अलीगढ़ से 'तहजीब-उल-अखलाक', आगरे से 'तेरहवीं सदी' और लखनऊ से 'अवध पंच' निकल रहे थे जिनमें से हरेक में उर्दू गद्य का एक विशिष्ट नमूना मिल जाता था। 'तहजीब-उल-अखलाक' में गंभीरता और विद्वत्ता के साथ राष्ट्रीय सहानुभूति का भी पुट था। सुलभी हुई साफ भाषा थी और नये पाश्चात्य साहित्य और दर्शन से लिये हुए विचार और प्रभाव-शाली लेख तथा भाषण थे। 'तेरहवीं सदी' में उच्च लेखन योग्यता के साथ-साथ नये विचारों और नवीन बातों के माध्यम से प्राचीन साहित्यिक रुचि की भी रक्षा की जाती थी और पुराना पौराणिक साहित्य कुछ ऐसी नवीन सद्भावनाओं के साथ नयी शैली में प्रस्तुत किया जाता था कि नये और पुराने दोनों गिरोहों से उन्हें वाहवाही और प्रशंसा मिलती थी।

'अवध पंच' में भाषा का असल रूप दिखाया जाता था जिस में मज्जाक का पहलू हावी रहता। इसके विभिन्न लेखक थे और हरेक के मज्जाक में एक खास खूबी और खास मज्जा रहता था। मुंशी सज्जाद हुसैन एडिटर की शोखियां मिर्जा मच्छ बेग साहब की कौसर<sup>1</sup> की धोयी हुई जबान, मुंशी एहमद अली कसमंडवी की फ़ारसीनिष्ठ साहित्यिक और काव्यात्मक रुचि प्रकट करनेवाली शैली, पं० त्रिभुवन नाथ 'हिज्र' की हिंदी कविताएं और उनको बड़ी दिल-चस्पी के साथ जाहिर करनेवाले लेख उर्दू गद्य में एक विचित्र सजीवता और प्रफुल्लता उत्पन्न करते थे।

इसी अवधि में अवध अखबार के साथ पं० रतन नाथ 'सरशार' का उपन्यास 'फ़साना-ए-आज़ाद' प्रकाशित होना शुरू हुआ जिसने देश पर बड़ा असर डाला और उर्दू जगत उपन्यास कला से परिचित होकर उस पर मोहित हो गया। 'फ़साना-ए-आज़ाद' में जहां लेखक ने अपने कलम से कोई दृश्य चित्रित किया है या किसी घटना का वर्णन किया है वहां वही 'फ़साना-ए-आज़ाद' की पुरानी शैली कुछ विकसित रूप में अपनायी है और जहां दूसरों की जबान से बातचीत करायी है वहां बहुत ही सादी और सरल भाषा रखी है। विशेषकर औरतों की भाषा बहुत ही सुंदर है गो उसमें कहीं-कहीं गलतियां भी हो गयी हैं मगर सच यह है कि अपनी कोशिश में उन्हें जो सफलता मिली है वह उनसे पहले किसी को न मिल सकी थी।

यही ज़माना है जब कि मौलवी नज़ीर एहमद साहब ने गवर्नमेंट की

<sup>1</sup> स्वर्ग का एक कुंड।



फरमाइश से ताजीरात-ए-हिंद का अनुवाद किया और अपनी किताबों के जरिये से एक ऐसी ज़बान देश के सामने पेश की जो कहीं अपनी सहजता और कहीं प्रवाह में अपना सानी नहीं रखती और कहीं अरबी के शब्दों से बोझिल होने के कारण दुर्गम और अलंकृत हो गयी है। इसी ज़माने में मौलवी मुहम्मद हुसैन साहब आज़ाद का साहित्य भी बहुत लोकप्रिय हो रहा था विशेषकर उन्होंने उर्दू भाषा का इतिहास और उर्दू के कवियों का तज़क़िरा (चर्चा) लिखकर उर्दू साहित्य में बड़ी ख्याति प्राप्त की। इसी ज़माने में 1882 ई० में 'महशर' नामक एक साप्ताहिक पत्रिका मैंने मौलवी मुहम्मद अब्दुल वासित साहब 'महशर' के नाम से निकाली जिसके जरिये से एडिसन की शैली उर्दू में ऐसे सुंदर शीर्षकों और समुचित शब्दों तथा विचारों के साथ प्रस्तुत की कि देश सहसा चौंक-सा पड़ा, साथ ही मेरे लेख 'अवध अखबार' के कालमों में प्रकाशित होने शुरू हुए जिन्होंने देश के सामने एक बिल्कुल नया साहित्य पेश किया जो इतना लोकप्रिय हुआ कि हर तरफ से बाहवाही होने लगी। यक़ायक नज़र आया कि अधिकतर लेखक उसी शैली को अपना रहे हैं और देश का ग्राम रुमान उसी तरफ है। इसी दरम्यान में मैंने अपना दिलचस्प और प्रभावशाली ड्रामा 'शहीद-ए-वफ़ा' पाठकों के सामने पेश किया और हर तरफ से मुझे प्रोत्साहन मिलने लगा।

अंत में देशवासियों का आग्रह देखकर 1887 के प्रारंभ में मैंने अपनी पत्रिका 'दिलगुदाज़' जारी की जिसे अंग्रेज़ी जाननेवालों और पुरानी लीक को पसंद करनेवालों ने समान रूप से पसंद किया। फिर 1888 ई० से उसके साथ ऐतिहासिक उपन्यासों का सिलसिला जारी किया गया जिनमें सबसे पहला उपन्यास 'मलिकुल-अज़ीज़-वजिना' है। इन उपन्यासों का देश में जिस प्रकार स्वागत हुआ वह बताने की तो ज़रूरत नहीं है मगर इतना बता देना ज़रूरी है कि इन्हीं उपन्यासों की वजह से घटनाओं को जानने और पुस्तकें पढ़ने का शौक बढ़ने की बुनियाद पड़ी। इन्हीं उपन्यासों के माध्यम से देश में इतिहास के पढ़ने और संसार के बारे में दिलचस्पी लेने का शौक पैदा हुआ और इन्हीं उपन्यासों और 'दिलगुदाज़' के पन्नों से वह शैली जन्मी जिस पर वर्तमान उर्दू साहित्य की बुनियाद रखी गयी है।

बहरहाल उर्दू के गद्य का संबंध जहां तक प्राचीन साहित्यिक शैली से है उसकी बुनियाद लखनऊ में पड़ी। हां, आधुनिक शैली का प्रारंभ दिल्ली से हुआ, मगर



इस कोशिश में जहां तक संभव हुआ लखनऊ ने दिल्ली का साथ दिया। विशेष रूप से हास्य-संबंधी रुचि लखनऊ ही से पैदा हुई और यहीं उसका विकास हुआ।

## [ 12 ]

लेकिन उर्दू भाषा का जो विकास लखनऊ में हुआ वह कवियों, साहित्यकारों, गद्यकारों और लेखकों तक ही सीमित नहीं है। विभिन्न संस्थाओं और वर्गों में भाषा की प्रगति और विस्तार की नयी-नयी संभावनाएं पैदा हुई जिन्होंने सभी वर्ग वालों के लिए विशेष दिलचस्पी का सामान जुटाया।

इनमें से अधिक महत्वपूर्ण दास्तानगोई है जो दरअसल आधुनिक कविता करने को कहते हैं। यह कला वास्तव में अरबों की है जहां इस्लाम-पूर्व युग में भी दास्तानगोई की गोष्ठियों का आयोजन हुआ करता था। लेकिन हिंदुस्तान की दास्तानगोई के बारे में हम नहीं जानते कि अरब की किस्साखानी से इसका कोई संबंध है या नहीं। अमीर हमजा की दास्तान जो दास्तानगोयों का असली प्रेरणा-स्रोत है वास्तव में फ़ारसी में थी और कहते हैं कि शहशाह अकबर के जमाने में अमीर खुसरो नामक एक योग्य व्यक्ति ने इसकी रचना की थी। इतिहास साक्षी है कि तुगलक वंश के बादशाहों के शासनकाल में 'दास्तान-ए-अमीर हमजा' मौजूद थी।

दिल्ली के प्रसिद्ध दास्तान-लेखक लखनऊ में आना शुरू हुए। यहां अफ़्रीमचियों ने उनका ऐसा आदर-सम्मान किया कि दास्तान सुनने को अपनी गोष्ठियों का एक महत्वपूर्ण अंग बना लिया। कुछ ही दिनों में लखनऊ में उसका ऐसा चलन हो गया कि कोई घनिक ऐसा न था जिसकी सरकार में कोई दास्तानगो नियुक्त न हो। सैकड़ों दास्तानगो पैदा हो गये। सच तो यह है कि हमारे आजकल के बड़े-से-बड़े वक्ताओं में से अभी तक किसी को वक्तूता में वह प्रतिष्ठा नहीं मिली जो उन दास्तानगोयों को प्राप्त थी जिनका भाषा और विषय पर पूरा अधिकार था। दिल्ली में भी दो-एक उच्च कोटि के दास्तानगो आज तक पड़े हैं मगर लखनऊ में उनकी संख्या बहुत अधिक है और उनकी वर्णन शैली का प्रभाव शहर के लोगों की भाषा पर बहुत अधिक पड़ा



है। उपन्यास-साहित्य से दिलचस्पी पैदा होने के बाद जब इस बात की कोशिश की गयी कि दास्तान को दास्तानगोयों की ही ज़बान में लिखवा लिया जाये तो लखनऊ से ही ऐसे दक्ष दास्तानगो सामने आये जिन्होंने मोटे-मोटे ग्रंथ लिखकर उर्दू पाठकों के सामने पेश कर दिये। चुनांचे 'जाह' और 'कमर' की रचनाएं बड़े आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं।

दास्तान के चार लक्षण निश्चित किये गये हैं : रज़्म, बज़्म, हुस्न-ओ-इश्क और ऐयारी। इन चारों लक्षणों में लखनऊ के दास्तानगोयों ने ऐसे-ऐसे चमत्कार दिखाये हैं जिनका अंदाजा बिना देखे और सुने नहीं हो सकता। शब्दों से चित्र खींचना और उन चित्रों से बड़ा गहरा और स्थायी प्रभाव श्रोताओं के मन पर डाल देना उन लोगों का खास कमाल है।

सामाजिक मनोरंजन, मज़ाक, हास्य और दिल्लगी के माध्यम से भी लखनऊ में भाषा की कई शैलियां पैदा हो गयीं जिनमें कोई अन्य स्थान लखनऊ का मुक़ाबिला नहीं कर सकता। इन्हीं में से एक फ़क्ती कहना है। इसका दर-असल काव्यगत उपमा और अलंकार से संबंध है लेकिन इसमें इतनी विशेषता है कि यह किसी को बिगाड़कर दिखाने, उसके अवगुण को स्पष्ट करने और समयानुकूल कोई अनोखी, हंसाने वाली और अवगुण प्रकट करने वाली उपमा दे देने तक सीमित है। लखनऊ के निचले वर्ग के लड़के, बाज़ारू औरतें, जाहिल दुकानदार और दस्तकार तक ऐसी फ़क्तियां कस जाते हैं कि बाहरवालों को आश्चर्य होता है। एक साहब कर्बला<sup>1</sup> की ज़ियारत करके वापस आये और बिल्कुल सफ़ेद कपड़े पहनकर दोस्तों में आकर बैठे ही थे कि एक लौंडे ने कहा, "ऐ, यह फ़रात का बगला कहां से आ गया?" एक बूढ़े दूल्हा खिज़ाब लगाकर दुलहन ब्याहने को आये और बड़ी धूम की बरात लाये। जनाने से निकल कर वह महफ़िल में आ रहे थे। जूता उतारने के लिए भुके और चंद क़दम फ़र्श पर घुटने टेक कर चले। किसी की ज़बान से निकला, "दूल्हा कहां है?" शोख मिज़ाज रंडी जो खड़ी मुजरा कर रही थी, हंसकर बोली, "ऐ वो मैयों-मैयों चला तो आता है।" एक कवड़िया चौक में पोंडे बेच रहा था, आवाज़ यह थी, "अरे भई ये कनकौवे कौन-कौन लूटेगा?" क्या इससे ज़्यादा विनोदपूर्ण कोई और अलंकार हो सकता है। सूक्ष्म अलंकार वह है जिसमें अपमान की कोई

<sup>1</sup>इराक़ का एक प्रसिद्ध स्थान जहां हज़रत इमाम हुसैन शहीद हुए थे और जहां उनका मज़ार है।



विशेषता बताकर उक्ति में वैचित्र्य उत्पन्न कर दिया जाये। इसका इससे बढ़कर और क्या उदाहरण हो सकता है कि न पींडे का नाम लिया, न लगे का जिससे कनकौवे लूटे जाते हैं। और फिर इससे ज्यादा मुनासिब और बाजारी लोगों के स्तर की कोई उपमा नहीं हो सकती। इसी तरह की सैकड़ों-हजारों मिसालें हैं जो यहां की गोष्ठियों में उठते-बैठते हर समय सुनी जाती हैं।

दूसरा 'ज़िला'<sup>1</sup> है। यह दरअसल काव्यात्मक अलंकार है जिसने जनता की बातचीत और मज़ाक की बातचीत में आकर खास रंग पैदा कर दिया है। ज़िला में कोशिश की जाती है कि जिस चीज़ का जिक्र आ जाये उससे संबद्ध सभी चीज़ें किसी-न-किसी पहलू से बातों में ले आयी जायें। आज़ाद फ़कीर जिनका एक खास रंग-ढंग था ज़िला बोलने में अपना सानी नहीं रखते थे। अमानत ने अपनी शाइरी में अलंकारों के प्रयोग की ऐसी कोशिश की कि अन्य सभी काव्यगत गुणों को भुलाकर अलंकार को ही अपना लक्ष्य बना लिया। नतीजा यह हुआ कि उनकी कविता कविता न रहकर ज़िला मात्र रह गयी। फिर भी लखनऊ के अधिकतर लोगों ने अपनी ऐसी गोष्ठियों में जहां औपचारिकता न होती थी, इस कला को ऐसा बढ़ावा दिया कि 'अमानत' की शाइरी पीछे पड़ गयी। सच यह है कि किसी जगह के लोग ज़िला बोलने में लखनऊ से कभी आगे नहीं बढ़ सकते। इस कला पर एक पुस्तक भी प्रकाशित हो गयी है।

तीसरी शैली तुकबंदी है, यह तुकें मिलाकर कविता करने का नाम है। बहुत से जाहिल जब इधर ध्यान देते हैं तो जवाब-सवाल में इस तरह बिना तैयारी के अंत्यानुप्रासों का प्रयोग करते हैं कि बड़े-बड़े शाइरों को अचंभा होता है। हमने अपने विद्यार्थी काल में एक हिंदू बुढ़िया के कातेवाला देखा है जो सुबह खोंचा लगाकर निकलता। सूरत देखते ही सैकड़ों बाजारी लौंडें उसे घेर लेते और वह रास्ते में ही खोंचा रख कर बैठ जाता। फ़ौरन लौंडों का उससे तुकबंदी का मुक्काबिला शुरू हो जाता। सारी भीड़ एक तरफ होती, दोनों पक्षों के बीच गालियों की बौछारें होतीं, मगर शर्त थी कि कोई गाली तुक से बाहर न हो। हमने ऐसा बीसियों बार देखा, घंटों उससे मुक्काबिला रहता। मगर हमने कभी नहीं देखा कि वह जवाब में हारा हो, कोई न कोई तुक ढूँढ़ कर पेश कर ही देता था।

<sup>1</sup>द्विपर्यंक बात, व्यंग्योक्ति।



इसी तरह मजाक़ और आम बातचीत में तरह-तरह के नये विचार और कल्पनाएं सामने आती थीं और अनपढ़ लोग कभी-कभी ऐसे खयाल पेश कर दिया करते थे कि बड़े-बड़े शाइर हैरान रह जाते थे। यह जमाना दरअसल लखनऊ का 'गोल्डन एज' था। कविता और साहित्यिक गुण लोगों के रंग-रेशे में जम गये थे। हर शख्स जो मामूली पढ़ा-लिखा होता काव्य-रचना शुरू कर देता। जाहिल लोग, निचले वर्ग के लोग और घर की बैठने वाली औरतों तक में कवियों की-सी लोच और साहित्यिक कोमलता पैदा हो गयी थी। अनपढ़ कबड़िये शाइर थे और जाहिलों की भाषा भी इतनी साफ-सुथरी, शिष्टाचार के शब्दों से युक्त और सुसंस्कृत थी कि अक्सर पढ़े-लिखे लोग उनकी बातचीत सुनकर चकित रह जाते और कोई यह कल्पना भी न कर पाता कि वे बे-पढ़े-लिखे होंगे। सौदा बेचने वालों की सदाएं ऐसी काव्यमय, अलंकृत और उक्ति-वैचित्र्य से परिपूर्ण होती थीं कि दूसरे उसे समझ भी न पाते थे।

निचले वर्ग के लोगों ने भी अपनी रुचि के अनुरूप खास साहित्यिक दिल-चस्पियां पैदा कर ली थीं। मिसाल के तौर पर एक शैली खयाल की पैदा हो गयी। लोग बिना सोचे या तैयारी के शेर लिखकर दायरे पर गाते। उसका नाम खयाल इसलिए रखा गया कि हर व्यक्ति अपनी कल्पनाशक्ति से कोई नयी बात पैदा करे। इस कला के यहां अनेक मर्मज्ञ पैदा हुए जिनका हालांकि उच्च वर्ग के समाज और शिक्षित लोगों की गोष्ठियों से कोई संबंध नहीं था लेकिन वास्तव में देखा जाये तो वह वास्तविक और प्राकृतिक कविता थी और कुछ वैसी ही थी जैसी कि इस्लाम-पूर्व युग के अरब में थी।

इसी तरह एक गिरोह डंडेवालों का पैदा हो गया। इन लोगों की यह शान थी कि पिछले युग की महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध घटनाओं को बड़े चमत्कार-पूर्ण ढंग से कविताबद्ध करते। जो जैसा होता—चाहे वह कितना ही प्रभाव-शाली और धनवान हो—उसे वैसा ही बड़े निर्भीक ढंग से चित्रित करते और साबित करते कि देश को इससे क्या फ़ायदा हुआ या कितना बड़ा नुकसान पहुंचा। फिर अपनी इन कविताओं को शेर पढ़ने के एक खास ढंग से डंडे बजा बजाकर सुनाते।

स्त्रियों की भाषा पुरुषों की अपेक्षा हर देश और जाति में अधिक साफ और आकर्षक होती है, मगर लखनऊ में यह खास बात थी कि महलों और सभ्रांत परिवार की सम्मानित बेगमों की भाषा में स्त्रैण आकर्षणों के अतिरिक्त



साहित्यिक कोमलता पैदा हो गयी थी। बातें करतीं तो मालूम होता कि मुंह से फूल भड़ रहे हैं और गौर कीजिये तो शब्दों का शुद्ध प्रयोग, सुंदर शब्द विन्यास और व्यंजनाशीली से प्रकट होता है कि भाषा का इस प्रांत में कितना विकास हो चुका है।

## [ 13 ]

इसके बावजूद कि अरबी विद्याओं के बड़े-बड़े धुरंधर विद्वान लखनऊ में पैदा हुए, इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि अरबी की शिक्षा देश के बड़े-बड़े धर्मगुरुओं और नेताओं तक सीमित थी। हिंदुस्तान में दरबारी ज़बान फ़ारसी थी। नौकरी हासिल करने के लिए और समाहृत गोष्ठियों या सभाओं में चमकने के लिए यहां फ़ारसी की शिक्षा काफी समझी जाती थी। अवध ही नहीं सारे हिंदुस्तान में साहित्यिक तथा नैतिक प्रगति का साधन केवल फ़ारसी ही मान ली गयी थी। मुसलमान तो मुसलमान ऊंचे वर्ग के हिंदुओं का ग्राम रुक्नान फ़ारसी साहित्य की ओर था। यहां तक कि उच्च कोटि के लेख हिंदू लेखकों की क़लम से ही लिखे गये थे। टेकचंद 'बहार' ने 'बहार-ए-अजम' की-सी लाजवाब किताब लिखी जो फ़ारसी भाषा का एक अनुपम शब्दकोष है और जिसमें हर मुहावरे के प्रमाण में अधिकृत कवियों के शेर प्रस्तुत किये गये हैं। लखनऊ के प्रारंभिक उत्थान में मुल्ला 'फ़ायक़' का, फिर मिर्ज़ा 'क़तील' का नाम मशहूर हुआ जो एक नव-मुसलिम फ़ारसीविद थे। वे खुद तो मज़ाक में कहा करते कि "बू-ए कबाब मरा मुसलमान कर्द" (कबाब की गंध ने मुझे मुसलमान बना दिया) मगर सच यह है कि फ़ारसी की शिक्षा, उससे दिलचस्पी और उसमें कमाल हासिल करने की इच्छा ने उन्हें मुसलमान होने पर मंजूर कर दिया। उन्होंने सिर्फ़ इसी शौक में ईरान का सफ़र किया। बरसों शीराज़, इस्फ़हान, तेहरान और अज़रैबजान की खाक छानी और फ़ारसी साहित्य में उनकी ऐसी प्रतिष्ठा हो गयी कि खुद फ़ारसीभाषी भी ऐसे महान भाषाविद से ईर्ष्या करें तो आश्चर्य की बात नहीं है।

मिर्ज़ा ग़ालिब ने जा-बजा मिर्ज़ा 'क़तील' पर हमले किये हैं। बेशक मिर्ज़ा ग़ालिब का फ़ारसी ज्ञान उच्च कोटि का था। वे इस सिद्धांत पर बार-बार



जोर देते थे कि किसी ऐसे व्यक्ति के अलावा जिसकी कोई भाषा-विशेष मातृ-भाषा हो और किसी व्यक्ति का कथन प्रमाण नहीं माना जा सकता। मगर उनके समय में चूंकि अवध से बंगाल तक लोग 'कतील' के अनुयायी थे और बात-बात पर 'कतील' का नाम लिया जाता था इसलिए मिर्जा ग़ालिब को अक्सर तैश आ गया और जब 'कतील' के अनुयायियों ने उनको आड़े हाथों लिया तो कहने लगे :

फ़ैजे अज़ सोहबत-ए-कतीलम नीस्त  
रश्क बर शोहरत-ए-कतीलम नीस्त  
मगर आना कि फ़ारसी दानंद  
हम बरीं अहद-ओ-राए-पैमानंद  
कि ज़अहल-ए-जुबां न बूद कतील  
हरगिज़ अज़ इस्फ़हां न बूद कतील  
लाजरम एतिमाद रा न सज़द  
गुफ़ता अश इस्तनाद रा न सज़द  
की जुबान खास अहल-ए-ईरान अस्त  
मुश्किल-ए-मा-ओ-सहल-ए ईरान अस्त  
सुखनस्त आश्कार-ओ-पिन्हान नीस्त  
देहली-ओ-लखनऊ ज-ईरां नीस्त

[मुझे 'कतील' की संगति में बैठने का और उनसे लाभान्वित होने का अवसर नहीं मिला है, न ही मुझे उनकी ख्याति से कोई द्वेष है। लेकिन मुझे अगर ईर्ष्या और द्वेष किसी से होगा तो किसी ऐसे फ़ारसीविद से होगा जिसकी मातृभाषा फ़ारसी हो। 'कतील' की मातृभाषा फ़ारसी नहीं थी, न ही वह इस्फ़हान के रहने वाले थे, लिहाज़ा उनके काव्य को प्रामाणिक या विश्वसनीय नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह भाषा ईरानियों की है जो हमारे लिए कठिन है और उनके लिए सरल। उनकी कविता में कोई ऐसी प्रकट या प्रच्छन्न बात नहीं है क्योंकि दिल्ली और लखनऊ ईरान के शहर नहीं हैं।]

मगर इससे यह नतीजा नहीं निकलता कि 'कतील' ने फ़ारसी ज्ञान के लिए जो प्रयत्न किये और उसमें दक्षता प्राप्त करने में ज़िदगी गुज़ारी, वह बिल्कुल बेकार गया। इस बात के मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो



सकती कि 'क़तील' का कोई दावा, जब तक वे फ़ारसी भाषी विद्वान का प्रमाण न दें, स्वीकार नहीं किया जा सकता और न खुद क़तील के मन में कभी यह विचार आया होगा। लेकिन यह सिर्फ 'क़तील' पर ही निर्भर नहीं, हिंदुस्तान का कोई व्यक्ति खुद प्रमाण नहीं हो सकता। खुद मिर्जा नौशा ग़ालिब भी कोई फ़ारसी का मुहाविरा किसी ईरानी के सुबूत के बिना इस्तेमाल नहीं कर सकते। हिंदुस्तान के फ़ारसीविदों की अगर कुछ प्रतिष्ठा बन सकती है तो सिर्फ इस आधार पर कि फ़ारसी काव्य का उनका अध्ययन गहन है और वे फ़ारसी के प्रत्येक शब्द का ठीक प्रयोग कहां-कहां हो सकता है इससे परिचित हैं। इस दृष्टि से सच पूछिये तो ग़ालिब के मुकाबिले में 'क़तील' अधिक प्रामाणिक थे। ग़ालिब ज़िदगी भर हिंदुस्तान की खाक छानते रहे और साथ ही जीविका-अर्जन के लिए प्रयत्नशील रहे। 'क़तील' का जीवन सुख-संतोष में बीता था और वे बरसों ईरान में रह कर गांव-गांव की ठोकरें खाते फिरे थे।

कुछ भी हो, लखनऊ के फ़ारसी ज्ञान का श्रीगणेश 'क़तील' से हुआ और उनसे कुछ पहले मुल्ला 'फ़ायक़' ने, जिनका खानदान आगरा से आकर लखनऊ के आसपास बस गया था, फ़ारसी गद्य-पद्य में उच्च कोटि के ग्रंथों की रचना की। फ़ारसी भाषी और फ़ारसीविद हिंदुस्तान में उनसे पहले भी गुजरे थे, मगर फ़ारसी जानने के साथ-साथ उस भाषा के नियम और उसका व्याकरण तैयार करने का शौक पहले-पहल लखनऊ ही में शुरू हुआ और वह इन्हीं की क़लम से जाहिर हुआ। उनकी फ़िताबें अगर सच पूछिये तो बेमिसाल हैं।

उसके बाद फ़ारसी की शिक्षा आम हो गयी और उसका पाठ्यक्रम इतना कठिन बना दिया गया जो सच यह है कि खुद ईरान के पाठ्यक्रम से अधिक कठिन था। ईरान में, जैसा कि हर देश का नियम है, सीधी-सादी भाषा जिसमें सफाई के साथ कोई बात कही जाये, पसंद की जाती है और उसी प्रकार का पाठ्यक्रम भी है। हिंदुस्तान में 'दर्ज़ी' ज 'फ़ैज़ी' और नेमत खान-ए-अली जैसे नाजुकख़याल शाइरों का काव्य पाठ्य-पुस्तकों में शामिल हो गया। मुल्ला तुग़रा और पंजरुक्का के लेखक जैसे दुरूह कवियों की कविताएं पढ़ी और पढ़ायी जाने लगीं जिससे दावा किया जा सकता है कि हिंदुस्तान का फ़ारसी भाषा का ज्ञान ईरान से भी बढ़ गया था और यहीं के लोगों ने फ़ारसी



की तमाम पाठ्य-पुस्तकों की उच्च कोटि की टीकाएं लिख डाली थीं और उसी का यह परिणाम है कि जबकि दुनिया के तमाम भाषाओं के कवि उस भाषा-विशेष के बोलने वालों तक ही सीमित रहते हैं और अगर कुछ दूसरे भाषाभाषी उस भाषा में कविता करने भी लगते हैं तो उस भाषावाले उन्हें नहीं मानते। फ़ारसी के कवि ईरान से ज्यादा नहीं तो ईरान के बराबर ही हिंदुस्तान में पैदा हुए, विशेषतः पिछली सदी में जबकि शिक्षा-प्रसार और सामान्य प्रगति के लिए लखनऊ हर जगह प्रसिद्ध हो रहा था और यहां का बच्चा-बच्चा फ़ारसी बोलता था। जाहिल रंडियों और बाजारी मजदूरों की भाषा पर फ़ारसी की ग़ज़लें चढ़ी हुई थीं और भांड तक फ़ारसी की नकलें करते थे। अवध के क़स्बों के सभी शरीफ़ आदमियों की जीविका का साधन फ़ारसी पढ़ाना था और ऐसे देहाती विद्वान फ़ारसी अध्यापक लखनऊ की गलियों में मारे-मारे फिरते थे कि उनके फ़ारसी ज्ञान पर खुद ईरान वाले भी चकित होते। उनका लवो-लहजा ईरानियों का-सा न हो, मगर फ़ारसी के मुहाविरों, शब्द-विन्यास और शब्दों के प्रयोग में वे ऐसे दक्ष थे कि मामूली ईरानी फ़ारसीविदों को भी कुछ न समझते थे।

लखनऊ में फ़ारसी के प्रति रुचि कितनी बढ़ी हुई थी इसका अंदाज़ा लखनऊ की उर्दू भाषा से हो सकता है। जाहिलों और औरतों तक की ज़वान पर फ़ारसी की संधियां, शब्द-विन्यास और कारक मौजूद हैं और लखनऊ की भाषा पर हमला करनेवालों को अगर कोई एतराज़ की बात इतने दिनों में मिल सकी है तो वह सिर्फ़ यह है कि उसमें फ़ारसी का दखल ज़रूरत से ज्यादा बढ़ गया है। लेकिन इस दौर में हुई प्रगति के स्तर को देखते हुए यही चीज़ लखनऊ की भाषा की खूबी और उसके समाज के उन्नत हो जाने का कारण थी। खुद दिल्ली में उर्दू भाषा की उन्नति के जितने दौर कायम किये जायें उनमें भी अगले-पिछले दौर का फ़र्क सिर्फ़ यही हो सकता है कि पहले की अपेक्षा बाद वाले में फ़ारसी का असर अधिक है।

मुसलमानों की तरह हिंदू भी फ़ारसी में ख्याति प्राप्त कर रहे थे। उनकी यह रुचि मुगल सल्तनत के आरंभिक काल से ही प्रकट होने लगी थी। उस समय भी जितने प्रसिद्ध और प्रामाणिक फ़ारसीविद हिंदू लखनऊ के आसपास मौजूद थे और कहीं नहीं थे। कायस्थों और कश्मीरी पंडितों ने फ़ारसी की शिक्षा को अपने लिए अनिवार्य बना लिया था और यहां तक तरक्की की थी



कि कश्मीरी पंडितों की तो मातृभाषा ही उर्दू हो गयी और उनके और मुसलमानों के फ़ारसी ज्ञान में बहुत कम फ़र्क रह गया था। कायस्थ चूंकि यहीं के निवासी थे इसलिए उनकी ज़वान 'भाषा' (खड़ी बोली) रही। मगर फ़ारसी की शिक्षा भी कायस्थों में इतनी जड़ें जमा चुकी थी कि वे फ़ारसी मुहाविरों का इस्तेमाल हृद से ज़्यादा करने लगे थे। यह बात और कहीं के हिंदुओं में न थी। उन दिनों लोग कायस्थों की भाषा का मज़ाक उड़ाया करते थे, मगर सच यह है कि वजाये मज़ाक उड़ाने के उनकी कद्र करनी चाहिए थी, इसलिए कि उनकी भाषा उनकी शैक्षिक प्रगति की द्योतक थी जिस तरह आजकल अंग्रेजी के शब्दों के उचित-अनुचित प्रयोग को अंग्रेजी जाननेवाले अपनी अपनी भाषा में का प्रमाण मानते हैं और बहुत वदतमीजी से अंग्रेजी से अपनी भाषा में भरते चले जाते हैं।

लखनऊ में उन दिनों फ़ारसी के सैकड़ों गद्यकार और कवि मौजूद थे और उर्दू की तरह फ़ारसी मुशायरों का भी सिलसिला जारी रहा था। फ़ारसी शरीफ़ों की ही नहीं आम जनता की भाषा बन गयी थी और अब इसके बावजूद कि फ़ारसी दरवारी ज़वान नहीं रही और राजगद्दी पर उर्दू भाषा का कब्ज़ा हो गया है मगर सभ्य समाज पर आज तक फ़ारसी का सिक्का जमा हुआ है और आम खयाल यही है कि फ़ारसी मदरसों से निकल गयी और जीविकोपार्जन के लिए उसकी ज़रूरत बाकी नहीं रही। मगर इंसान फ़ारसी पढ़े बिना सभ्य समाज में बैठने के योग्य नहीं हो सकता और न सही माने में पूरा इंसान बन सकता है।

इंग्लिस्तान में कभी फ़्रांसीसी ही दरवारी ज़वान थी। अब अगर्चे मुद्दत हुई कि वह दरवार से निकाल दी गयी मगर सांस्कृतिक और नैतिक प्रगति आज भी फ़्रांसीसी भाषा सीखे बिना नहीं प्राप्त की जा सकती। खाने-पीने, उठने-बैठने, पहनने-ओढ़ने और हंसने-बोलने ज़िदगी के सभी तौर-तरीकों पर फ़्रांसीसी का साम्राज्य अब तक वैसा ही बना हुआ है और लड़कियां फ्रेंच भाषा सीखे बिना शिष्ट महिलाएं नहीं बन सकतीं। यही हाल लखनऊ का है कि फ़ारसी दरवार से गयी, पत्र-व्यवहार से गयी मगर समाज के सभी क्षेत्रों पर अब तक उसका आधिपत्य है और बिना फ़ारसी की शिक्षा प्राप्त किये न हमारी रुचि परिष्कृत हो सकती है और न हमें बात करने का ढंग आ सकता है।

मटिया बुर्ज में अंतिम और अभागे अवध नरेश के साथ जो कुछ लोग वहां



जाकर बस गये थे उनमें कोई पढ़ा-लिखा ऐसा न था जो फ़ारसी न जानता हो। दफ़्तर की भाषा फ़ारसी थी और हिंदू-मुसलमानों में सैकड़ों फ़ारसी के शाइर थे। औरतें तक फ़ारसी में शेर कहती थीं और बच्चा-बच्चा फ़ारसी में अपना मतलब बयान कर लेता था।

आजकल लखनऊ में फ़ारसी की शिक्षा बहुत कम हो गयी है और हिंदुओं ने तो इसे ऐसा छोड़ दिया कि वह कायस्थों की भाषा ग़ायब हो गयी जिसका भाषा-संबंधी गोष्ठियों में उपहास किया जाता था और भांड तक उस फ़ारसी-निष्ठ भाषा की नक़लें करते थे। मगर फिर भी पुराने बुजुर्गों और खास तौर से मुसलमानों में बहुत कुछ फ़ारसी-प्रेम मौजूद है, इसलिए कि उनकी उर्दूदानी ही एक हद तक उनके लिए फ़ारसीदानी का साधन बन जाती है। मुसलमानों में अब तक ख्वाजा अजीज़उद्दीन साहब जैसा फ़ारसी अनुसंधाता अतीत की साहित्य गोष्ठियों की याद दिलाने के लिए ज़िंदा है जो अपनी विद्वता के लिए सारे भारत में प्रसिद्ध है। बड़े हिंदुओं में भी फ़ारसी के अनेक स्कालर मिलेंगे जिसका एक नमूना सदेला के राजा दुर्गा प्रसाद हैं जिनका सबसे बड़ा कमाल यह है कि जमाना बदल गया, जमीन आसमान बदल गये, आवोहवा बदल गयी मगर वे आज तक वही हैं। फ़ारसीदानी की दाद देने और लेने को मौजूद हैं और पिछले इतिहास के एक कीड़ा लगे पन्ने की तरह चूमने-चाटने और आंखों से लगाने के योग्य हैं।

## [ 14 ]

विद्याओं में ही खुशनवीसी (सुलेख) और लिखावट की कला है। मुसलमानों की पुरानी लिपि अरबी थी जिसे 'नस्ख' कहते हैं। बग़दाद की खिलाफ़त से लेकर मध्य युग तक सारी इस्लामी दुनिया में पूर्व से पश्चिम तक यही लिपि थी। हीरा<sup>1</sup> की पुरानी लिपि से कूफ़ी लिपि और कूफ़ी लिपि से नस्ख लिपि बन गयी थी। ताहिरिया वंश के ज़माने से वे सभी विद्याएं और कलाएं जो बग़दाद में विकसित हो रही थीं, ईरान और ख़ुरासान की तरफ़ आने लगीं और बेलमियों तथा सलजूकियों<sup>2</sup> के ज़माने में बग़दाद की अधिकतर कलाएं ईरान

<sup>1</sup> दक्षिणी अरब का एक ज़िला।

<sup>2</sup> दो शाही खानदान जिन्होंने ईरान पर राज्य किया था।



में एकत्र हो गयीं विशेषकर वेलमियों के विद्या-प्रेम और आमोद-प्रमोद से ईरान का पश्चिमी प्रांत अज़रबैजान जो स्वाभाविक रूप से ईरानी इराक़ और अरब इराक़ के बीच में स्थित था, हर तरह की अच्छाइयों और तरक्कियों का केंद्र बन गया ।

इसी इलाके में पहले-पहल लिपि ने भी नया रूप धारण करना शुरू किया । खुशनवीसी मुलेख की परिधि से निकलकर नक्काशी के क्षेत्र में आ गयी और उसमें चित्रकला की-सी बारीकियां पैदा की जाने लगीं । ईरानी नज़ाकतपसंदों को अरब की लिपि की पुरानी सादगी में भद्दापन नज़र आया और पुरानी लीक, खुदबखुद छूटने लगी । नस्ख में क़लम हर अक्षर और शब्द की बनावट में शुरू से आखिर तक एक जैसा रहा करता था । अक्षरों में असमान घुमाव और अनुचित असमानता होती थी । दायरे गोल न थे बल्कि नीचे और चपटे होते और इधर-उधर उनमें कोने पैदा हो जाते । अब नक्काशी को खुशनवीसी में मिलाकर लिखावट में नोक-पलक पैदा की जाने लगी । दायरे खूबसूरत और गोल लिखे जाने लगे । उस आधुनिक स्तर को सामने रखकर सबसे पहले मीर अली तब्रेज़ी ने जो खास वेलम का रहने वाला था इस नयी लिखावट को नियमित रूप प्रदान करके पूर्व के शहरों में प्रचलित किया और उसका नाम नस्तालीक़ करार दिया जो असल में नस्ख-तालीक़ यानी 'नस्ख' का परिशिष्ट था ।

यह नहीं मालूम कि मीर अली तब्रेज़ी किस जमाने में थे । मुंशी शम्स-उद्दीन साहब जो आज लखनऊ के मशहूर और माने हुए खुशनवीस हैं उनका जमाना तैमूर से पहले बताते हैं लेकिन 'नस्तालीक़' की किताबें इतनी पुरानी मिलती हैं कि तैमूर दरकिनार हम समझते हैं कि इस लिपि का आविष्कार महमूद गजनवी से भी पहले हो चुका था । इसमें शक नहीं कि महमूद के हमलों के साथ ही साथ हिंदुस्तान में फ़ारसी खुशनवीसों की भी आमद शुरू हो गयी होगी जिनके असर से यहां इस लिपि का रिवाज़ शुरू हुआ और हिंदुस्तान के हर प्रांत और हर जिले में नस्तालीक़ के खुशनवीस बहुत बड़ी तादाद में पैदा हो गये । लिहाज़ा या तो मीर अली तब्रेज़ी का युग बहुत प्राचीन है और या वह इस लिपि के असली आविष्कारक नहीं हैं । लेकिन इसमें शक नहीं कि दिल्ली और लखनऊ बल्कि सारे हिंदुस्तान की वर्तमान खुशनवीसी अपना आदि गुरु मीर अली तब्रेज़ी को बताती है । उनके बहुत मुद्दत के बाद ईरान



में नस्तालीक़ के गुरु मीर इमादुल हसनी मशहूर हुए जो एक नामवर खुशनवीस और इस कला के गुरु माने जाते हैं। उनके भानजे आगा अब्दुरशीद वैली नादिरशाह के आक्रमण के समय हिंदुस्तान आये और लाहौर में आकर ठहर गये। लाहौर में उनके सैकड़ों शागिर्द पैदा हुए जिन्होंने सारे हिंदुस्तान में फैलकर उन्हें यहां की खुशनवीसी का आदम नहीं तो नूह जरूर साबित कर दिया।

उन्हीं के दो शिष्य, जो विलायती थे, लखनऊ आये। इन दोनों बुजुर्गों में से एक हाफ़िज़ नूरुल्ला और दूसरे क़ाजी नेमतुल्ला थे। कहा जाता है कि अब्दुल्ला बेग नामक आगा अब्दुरशीद के एक तीसरे शागिर्द भी लखनऊ में आये थे। इन लोगों के आने का ज़माना शायद नवाब आसफ़उद्दौला बहादुर का ज़माना था जब यहां कोई कलाकार या शिल्पी आकर वापस न जाने पाता था। क़ाजी नेमतुल्ला आते ही इस काम पर तैनात हो गये कि शाहज़ादों का लेख सुधारा करें और हाफ़िज़ नूरुल्ला का भी अवध के दरबार से संबंध हो गया और उन दोनों ने यहां ठहर कर लोगों को खुशनवीसी सिखाना शुरू की।

इन बुजुर्गों के अलावा यहां और पुराने खुशनवीस भी थे जिनमें से एक नामवर बुजुर्ग मुंशी मुहम्मद अली बताये जाते हैं। मगर आगा अब्दुरशीद के शागिर्दों ने अपना ऐसा सिक्का जमा लिया कि खुशनवीसी के सारे शौकीन बल्कि सारा शहर उनकी ओर आकृष्ट हो गया। जिसे भी खुशनवीसी का शौक हुआ, उन्हीं का शागिर्द हो गया और पुरानी तमाम लिखावटों के नाम मिट गये, गुमनामी के अथाह सागर में डूब गये और सच यह है कि ये बुजुर्ग अपने कमाल की वजह से इसके हक़दार भी थे।

हाफ़िज़ नूरुल्ला की लखनऊ में जो क़द्र हुई उसका अंदाज़ा इसी से नहीं हो सकता कि वे यहां सरकार में नौकर हो गये थे, बल्कि लखनऊ की क़द्र-दानी का सही अंदाज़ा इससे होता है कि लोग उनके हाथ के लिखे हुए क़ित्रों (पुर्जों) को मोतियों के दामों मोल लेते, यहां तक कि उनकी मामूली लिखावट भी बाज़ार में सिर्फ़ एक रुपया अक्षर के हिसाब से हाथों-हाथ बिक जाती थी।

उन दिनों अमीर और शौकीन लोग अपने मकानों को वजाये तस्वीरों के क़ित्रों से सजाया करते थे जिसकी वजह से उन पत्रों की बहुत अधिक मांग



थी। जहाँ किसी अच्छे खुशनवीस के हाथ का क़िआ मिल जाता उस पर लोग परवानों की तरह गिरते और उसे आँखों से लगाते। इससे समाज को तो यह लाभ पहुँचता कि अनेक नैतिक सिद्धांत और उपदेशात्मक वाक्य या शेर हमेशा सामने रहते और हर समय घर में नीति-पाठ मिलता रहता और खुशनवीसी को यह फ़ायदा पहुँचता कि खुशनवीसों ने अपने कमाल को क़िआ लिखने तक ही सीमित कर दिया था जो आवदार और उम्दा वसलियों को लिखकर तैयार करते और उसी में वे घर बैठे धनवान हो जाते। मगर अफ-सोस अब हिंदुस्तान से क़िआओं और क़त्वों (शिलालेख) का रिवाज उठता जाता है और उनकी जगह तस्वीरों ने ले ली है जिसकी वजह से साज-सज्जा की पिछली सभ्य और सुसंस्कृत रुचि के मिटने के साथ ही खुशनवीसी की कला भी यहाँ से उठ गयी। अब कातिब तो हैं खुशनवीस नहीं हैं और जो दो-एक खुशनवीस मशहूर हैं भी वे मजबूर हैं कि कापीनवीसी और कितावत<sup>1</sup> से अपना पेट पालें जो चीज़ कि असल में खुशनवीसी की दुश्मन है। इसके विपरीत उन दिनों एक गिरोह क़ायम हो गया था जिसका काम सिर्फ़ यह था कि खुशनवीसी के नियमों का पालन करे और उसका समय-समय पर समुचित विकास करता रहे। यही वजह थी कि पिछले खुशनवीस कितावत को अपनी शान के खिलाफ़ समझते थे और समझते थे कि जो शरस पूरी-पूरी किताबें लिखेगा उसके लिए यह नामुमकिन है कि वह शुरू से आखिर तक खुशनवीसी के नियमों का पूरी तरह पालन कर सके। और सच यह है कि जितनी मेहनत वे लोग एक-एक वसली की दुरुस्ती में करते थे, कातिब पूरी किताब के लिखने में उसका लेशमात्र भी नहीं कर सकते।

उनकी मेहनत का अंदाज़ा इससे हो सकता है कि हाफ़िज़ नूरुल्ला से एक बार नवाब सआदत अली खां ने फ़रमाइश की कि “मुझे ‘गुलिस्ता’<sup>2</sup> का एक नुस्खा (प्रति) लिख दीजिए।” नवाब सआदत अली खां सादी की ‘गुलिस्ता’ के बहुत शौकीन थे और कहते हैं कि ‘गुलिस्ता’ हर समय उनके सरहाने मौजूद रहा करती थी। और कोई ऐसी फ़रमाइश करता तो हाफ़िज़ नूरुल्ला अपनी तीहीन समझकर उसका मुंह ही नोच लेते। मगर शासक का कहना था इसलिए मंजूर कर लिया और अर्ज किया, “तो मुझे अस्सी गड़ड़ी कागज़ (उन

<sup>1</sup> लीथो प्रेस के लिए लिखाई का काम।

<sup>2</sup> फ़ारसी कवि शेख सादी का कथा-संग्रह।



दिनों रिम को गड़ड़ी कहते थे), एक सौ कलमतराश चाक्रू और खुदा जाने कितने हजार कलमों के नरकट मंगवा दीजिये ।” सम्राट अली खां ने आश्चर्य से पूछा, “फ़क़त अकेली एक गुलिस्तां के लिए इतना सामान दरकार होगा ?” कहा, “जी हां, मैं इतना ही सामान खर्च किया करता हूं ।” नवाब के लिए उस सामान का जुटाना कुछ मुश्किल तो था नहीं, मंगवा दिया । अब हाफ़िज़ साहब ने गुलिस्तां लिखना शुरू की, मगर पूरी नहीं होने पायी थी, सात अध्याय ही लिख पाये थे और आठवां अध्याय बाक़ी था कि उनका देहांत हो गया । उनके बाद जब उनके बेटे हाफ़िज़ इब्राहीम दरबार में पेश हुए और उन्हें सम्बेदना-स्वरूप काला खिलअत दिया गया तो सम्राट अली खां ने कहा, “भई, मैंने हाफ़िज़ साहब से गुलिस्तां लिखवायी थी । खुदा जाने उसका क्या हाल हुआ ?” हाफ़िज़ इब्राहीम ने अज़ किया, “उनके लिखे हुए सात अध्याय तैयार हैं, आठवां बाक़ी है उसे यह अकिंचन लिख देगा और उसे उतना ही शानदार बना देगा कि हुज़ूर फ़र्क़ न कर पायेंगे । लेकिन हां, अगर किसी भिखी खुशनवीस ने देखा तो वह बेशक पहचान लेगा ।” नवाब ने इजाज़त दी और उस गुलिस्तां को हाफ़िज़ इब्राहीम ने पूरा किया ।

हाफ़िज़ नूरुल्ला के शागिर्दों में अधिक प्रतिष्ठित सबसे पहले तो उनके बेटे हाफ़िज़ मुहम्मद इब्राहीम थे । दूसरे मुंशी सरब सिंह नामक एक हिंदू बुजुर्ग थे जिनको कोई कायस्थ बताता है और कोई कश्मीरी पंडित । और तीसरे मुहम्मद अब्बास नामक लखनऊ के एक खुशनवीस थे । हाफ़िज़ इब्राहीम ने भी बहुत नाम पैदा किया और सैकड़ों आदमियों को खुशनवीस बना दिया और इस कला में एक नवीनता पैदा करके अपने पिता से भिन्न गरिमा प्रदान की । हाफ़िज़ नूरुल्ला के दायरे बिल्कुल गोल होते थे, हाफ़िज़ इब्राहीम ने उन्हें कुछ मामूली-सा अंडाकार बना दिया । मुंशी सरब सिंह के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने अपने उस्ताद की शान ऐसी उड़ा ली थी कि सैकड़ों वसलियां हाफ़िज़ नूरुल्ला के नाम से फैला दीं और बड़े-बड़े खुशनवीस बिल्कुल तमीज़ नहीं कर सकते थे और यह उन दिनों खुशनवीसी का बहुत बड़ा कमाल था ।

हाफ़िज़ इब्राहीम के खास शागिर्दों में पहले तो उनके साहबज़ादे हाफ़िज़ सईदउद्दीन थे । उनके अलावा मुंशी नज़ीर हमीद, मुंशी अब्दुल मजीद जो सरकार के शाही हुक्म और अन्य पत्र-व्यवहार (अंग्रेज़ी साम्राज्य और अवध के राज्य के बीच) लिखने पर तैनात थे । मगर हाफ़िज़ इब्राहीम के दो शिष्यों



ने बहुत ख्याति प्राप्त की। जो अपने समय के लखनऊ के उस्ताद माने गये थे : एक तो मुंशी मंसा राम कश्मीरी पंडित जो इस कला के बहुत बड़े पंडित थे और दूसरे मुंशी मुहम्मदहादी अली जो नस्तालीक के अलावा नस्ख और तुगरान-वीसी<sup>1</sup> में भी लखनऊ में अपना सानी नहीं रखते थे।

उधर काजी नेमतउल्ला के शागिर्द एक तो उनके बेटे मौलवी मुहम्मद अशरफ़ थे और दूसरे मौलवी कुल एहमद।

गरज नस्तालीक के यही लोग उस्ताद थे जिनसे लखनऊ में खुशनवीसी कमाल को पहुंची। फिर प्रेस चालू होने के बाद किताबत और कापीनवीसी ने प्रगति की और दरअसल यह इसी खानदान की वरकत है कि लखनऊ में हजारों मुसलमान, हजारों कायस्थ जिनसे नौवस्ता और अशरफ़ावाद के मुहल्ले भरे हुए हैं और सैकड़ों कश्मीरी पंडित खुशनवीस हो गये। मगर अफ़सोस कश्मीरी पंडितों ने अंग्रेजी शिक्षा के शौक में और खुशनवीसी का महत्व घटते देखकर इस कला को बिल्कुल छोड़ दिया और अब जितने अच्छे लिखने वाले हैं सब मुसलमान हैं या कायस्थ।

आखिर ज़माने में सदेला के एक मुंशी अब्दुल हई भी बड़े कमाल के खुशनवीस थे जिनके शागिर्द मुंशी अमीर उल्ला 'तस्लीम' उनके बड़े भाई मुंशी मुहम्मद अब्दुल लतीफ़ और मुंशी अशरफ़ अली वगैरा थे। फ़िलहाल नस्तालीक में मुंशी शम्सउद्दीन साहब और नस्ख में मुंशी हामिद अली साहब मशहूर हैं और ये दोनों मुंशी हादी अली साहब के शागिर्द हैं।

हिंदुस्तान में नस्ख लिखावट के संबंध में जिन लोगों के नाम लिये जाते हैं उनमें सबसे पहले शख़श याक़ूत मुस्तासी के उपमान से मशहूर हैं जो याक़ूत अब्बल कहलाते हैं। हमें इस नाम का कोई वाकमाल कातिब मुअतसिम बिल्ला के ज़माने में नज़र नहीं आता। क्या अजब कि इस नाम से अभिप्राय इमाद कातिब हो जिसकी किताब 'ख़रीदा' मशहूर है और जो पहले शाम (सीरिया) में सुल्तान अताबक नूरुद्दीन जंगी का और उसके बाद मिस्र में सुल्तान सलाहउद्दीन अय्यूबी, बेतुलमुकद्दस-विजेता, का कातिब था, इसलिए कि नस्ख का सबसे बड़ा आखिरी खुशनवीस वही माना जाता है। उसके बाद सुलतान औरंगज़ेब आलमगीर के शासन काल में मुहम्मद

<sup>1</sup> एक प्रकार की लिखावट जिसमें कोई आकृति बना देते हैं, वादशाहों के फ़रमानों पर शाही संबोधन-अभिवादन लिखने की लिखावट।



आरिफ़ नामक नस्ख लिखावट के एक बड़े माहिर पैदा हुए जिनको 'याक़ूत-रक़म-ए-सानी' का खिताब दिया गया। आमतौर से कहा जाता है कि उन्होंने नस्ख की नयी शान ईजाद की और पहले के मुक़ाविले उसे ज़्यादा सुंदर बना दिया। यहां तक कि नस्ख के लखनऊ के उस्ताद दावा करते हैं कि उनके कमाल को सारी इस्लामी दुनिया ने माना है। मैं इसे मानने के लिए तैयार नहीं हूं। याक़ूत-रक़म-ए-सानी को हिंदुस्तान में चाहे जैसी महत्ता मिल गयी हो मगर उन देशों में जहां की राष्ट्रीय लिखावट नस्ख और राष्ट्रभाषा अरबी है, लोग याक़ूत रक़म का नाम भी नहीं जानते और न ही उनके अनुयायी हैं।

मुहम्मद आरिफ़ याक़ूत रक़म के ज़माने में अब्दुल वाकी नाम के एक शख्स थे जिनका पेशा लुहारी था। उन्हें याक़ूत रक़म की लोकप्रियता देखकर शौक हुआ कि खुद भी इस कला में नाम पैदा करें। संयोगवश अब्दुल्ला तब्बाह नामक नस्ख के एक और खुशनवीस उन दिनों मशहूर थे, हद्दाद जाकर उनके शिष्य बन गये और ऐसी मेहनत की कि पूरे उस्ताद मशहूर हो गये। जब उन दोनों का ज़माना गुज़र गया तो याक़ूत रक़म की जगह उनके भतीजे क़ाज़ी अस्मतउल्ला ने ली और हद्दाद की यादगार उनके दो बेटे अली अकबर और अली असगर माने गये।

उसके बाद हिंदुस्तान में बड़े-बड़े खुशनवीस पैदा हुए और नस्ख की किताबत हिंदुस्तान में बराबर तरक्की करती रही। आखिर में शाह गुलाम अली साहब की ख्याति फैली जो नस्ख के बाकमाल खुशनवीस थे। उसके बाद लखनऊ में एक तरफ़ मौलवी हादी अली साहब की शोहरत हुई जिनका खानदान दिल्ली से आया था और कालपी के एक खुशनवीस मीर अकबर अली के यह शागिर्द थे। मौलवी हादी अली साहब को तुगरानिगारी में बड़ा कमाल हासिल था।

मुंशी हादी अली के समकालीन नस्ख के एक मशहूर खुशनवीस मीर बंदा अली 'मूर्तइश' थे। उनके उस्ताद नवाब एहमद अली नामक एक पुराने वक्त्त के रईस और नस्ख के बाकमाल उस्ताद थे। मीर बंदा अली के हाथ में राशा था, मगर क़लम जैसे ही काग़ज़ पर लगता मालूम होता कि लोहे का हाथ है, क्या मजाल कि काबू से बाहर हो। उनकी नज़र लिखावट के पहचानने में ऐसा कमाल रखती थी कि बड़े-बड़े लोग लोहा मान गये।

मुंशी हामिद अली साहब फ़रमाते हैं कि एक मौक़े पर मुंशी हादी अली, मुंशी मुहम्मद याहिया (यह भी नस्ख के बड़े उस्ताद थे जिन्होंने छपने के लिए



लखनऊ में पहला कुरान शरीफ लिखा), मुंशी अब्दुल हई संदेलवी और भीर बंदा अली 'मूर्तइश' एक गोष्ठी में एकत्र थे। यह नस्ख के सभी उस्तादों की गोष्ठी थी। किसी ने नस्ख में लिखा हुआ एक कित्त्रा बिक्री के लिए लाकर पेश किया। गो उसमें कातिब का नाम नहीं लिखा था मगर उन उस्तादों ने एकमत होकर पहचान लिया कि खास याकूत के हाथ का है और सबको शौक हुआ कि उसे अपने कब्जे में करें। मगर मुंशी हादी अली साहब ने कहा, "यह एक दिन मेरे पास रहे तो मुझे शौर करने के बाद इत्मीनान होगा कि दरअसल यह याकूत के हाथ का है या नहीं।" मालिक ने दे दिया और वह उसे घर लाये। दूसरे दिन लेजाकर पेश किया और कहा, "वास्तव में यह याकूत ही के हाथ का है। इसी के साथ का याकूत का एक कित्त्रा मेरे पास भी पड़ा हुआ था, मैंने इसे लेजाकर उससे मिलाया तो बिल्कुल वैसा ही पाया और मुझे यकीन आ गया कि वाकई याकूत का है।" और दोनों कित्त्रे सबके सामने रख दिये। सबने निस्संकोच यह मान लिया कि दोनों याकूत के ही हाथ के लिखे हुए हैं। मगर भीर बंदा अली ने मुंशी हादी अली वाले कित्त्रे को शौर से देखा फिर मुस्कराये और उसके नीचे लिख दिया, "ईं कारअज़ तू आयद—ओ—मर्दा चुनीं कुन्द<sup>1</sup>।" यह लिखा देखकर मुंशी अब्दुल हई साहब विगड़े और कहा, "क्या आपको इसमें कुछ शक है?" भीर बंदा अली ने कहा, "यह कित्त्रा तो याकूत के हाथ का नहीं हो सकता।" मुंशी अब्दुल हई और दूसरों ने दावा किया कि यह खास याकूत के हाथ का है। भीर बंदा अली ने उसमें 'वाव' का सिरा दिखाया और कहा, "यह याकूत का नहीं हो सकता।" अब तो सब लोग असमंजस में पड़ गये कि इतने में ही मुंशी हादी अली ने उस वसली का एक कोना फाड़कर कागज़ की तह के अंदर से निकाल कर अपना नाम दिखा दिया और सबको यकीन हो गया कि यह कारस्तानी मुंशी हादी अली साहब की थी। सभी ने उनकी बेहद तारीफ़ की और उन्होंने कहा, "मगर मैं तो भीर बंदा अली साहब की नज़र का क़ायल हो गया।"

खुशनवीसों की ग्राम रुचि के अनुसार भीर बंदा अली साहब से भी कित्त्रा-नवीसी के सिवाय किताबत नामुमकिन थी। ज़िदगी भर कभी कोई छोटी किताब भी न लिखी गयी। हाजी हरमैन शरीफ़ैन ने जब प्रेस लगाया तो भीर बंदा अली की बड़ी मिन्नत-समाजत करके उन्हें इसके लिए राज़ी किया कि

<sup>1</sup> यह काम तूने किया और मर्द ऐसा ही किया करते हैं।



एक पंजसूरा<sup>2</sup> लिख दें। मीर बंदा अली ने बड़ी नेहत से और खुदा जाने कितने दिनों में लिखा और ले गये। मगर हाजी साहब के सामने जब उस पर आखिरी नजर डाली तो कुछ ऐसा नापसंद हुआ कि बजाये हाजी साहब के हवाले करने के फाड़ डाला और कहा, “भई, मुझसे नहीं हो सकता।”

इन बुजुर्गों की चर्चा से मेरा यह उद्देश्य नहीं है कि खुशनवीसी में लखनऊ की कोई ऐसी प्रतिष्ठा स्थापित हो गयी थी जिसका हिंदुस्तान में सानी ही नहीं था। बल्कि इसके विपरीत मेरा विचार है कि नस्ख के जैसे-जैसे वाकमाल मुगल सल्तनत से पहले हिंदुस्तान में गुजर चुके हैं उनका लेशमात्र भी इन लोगों में नहीं था, बल्कि नस्ख का कमाल उन दिनों मिट चुका था। अलबत्ता नस्तालीक़ के बारे में इतना कहा जा सकता है कि हाफ़िज़ नूरुल्ला और हाफ़िज़ इब्राहीम के हाथ के क़िए हिंदुस्तान में जितने लोकप्रिय हुए अन्य किसी खुशनवीस के शायद न हो सके होंगे। लेकिन इस पर भी इस कला में लखनऊ का स्थान लगभग वही था जो दूसरे सुसंस्कृत नगरों का हो सकता है।

मगर लखनऊ की खुशनवीसी ने प्रेस की तरक्की में जो काम किया शायद कहीं की खुशनवीसी न कर सकी होगी। मुझे यह जानकारी नहीं है कि हिंदुस्तान में सबसे पहले छपाई का काम कहां शुरू हुआ। कलकत्ता में उर्दू लिटरेचर की तरक्की और सामान्य पूर्वी विद्याओं को प्रोत्साहन देने के लिए बहुत कुछ किया गया, मगर वहां टाइप के सिवा पत्थर के छापे की पुरानी किताबें मैंने नहीं देखीं।

लखनऊ में गाज़ीउद्दीन हैदर के शासनकाल में (1814—1827 ई०) अर्सल नामक एक योरुपियन ने आकर लोगों को प्रेस का खयाल दिलाया और जब पढ़े-लिखे लोग उस और आकृष्ट हुए तो उसने पहला प्रेस लखनऊ में खोला। उसने प्रेस और तमाम सामान यहीं तैयार करा के छापना शुरू किया और ‘जाद-उल-मग़ाद’, ‘हफ़त कुलजुम’ और ‘ताज-उल-लुगात’ (जो कई खंडों में थी) छापकर पब्लिक के सामने पेश की। उससे सीख कर और लोगों ने भी प्रेस खोलने शुरू किये जिनमें सबसे पहला प्रेस शायद हाजी हरमैन शरीफ़ैन का था। उन्ही दिनों गीशे के सामान के एक बनवान व्यापारी मुस्तफ़ा खां कुछ छापने के लिए हाजी हरमैन के पास ले गये और हाजी साहब की ज़वान से कोई ऐसी सख़्त बात निकल गयी कि मुस्तफ़ा खां ने घर आकर खुद अपना

<sup>2</sup> कुरान की पांच बहुत छोटी सूरतें जो फ़ातिहा में पढ़ी जाती हैं।



मुस्तफ़ाई प्रेस जारी कर दिया जिसने असाधारण प्रगति की। थोड़े दिनों बाद अली बख्श खां ने अली प्रेस जारी किया और लखनऊ में बहुत ज़्यादा छापे-खाने खुलने लगे।

शुरू में छपाई का काम यहां व्यापारिक सिद्धांतों पर नहीं बल्कि शौक की वजह से जारी हुआ। बढ़िया से बढ़िया कागज़ लगाया जाता जो पत्थर के छापे के लिए बहुत ही मुनासिब था। बड़े-बड़े खुशनवीसों को मजबूर करके और बड़ी-बड़ी तनख़ाहें देकर उनसे किताबत का काम लिया जाता था। न तो उसके साथ काम की कोई शर्त होती, न यह देखा जाता कि वे दिन भर में कितना लिखते हैं, या लिखते भी हैं या नहीं। उल्टे उनकी बड़ी खातिर की जाती। इसी तरह प्रेसमैनो से भी न पूछा जाता कि दिन भर में कितने कागज़ छापे। स्याही के लिए कड़वे तेल के हज़ारों चिराग जलाकर बढ़िया काजल तैयार किया जाता, खटाई की जगह कागज़ी नीबू खर्च होते और कपड़े की जगह असली स्पंज काम में लाया जाता। गरज हर चीज़ उच्च कोटि की काम में लायी जाती। इसका नतीजा यह हुआ कि नवाबी शासन के समय फ़ारसी और अरबी की पाठ्य-पुस्तकें और धर्म ग्रंथ जैसे लखनऊ में छपकर तैयार हुए और शायद कहीं न छप सके होंगे। उस समय की छपी हुई किताबें जिन किसी के पास मौजूद हैं वे एक तरह की संपत्ति हैं और लोग दूंदते हैं और नहीं पाते।

मेरे वालिद के सगे चाचा मौलवी एहमद साहब को यात्रा और व्यापार का बड़ा शौक था और उस ज़माने में जबकि लोग घर से बाहर कदम निकालते डरते थे उन्होंने हाजी हरमैन शरीफ़ैन के एजेंट की हैसियत से रथों और बैलगाड़ियों पर सवार होकर और हज़ारों किताबें साथ लेकर लखनऊ से रावलपिंडी तक सफ़र किया था। उनका कहना था कि किताबें उन दिनों दुर्लभ थीं। यहां की छपी हुई किताबों को देखकर लोगों की आंखें खुल जाती थीं और वे उन पर परवानों की तरह गिरते थे। लोगों के शौक का यह आलम था कि हम जिस शहर या गांव में पहुंचते हम से पहले हमारी खबर जाती और हमारा दाखिला अजब शान-शौकत से होता। इधर हम किसी बस्ती में पहुंचे, उधर जनसमूह ने घेर लिया। भीड़ लग जाती थी और हम जिस किताब को जिस कीमत पर देते लोग निस्संकोच ले लेते और आंखों से



लगाते थे। हम 'करीमा', 'मामक्रीमा'<sup>1</sup> वगैरा को छह या आठ आने फ्री कापी के हिसाब से और 'गुलिस्ता', 'बोस्ता' को फी जिल्द तीन रुपये या चार रुपये के हिसाब से बेचते थे। और उस पर यह हाल था कि मांग को पूरा न कर सकते। एक शहर से दूसरे शहर तक पहुंचते-पहुंचते किताबों का भंडार खत्म हो जाता और नये माल के इंतजार में महीनों ठहरना पड़ता क्योंकि उन दिनों माल का पहुंचना कठिन था। मगर हमने ऐसा इंतजाम कर लिया था कि माल लखनऊ से बराबर आता रहता।

शाही के आखिरी दौर में मुस्तफाई प्रेस अपनी छपाई के लिहाज से दुनिया में जवाब न रखता था। सल्तनत खत्म होने के बाद मुंशी नवलकिशोर ने अपना प्रेस जारी किया। गो वह छपाई की खूबी में मुकाबिला न कर सका, मगर व्यापारिक सिद्धांत पर चलकर उसने फ़ारसी और अरबी की ऐसी बड़ी-बड़ी और मोटी किताबें छाप दीं कि आज किसी प्रेस को उनके छापने का साहस नहीं हो सकता। सच यह है कि लखनऊ में उस जमाने की शौकीनी ने ऐसा सामान जमा कर रखा था कि उससे फ़ायदा उठाने के लिए मुंशी नवलकिशोर जैसे साहसी मुद्रक की आवश्यकता थी। आखिर नवलकिशोर प्रेस ने यहां तक प्रगति की कि पूर्व के साहित्य को उसने जिंदा कर दिया और विश्व-सनीयता तथा सुंदर छपाई के लिए जो ख्याति लखनऊ की हुई और किसी शहर को नहीं मिल सकती। और इसी की वरकत थी कि मध्य एशिया में काशगर और बुखारा तक और अफ़ग़ानिस्तान और ईरान की सारी मांग लखनऊ ही पूरी कर रहा था। चुनावों के आज तक नवलकिशोर प्रेस ज्ञान-विज्ञान के व्यापार की कुंजी है जिससे काम लिये बिना कोई व्यक्ति ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में कदम नहीं रख सकता।

मगर अफ़सोस अब लखनऊ में प्रेसों की इतनी बड़ी संख्या के बावजूद छपाई की स्थिति इतनी खराब हो रही है और रोज़-बरोज ऐसी बदतर होती जाती है कि दूसरे शहर उससे बाज़ी ले गये हैं और हमारी नज़र में प्रेसमैनो की नैतिक अवस्था बिगड़ जाने की वजह से अब लखनऊ में दूसरे शहरों की अपेक्षा खराब छपाई होती है। बस हमारे संतोष के लिए इतना काफी है कि कानपुर में मुंशी रहमतउल्ला साहब की वजह से छापे की हालत अच्छी है और कानपुर दरअसल लखनऊ की प्रगति का ही एक छोटा रूप है।

<sup>1</sup>फ़ारसी भाषा की दो प्रायमरों के नाम।



प्रेस के साथ ही लखनऊ में पत्थर की छपाई की दुरुस्ती की कला की भी शुरुआत हुई। पत्थर पर जो कापी जमायी जाये उसे किसी हद तक छीलकर और कलम लगाकर दुरुस्त करना संभवतः योरूप ही से शुरू हुआ होगा और वहां अब भी क्या अजब कि संशोधन की यह प्रक्रिया जारी हो। मगर नस्ख और नस्तालीक के अक्षरों को इस ढंग से सुधारना कि खुशनवीस की अपनी शैली बाकी रहे और किसी को महसूस न हो सके कि उसमें किसी दूसरे का भी कलम लगा है, खास लखनऊ की ही विशेषता है जहां शुरू-शुरू में यह कला सिर्फ इस हद तक सीमित थी कि अक्षर और अन्य वेल-बूटे चाहे कितने ही उड़ गये या कुचलकर फैल गये हों, उन्हें ठीक कर दिया जाये। मगर कुछ दिन बाद यहां की नवीनता की प्रवृत्ति इस सीमा को भी लांघ गयी और ऐसे दक्ष संग-साज (पत्थर-संशोधक) पैदा होने लगे जो पत्थर पर पूरी-पूरी किताबें उल्टी लिख देते हैं और लिखावट अपनी जगह ऐसी जमी रहती है कि मजाल क्या जो कोई पहचान सके कि यह पत्थर पर उल्टा लिखा गया है। शुरू में इसके आविष्कारक एक पुराने बुजुर्ग थे जो मुस्तफाई प्रेस की ख्याति के कारण प्रसिद्ध हुए। उनके जमाने ही में उनके शिष्यों की अधिकता ने यहां के प्रेसों को लाभ पहुंचाया। बहुत से लोगों ने प्रगति की और यहां से संगसाज दूसरी जगह भेजे जाने लगे। जब यह काम आम हो गया तो मुंशी जाफर हुसैन नामक एक मशहूर संगसाज को उनकी दक्षता ने इस बात के लिए तैयार किया कि छापाखाने को कापीनवीसी के भ्रंशों से मुक्त कर दें। उन्होंने पत्थर पर उल्टा लिखना शुरू किया। यह काम प्रारंभ में छोटे-छोटे वाजारी प्रेसों से शुरू हुआ और बाद में चलकर सभी छोटे-बड़े प्रेसों में इसे अपना लिया गया। अब मुंशी सैयद अली हुसैन साहब ने इस हद तक तरक्की की कि उनकी उल्टी लिखावट का बहुत से मशहूर खुशनवीस भी मुक्ताविला न कर सके। चुनांचे उनकी उल्टी किताबत का एक मामूली नमूना हमारा 'दिलगुदाज' भी है जिसकी कापियां नहीं लिखी जातीं बल्कि मुंशी अली हुसैन साहब लेखों को पत्थर पर उल्टा लिख दिया करते हैं। 'दिलगुदाज' के पाठक इसे पढ़कर और इसकी लिखावट पर गौर करके अंदाजा कर सकते हैं कि संगसाजी की कला का लखनऊ में कितना विकास हो चुका है। गो कि हिंदुस्तान के अधिकतर शहरों में संगसाज लखनऊ के ही हैं, लेकिन इस वक्त तक किसी और शहर के प्रेस को यह बात नसीब नहीं हुई कि कापियां जमाने के बदले इबारत पत्थरों पर उल्टी लिखाकर



छापें। यह कला अभी तक लखनऊ तक ही सीमित है। मगर अफ़सोस प्रेसमैनो की हालत खराब हो जाने के कारण लखनऊ संगसाज़ी की इस कला से इतना फ़ायदा नहीं उठा सकता जितना कि होना चाहिये।

## [ 15 ]

अभी हमें लखनऊ की बहुत सी विशेषताएं बतानी हैं जिनका अधिकांश संबंध नैतिक बातों और सांस्कृतिक क्रियाकलाप से है। मगर यह भी उचित जान पड़ता है कि संक्षेप में कुछ इतिहास युद्ध-कौशल का भी दे दिया जाये।

सच यह है कि पूर्व का अंतिम दरबार उस समय कायम हुआ जब मुसलमानों और आम हिंदुस्तानियों की सैनिक-शक्ति कमज़ोर पड़ चुकी थी, बल्कि इससे भी ज्यादा सही यह कहना होगा कि पुराने युद्ध-कौशल इतने नहीं मिटे थे जितने कि युद्ध के पुराने हथियार नये युद्ध-कौशल और नये हथियारों के सामने बेकार हो गये थे। जिसका नतीजा यह हुआ कि पुराने युद्ध-कौशल बजाये इससे कि मुसलमानों या हिंदुस्तानियों से निकलकर किसी नयी प्रगति-शील और शूरवीर जाति में प्रगति करते, दुनिया ही से मिट गये और ऐसे मिटे कि मौजूदा नस्ल अपने पुरखों की बहादुरी के कारनामों और उनके युद्ध-कौशल से बिल्कुल अपरिचित है। आज इन कलाओं की चर्चा के लिए हमने क्लम उठाया है तो कोई ऐसा व्यक्ति भी नहीं मिलता जिससे कुछ हालात मालूम हों। हम शाहज़ादा मिर्ज़ा मसूद क़दर बहादुर बी० ए० और लखनऊ के एक बहुत पुराने बुजुर्ग मुलेमान खां साहब (जो हाफ़िज़ रहमत खां, बरेली-नरेश की नस्ल से हैं) के आभारी हैं कि इन पुरानी युद्ध-कलाओं के बारे में जो कुछ लिख रहे हैं उन्हीं की मदद से लिख रहे हैं।

युद्ध की जिन कलाओं का विकास दिल्ली में और दिल्ली के बाद लखनऊ में हुआ वे वास्तव में तीन विभिन्न जातियों से संबद्ध थीं और तीनों जातियों के परस्पर मिलने से उन कलाओं का समुचित विकास हुआ था और आश्चर्य इस बात पर है कि मेलजोल के बावजूद आखिर तक उनकी विशेषता बाक़ी रही। कुछ कलाएं तो आर्य जाति के योद्धाओं ने दी थीं, कुछ तुर्क और तातारी बहादुर अपने साथ लाये थे और कुछ ऐसी कलाएं थीं जो अरबों की देन थीं



जो ईरान से होती हुई यहां आयी थीं । लखनऊ में जिन कलाओं का प्रचलन था और जिनके उस्ताद यहां मौजूद थे, वे नीचे दी जाती हैं :

(1) लकड़ी, (2) पटा हिलाना, (3) वांक, (4) बिन्नीट, (5) कुश्ती, (6) बछ्छी, (7) बाना, (8) तीरंदाजी, (9) कटार, और (10) जलवांक ।

### 1-लकड़ी

यह कला मूलतः आर्यों की थी जिसे फिकैती कहते हैं । यह हिंदुस्तान और ईरान दोनों देशों के आर्यों में प्रचलित थी । अरबों की विजय के बाद ईरान की फिकैती पर अरबी योद्धाओं का असर पड़ गया और वहां की फिकैती हिंदुस्तान की अपेक्षा अधिक प्रगति कर गयी । हिंदुस्तान में आखिर तक वे दोनों कलाएं अपनी-अपनी विशेषता के साथ बाक़ी रहीं और लखनऊ में दोनों स्कूल कायम थे । ईरान की अरबी मिश्रित फिकैती यहां 'अली मद' के नाम से मशहूर थी और शुद्ध हिंदुस्तानी फिकैती 'रुस्तमखानी' के नाम से याद की जाती । अली मद में फिकैत का बायां कदम एक जगह जमा रहता और सिर्फ दाहिने पांव को आगे-पीछे हटाकर पैतरे बदले जाते । इसके खिलाफ़ रुस्तमखानी में फिकैत पैतरे बदलते वक्त दाहिने-बायें और आगे-पीछे जितना चाहता या जगह पाता हटा-बढ़ता और एकदम प्रतिद्वंद्वी पर आ पड़ता । एक यह फर्क भी था कि अली मद की कला खास रईसों और शरीफों के साथ जुड़ी थी । इसके उस्ताद कभी किसी छोटी क़ौम या निचले वर्ग के आदमी को अपना शागिर्द न बनाते और न अपनी कला से परिचित होने देते । लेकिन उधर रुस्तमखानी की कला छोटे वर्ग के लोगों में आम थी ।

अली मद के एक ज़बरदस्त उस्ताद फ़ैजाबाद में गुजाउद्दौला बहादुर और उनके बाद उनकी बेवा बहू बेगम साहिबा की सरकार से संबद्ध थे । उनका ज़िक्र फ़ैजाबाद के इतिहास में है और मालूम होता है कि इस कला के सबसे पहले उस्ताद वही थे जो फ़ैजाबाद में रहे और फिर लखनऊ आ गये । इस कला के दूसरे उस्ताद मुहम्मद अली खां थे जो खास हमारे मुहल्ले कटारा बिज़्ज़न खां में रहते थे और अली मद के आविष्कारक माने जाते थे । तीसरे उस्ताद मीर नज़मउद्दीन थे जो दिल्ली के शाहज़ादों के साथ पहले बनारस गये और फिर वहां से लखनऊ आये । उनका नियम था कि सिर्फ़ शरीफों को शागिर्द करते और शागिर्द करते वक्त शाहज़ादों से दौलत और शरीफों से सिर्फ़ मिठाई लेते और उसे बजाये इसके कि अपने काम में लायें खुद ले जाकर सैयदों को



भेंट दे देते। यह नवाब आसफउद्दौला के जमाने में थे। एक बहुत बड़े उस्ताद मीर अता हुसैन थे जो हुकीम मेहदी के खास साथियों में थे। एक बहुत बड़े उस्ताद पटेबाज खां थे जो अपने कमाल के कारण गाजीउद्दीन हैदर के जमाने में अली मद के आविष्कारक और संस्थापक मशहूर हो गये। उनके बारे में कहा जाता है कि वह नव मुस्लिम थे मगर क़ायदा उनका भी यही था कि सिवा शरीफों के अपनी कला किसी निचले वर्ग के आदमी को नहीं बताते थे। उन्होंने लखनऊ में अपनी यादगार के रूप में एक मस्जिद छोड़ी है जो घनिया मेहरी के पुल से आगे आलमनगर के पास आज भी मौजूद है।

रुस्तमखानी का रिवाज जनता में रहा और इसी वजह से हिंदू या मुसलमानों में उसको कोई प्रमुख स्थान न मिला, बल्कि इसके सैकड़ों उस्ताद अवध के तमाम गांवों और कस्बों में फैले हुए थे। फिर भी लखनऊ में याहिया खां बिन मुहम्मद सिद्दीक खां ने जो कमाल और नामवरी रुस्तमखानी में हासिल की, किसी को नसीब न हो सकी। नवाब फ़तहयाब खां का अग्रचर्चें ऊंचे रईसों में शुमार था लेकिन इसके बावजूद एक बड़े खुशनवीस भी थे और उन्होंने रुस्तमखानी में भी कमाल हासिल किया था। इसी तरह लखनऊ के एक मशहूर बांके पहलवान मीर लंगर बाज भी रुस्तमखानी के उस्ताद थे और अब तक थोड़ा-बहुत रिवाज बाक़ी है तो निचले वर्ग के लोगों में। अली मद की कला शरीफों में प्रचलित थी और शरीफों को युद्ध-कला से कोई वास्ता नहीं रहा लिहाज़ा वह कला भी नष्ट हो गयी। रुस्तमखानी का नीचे लोगों में रिवाज था और वे लोग आज भी लड़ते-भिड़ते रहते हैं, लिहाज़ा उनमें रुस्तमखानी का रिवाज आज तक मौजूद है।

अली मद के दो-एक उस्ताद मैंने मटिया बुर्ज में देखे थे और सबके आखिर में मीर फज़ले अली थे जो मुहल्ला महमूद नगर में रहते थे।

## 2-पटा हिलाना

इस कला का मूल उद्देश्य यह था कि अगर इंसान दुश्मनों के घेरे में आ जाये तो लकड़ी के हाथ चारों तरफ फेंकता हुआ सबको हटाकर, सबसे बचकर और सबको मारता हुआ निकल जाये। पटे को टेक कर उड़ना इस कला की विशेषता थी और सबसे बड़ी तारीफ़ इस बात की थी कि इंसान पर एक साथ दस तीर भी आकर पड़ें तो उनको काट दे। यह कला दिल्ली में नहीं थी, लखनऊ में योरुप से आयी और जुलाहों में इसका अधिक प्रचलन रहा। अग्रचर्चें



आखिर में बहुत से शरीफों ने भी, खासकर कस्बों के शेखजादों ने इसे अपना लिया। गुलाम रसूल खां का बेटा गौरी पटेबाज़ लखनऊ में इस कला का सबसे बड़ा माहिर माना जाता था जिसकी सैकड़ों घटनाएं जनता में प्रसिद्ध हैं, मगर अफ़सोस अब ये किस्से भी वर्तमान पीढ़ी भुलाए जा रही है।

मीर रुस्तम अली के सैफ़े<sup>1</sup> में दोनों तरफ धार होती और उसे हिलाते हुए सैकड़ों प्रतिद्वंद्वियों को चीरकर निकल जाते। असेवन के एक शेखजादे शेख मुहम्मद हुसैन दोनों हाथों से पटा हिलाते। चुनांचे गाज़ीउद्दीन हैदर के जमाने में एक दिन साहब रेज़िडेंट बहादुर और कुछ योरुपियन मेहमानों ने इस कला के किसी उस्ताद का कमाल देखना चाहा। शेख मुहम्मद हुसैन आ मौजूद हुए। चूंकि पटा उनके पास न था, शाही अस्त्रागार से एक सजा-धजा, टोपीदार पटा दिया गया जिसे लेकर उन्होंने ऐसे-ऐसे कमाल दिखाये कि हर तरफ से बाहवाही हुई और वह उसी बाहवाही और जयजयकार के जोश में पटा हिलाते हुए भीड़ से निकल कर चले गये और अपने घर पहुंचे। कलाकारों में मशहूर था कि जो शरूख पटा हिलाना जानता है वह दस तलवारवालों को भी पास न पहुंचा देगा।

इसी कला में प्रवीण एक साहब लखनऊ में मीर विलायत अली डंडा तोड़ थे। उनके बारे में मशहूर था कि प्रतिद्वंद्वी के हाथ में कितना ही जबरदस्त डंडा हो उसे तोड़ डालते थे।

### 3—बांक

युद्ध-कौशल में इसका बड़ा महत्व था और सिद्धांततः दूसरी युद्धकलाओं से इसे प्राथमिकता दी जाती थी। शरीफों के लड़के खास कोशिश और खास शौक से इस कला को सीखते। इसका मूल उद्देश्य छुरियों से प्रतिद्वंद्वी का सामना करना है। यह कला प्राचीन काल में हिंदुओं में भी थी और अरबों में भी, मगर छुरियां दोनों की अलग-अलग किस्म की थीं। हिंदुओं की छुरी सीधी होती जिसके दोनों ओर धार होती और अरबों की छुरी मुड़ी हुई और खंजर जैसी होती जिस पर एक ही तरफ धार होती। मगर अरबों की आखिरी छुरी जंबिया है जिसकी नोक से कुछ दूर तक चारों तरफ चार धारें होती हैं और उससे ऐसा चौफांका घाव पड़ता है कि कहते हैं कि उसमें टांका लगाना मुश्किल होता है। गरज इस हथियार से लड़ने की कला का नाम बांक है।

<sup>1</sup> ज़िल्दसाज़ों का कागज़ काटने का औज़ार।



इसकी शिक्षा यों दी जाती है कि उस्ताद और शागिर्द दोनों आमने-सामने घुटनों के बल बैठते हैं। मगर हिंदुओं वाली सीधी छुरी की शिक्षा में यह नियम था कि दोनों प्रतिद्वंद्वी घुटनों के बल बैठने के साथ एक घुटना खड़ा रखते और अरबोंवाली छुरी की शिक्षा में बिल्कुल घुटने टेककर बैठते थे और चोटों के साथ बड़े जबरदस्त पेच होते जिनके आगे कुश्ती के पेचों का कोई महत्व न था। यह फर्क भी बताया जाता है कि अरबों के कौशल में असली सात चोटें थीं और हिंदुओं के कौशल में नौ। अरबों की बांक में पेच पूरा बंध जाता तो प्रतिद्वंद्वी को ज़िदा छोड़ना बांधने वाले के क़ाबू से बाहर हो जाता और हिंदुस्तानवालों की कला में आखिर तक क़ाबू में रहता कि जब चाहें पेच खोलकर प्रतिद्वंद्वी को वचा दें।

इस कला में सिर्फ चोटें ही नहीं बल्कि बड़े-बड़े जबरदस्त पेच हैं जिनमें दोनों प्रतिद्वंद्वी घंटों गुथते और निरंतर पेच करके एक-दूसरे को बांधकर ज़ख्मी कर देने की कोशिश करते हैं। इस कला के पेच ऐसे सच्चे और अचूक और नियमबद्ध थे कि कहा जाता है कि कुश्ती और लकड़ी के तमाम पेच बांक ही से निकले हैं। बांक के उस्तादों में मशहूर था कि बांक लेटकर पूरी होती है, बैठ कर आधी रहती और खड़े होकर सिर्फ चौथाई रह जाती है। यह न समझना चाहिए कि बंकैत का काम सिर्फ यह है कि प्रतिद्वंद्वी को छुरी से घायल कर दे, नहीं उसका असली काम यह है कि प्रतिद्वंद्वी को ज़िदा बांध ले और बेवस करके गिरफ़्तार कर लाये।

एक यह खास बात भी थी कि बांक वाला अपने कौशल को यथासंभव गुप्त रखता, उसका रंग-ढंग और तीर-तरीका किसी बात से न पहचाना जाता कि वह योद्धा है। बंकैत आम शिष्ट और सभ्य जनों का-सा तीर-तरीका अपनाते, जूतियां पहनते, कोई हथियार न बांधते यहां तक कि उनमें लोहे के कलमतराश या सूई तक पास रखने की कसम थी। सिर्फ एक रुमाल रखते और उसके एक कोने में एक लोहे का छल्ला बंधा रहता। बस यही अस्त्र ज़रूरत के वक़्त उन्हें काम दे जाता या उससे भी ज़्यादा तहज़ीब बरतते तो हाथ में तस्वीह रखते और उसमें लोहे का भद्दा-सा किन्लानुमा (दिग्दर्शक यंत्र) लगा होता। बस यही हथियार उनके लिए काफ़ी था।

हिंदुओं में प्राचीन काल से यह कला खास ब्राह्मणों में प्रचलित थी। राजपूत नहीं जानते थे, न ब्राह्मण उन्हें सिखाते थे और न वे उसे अपनी शान



के खिलाफ़ समझकर उसे सीखने की कोशिश करते थे। इसका कारण शायद यह था कि बंकैत होने के लिए समाज में श्रेष्ठता का होना आवश्यक था और राजपूत खुले सिपाही थे। ब्राह्मण बंकैत दिग्दर्शक यंत्र या लोहे के चने के बजाये एक कुंजी रखते जो जनेऊ में बंधी रहती थी और उससे काम लेकर बड़ी शिष्टता और गंभीरता के साथ दुश्मन का काम तमाम कर देते थे। शहजादा मिर्जा हुमायूँ क्रूर बहादुर फ़रमाते हैं कि लखनऊ में यह कला शाह आलम के शासन-काल में उस समय आयी जब मिर्जा खुर्रम बख्त बहादुर बनारस आये और इस कला के दो-एक उस्ताद अपने साथ लाये। लेकिन हमें विश्वस्त सूत्र से और फ़ैजाबाद के इतिहास के पढ़ने से मालूम हुआ कि इस कला के माहिर मंसूर अली खाँ बंकैत शुजाउद्दौला ही के ज़माने में फ़ैजाबाद में आ गये थे।

नवाब आसफ़उद्दौला के शासन-काल में बाँक के उस्ताद लखनऊ में शेख नज्मउद्दीन थे। उसी के आसपास के ज़माने में बाँक के एक दूसरे उस्ताद लखनऊ में मौजूद थे जो मीर बहादुर अली के नाम से मशहूर थे। उनका दावा था कि पलंग के नीचे जंगली कबूतर छोड़ दीजिये और तमाशा देखिये— किसी तरफ़ से निकल कर उड़ जाये तो जानिये कि मैं बंकैत नहीं। यह बात इन्हीं तक सीमित नहीं, बाँक की यही विशेषता है और हर उस्ताद इसका दावा कर सकता था। लखनऊ में एक तीसरे उस्ताद वली मुहम्मद खाँ थे। नसीरउद्दीन हैदर के ज़माने में शेख नज्मउद्दीन के शागिर्द के शागिर्द अब्बास का नाम मशहूर था और उनके चार शागिर्द नामवर हुए जिनमें से एक तो डाकू था, बाक़ी तीन सभ्य लोग थे। इस कला के आखिरी उस्ताद मीर जाफ़र अली थे जो लखनऊ की तबाही के बाद वाज़िद अली शाह के साथ मटिया बुर्ज में पहुँचे। उन्हें मैंने देखा था और बचपन में खुद उनका शागिर्द हुआ था, मगर दो-एक महीने सीख कर छोड़ दिया और जो कुछ सीखा था ख़ाव-ख़याल-सा रह गया। अब नहीं जानता कि कोई जाननेवाला बाक़ी है या नहीं।

#### 4-बिन्नौट

इस कला का मूल उद्देश्य यह था कि प्रतिद्वंद्वी के हाथ से तलवार, लठ या कोई हथियार हो गिरा दे और एक रूमाल से जिसमें पैसा बंधा हुआ करता है या अपने हाथ ही से प्रतिद्वंद्वी को ऐसा धक्का पहुँचाये कि उसका काम तमाम हो जाये। इस कला के बारे में लखनऊ में शुरू ही से मशहूर था कि



इसके बड़े-बड़े जबरदस्त उस्ताद हैदराबाद दक्खन में हैं। वहां जाने और मालूम करने से पता चला कि वास्तव में अब तक यह कला जीवित है। जानकार लोगों का कहना है कि खड़े होकर मुकाबिला करनेवाला कलाकार अगर निहत्था है तो कुश्ती है, उसके हाथ में छुरी है तो वांक है और अगर कोई दो गज का लंबा सोंटा या रूमाल उसके हाथ में है तो बिन्नौट है। बिन्नौट वाले भी अपनी कला को छिपाकर रखते हैं और आपस में यह तय है कि सिर्फ शरीफ को सिखायेंगे और उससे वचन ले लेते हैं कि कभी जबरदस्त या निरीह व्यक्ति पर इसका इस्तेमाल न करेंगे। बिन्नौटवालों के पैतरे, जिन्हें वे पावले कहते हैं, बहुत ही उच्च कोटि का फुर्तीलापन और सफाई चाहते हैं जो ज्यादा उम्रवालों को हासिल नहीं हो सकते। इसके अलावा बिन्नौटवालों को मानव शरीर के सारे रंग-पट्टों की पूरी जानकारी होती है और वे भली भांति जानते हैं कि किस जगह सिर्फ उंगली से दबा देना से या एक मामूली चोट इंसान को बेदम कर देगी। हालांकि इस कला के लिए हैदराबाद मशहूर था मगर लखनऊ में इसके उस्ताद मौजूद थे। कहा जाता है कि यहां सबसे पहले मुहम्मद इब्राहीम खां इसे रामपुर से लाये थे। तालिब शेर खां यहां एक बड़े जबरदस्त वांके थे और तलवार के धनी। उन्होंने जो इब्राहीम खां का दावा सुना तो तलवार की लड़ाई के लिए तैयार हो गये। मुहम्मद इब्राहीम खां ने भी यह चुनौती स्वीकार कर ली। तालिब शेर खां ने जैसे ही तलवार मारी, मुहम्मद इब्राहीम खां ने अपना रूमाल, जिसके कोने में पैसा बंधा हुआ था, कुछ ऐसी खूबी से मारा कि तालिब शेर खां के हाथ से तलवार छूटकर भूतन से दूर जा गिरी। वह मुंह देखकर रह गये और सबने मुहम्मद इब्राहीम खां का उस्तादी का लोहा मान लिया।

उसके बाद लखनऊ में अंत तक इस कला का रिवाज रहा। यहां तक कि मटिया बुर्ज में भी मुहम्मद मेहदी नाम के एक शख्स, जो नवाब शाशूक महल के यहां दरोगा थे, बिन्नौट के जबरदस्त उस्ताद माने जाते थे।

### 5-कुश्ती

यह कला मुख्य रूप से आर्यों की थी—हिंदुस्तान में भी और ईरान में भी। अरब और तुर्क इससे बिल्कुल अपरिचित थे। हिंदुस्तान के पुराने ब्राह्मणों में भी, जो आर्य लोगों से पहले थे, इस कला का कोई पता नहीं चलता। लखनऊ में पेंचों और प्रतिद्वंद्वी को परास्त करने के तरीकों का बड़ा विकास हुआ



मगर कुश्ती का असली दारोमदार शारीरिक शक्ति पर है और जहां तक शक्ति का संबंध है लखनऊ की आबोहवा को कुदरत ने यह गुण ही नहीं दिया कि उसमें गुलाम वगैरा जैसे भीमकाय पहलवान हों। इसलिए लखनऊ की कुश्ती की कला केवल दाव-पेंच दिखाना मात्र था जिसमें ज्यादा से ज्यादा अपने से दुगुने पर काबू किया जा सकता था। मगर उससे अधिक ताकतवाले को गिराना नामुमकिन था। लखनऊ के अखाड़े और पहले के पहलवानों के क्रिसे बहुत मशहूर हैं मगर सब हैं दाव-पेंच ही के कारण, ताकत के कारण नहीं। एक बार मैंने यहां के एक मशहूर पहलवान सैयद की लड़ाई एक दूने कद के पंजाबी पहलवान से देखी। इसमें शक नहीं कि सैयद की लड़ाई शुरू से ही बहुत अच्छी थी। उसकी चलत-फिरत और उसकी फुर्ती काबिले-तारीफ थी। लेकिन नतीजा यह हुआ कि घंटा भर में सैयद पसीने में डूबा हुआ था, ताकत जवाब दे चुकी थी और दम फूल गया था और पंजाबी पहलवान पर, जो उसे खिला रहा था, कुछ असर न हुआ था। आखिर सैयद खुद ही मैदान छोड़ कर भाग गया और बिना लड़े हार मान ली।

### 6-बर्छा

युद्ध की यह एक पुरानी कला है जो आर्यों, तुर्कों और अरबों में थी। अरबों का बर्छा लंबा होता और उसका फल नुकीला। तुर्कों का बर्छा छोटा होता और फल नोकदार यानी शंकु के आकार का। और हिंदुस्तान के आर्यों का बर्छा लंबा होता, मगर उसका फल पतला और पान जैसा धारदार। मगर ताज्जुब यह है कि तीनों तरह के भाले लखनऊ में मौजूद थे। बड़े बर्छे पांच गज के लंबे होते और छोटे बर्छे तीन गज लंबे। बड़े बर्छे की शर्त यह थी कि उसमें लचक नाम की भी न हो और उसी लिहाज से दोनों के चलाने के तरीके भी भिन्न थे। लखनऊ के मशहूर और असली बर्छेत मीर कल्लू थे जिनका नाम बुरहान-उल-मुल्क के ही जमाने से चमक गया था। उनके बाद मीर अकबर अली बर्छेत मशहूर हुए। फिर बरेली और रामपुर से काफी बर्छेत आने शुरू हो गये। गाजीउद्दीन हैदर के जमाने में बादशाह को हाथियों के शिकार का शौक हुआ तो बर्छे की कला जानने वालों की बड़ी कद्र हुई और लड़ाइयों में यही हथियार ज्यादा काम देने लगा। अफ़सोस, यह पुराना हथियार जिससे बड़ी-बड़ी प्राचीन जातियों ने नामवरी पैदा की थी, लखनऊ में अमली या नकली तौर पर आज भी बाकी है लेकिन सिर्फ बरातों के जुलूस का काम देता है।



## 7-बाना

यह कला भी निचले वर्ग के लोगों में प्रचलित थी और किसी हद तक आज भी बाक़ी है। लट्ठ की लड़ाई के हाथ और जूते इसी से निकली हैं। बाने का उद्देश्य भी यह है कि बाना या लट्ठ चलाता हुआ इंसान दुश्मनों के घेरे में से निकल जाये। बाना एक लंबी लकड़ी का नाम था जिसके एक तरफ लट्ठ होता था और कुछ लोग दोनों तरफ लट्ठ रखते थे और इस तरह हिलाते कि कोई करीब न आ सकता। बाज़ लोग लट्ठियों में कपड़ा बांधकर और तेल में डुबोकर उन्हें जलाते और इस तरह हिलाते कि अपने ऊपर आग का ज़रा असर न हो और दुश्मन आग की वजह से दूर ही दूर रहे।

## 8-तीरंदाज़ी

यह संसार की सभी लड़ाकू जातियों का पुराना हथियार और प्राचीन काल की बंदूक है। इसमें बड़े-बड़े कमाल दिखाये जाते और उच्च या निम्न वर्ग के सभी लोग इसे सीखना ज़रूरी समझते थे। यही वह हथियार है जिससे राजा रामचंद्रजी और उनके भाई लक्ष्मणजी ने रावण और उसके जैसे भीमकाय शत्रुओं को मारकर गिरा दिया। अगर्चे बंदूक के आविष्कार ने इसका जोर कम कर दिया था, मगर फिर भी युद्ध-कौशल की दृष्टि से इसका महत्व बहुत था। कमानें इतनी कड़ी रखी जातीं कि उनका चिल्ला खेंचना हरेक के लिए आसान न था। बल्कि जिसकी कमान जितना ज़्यादा कड़ी होती उसका तीर उतना ही ज़्यादा दूर जाता और पैना होता। अरबों ने अपनी विजयों के समय तीरंदाज़ी के ऐसे-ऐसे कमाल दिखाये हैं जो विस्मयकारी हैं। उम्मेल्बवान नामक दस-पांच रोज़ ही की ब्याही हुई एक अरब दुलहन ने दमिश्क की विजय के अवसर पर अपने शहीद दुलहे का बदला लेने के लिए ऐसे ज़बरदस्त तीर बरसाये कि पहले ने दुश्मन के ध्वजा वाहक को मार गिराया और दूसरा दुश्मनों के बहादुर सरदार टामस की आंख में ऐसा जाकर लगा कि किसी के निकाले न निकल सका और अंत में गांसी काटकर आंख ही में छोड़ दी गयी।

अवध के पांसी और भर इस कला को पहले से खूब जानते थे। फिर नये-नये उस्ताद दिल्ली से आये और आसफ़उद्दौला के शासन-काल में उस्ताद फ़ैज़ बख्श ने बादशाह के इशारे से मिर्ज़ा हैदर के वालिद को, जो हाथी पर सवार आ रहे थे, ऐसी फुर्ती से तीर मारा कि न किसी ने उन्हें



निशानेबाज़ी करते देखा और न उन्हें खबर हुई। हालांकि तीर पटके को तोड़कर निकल गया था लेकिन वह आखिर तक बेखबर रहे। घर पहुंचकर पटका खोला तो वह खून से लथपथ था और साथ ही घाव से खून का फव्वारा छूटा और दम भर में मर गये।

इस कला के सिखाने का ढंग भी कठिन था। मगर अब इस कला का रिवाज़ दुनिया की सारी सभ्य जातियों से उठ गया है इसलिए कि आधुनिक आग बरसानेवाले हथियारों ने इसे बिल्कुल बेकार बना दिया है। लेकिन फिर भी हिंदुस्तान की असभ्य जातियों में यह शेष है जो शिकार आदि और कभी-कभी आपसी लड़ाइयों में भी तीर-कमान से काम लेती हैं।

### 9-कटार

यह पुराना हथियार खासकर आर्य जाति का था और बाद में इससे ज्यादातर चोर और डाकू काम लेते थे। इससे प्रतिद्वंद्वी पर टोककर हमला नहीं किया जाता था बल्कि उसे बेखबर रख कर उस पर आक्रमण किया जाता था। इसी वजह से शायद दिल्ली में भी और खास तौर से लखनऊ में शरीफ लोगों ने इससे काम लेना बिल्कुल छोड़ दिया था। कटार सब बांधते मगर उससे लड़ना और हमला करना कोई न जानता था। इससे हमला करने की परिभाषा यह थी कि जब चाहें तो हमला करें मगर दुश्मन के जिस्म में कहीं खराश भी न आये और जब चाहें तो कब्जे तक पार हो जाये। इससे चोर अक्सर रातों को सोते हुए प्रतिद्वंद्वी पर हमला करते और छिपकर उसका काम तमाम कर आते।

### 10-जलबांक

यह वही बांक की कला थी जिसका हम ऊपर वर्णन कर आये हैं और जिसे बाद में तैराकी से मिला दिया गया था। इसका उद्देश्य यह था कि गहरे पानी में दुश्मन पर क्रावू हासिल करें और उसे बांध लायें या पानी में ही उसका काम तमाम कर दें। इतिहास में और कहीं इसका उल्लेख नहीं, मगर लखनऊ में तैरने के एक उस्ताद मीरक जान ने इसे ईजाद किया और सैकड़ों शागिर्दों को सिखाया। वैसे देखने में तो इसका आविष्कार लखनऊ ही में हुआ और आज भी तैराकी के कुछ करतब यहीं के उस्ताद जानते हैं, और कहीं इस कला का नाम-निशान तक नहीं।

पैराइयों में लखनऊ ने जो तरक्की की उसका जिक्र हम आगे करेंगे।



उर्दू में एक कहावत मशहूर है कि “बुढ़ापे में इंसान की कामवासना जीभ में आ जाया करती है।” वैसे भी बहादुरों और शूरवीरों की शूरता के बारे में अक्सर यह तजुर्बा हुआ है कि जब कमजोरी आती है, या हाथ पैरों की ताकत जवाब दे देती है तो सारी बहादुरी और सूरमाई हाथों से निकल कर जबान और आंखों में जमा हो जाती है। अब वे अपनी वीरता और नामवरी के किस्से सुनाते और बहादुरी के कारनामे अपने आप नहीं दिखाते बल्कि उनका तमाशा लड़नेवाले जानवरों के माध्यम से देखते और दूसरों को दिखा-दिखा कर बाहवाही प्राप्त करते हैं।

यही हाल लखनऊ का हुआ। जब लोगों को युद्ध से फुर्सत मिली और रणभूमि में खड़े होने का साहस उनमें न रहा तो उनकी युद्ध भावना ने जानवरों को लड़ा-लड़ाकर बहादुरी और खून बहाने का तमाशा देखने का शौक पैदा किया। यह शौक वैसे तो थोड़ा-बहुत सब जगह है, मगर इसमें जितनी अधिक दिलचस्पी लखनऊवालों ने ली और उन बेकार और क्रूरता-पूर्ण रुचियों को उन लोगों ने जितनी तरक्की दी वह दूसरे स्थान के लोगों ने सपने में भी न देखा होगा। और अगर और से देखिये तो यह मानना पड़ेगा कि इस शौक के जैसे करिश्में और दिलकश तमाशे लखनऊ के इर्द-गिर्द देखे गये, वे दिल्ली या हिंदुस्तान के दरबार तो क्या शायद सारी दुनिया के किसी शहर में भी न देखे गये होंगे।

लखनऊ में दूसरे की वीरता से अपने दिल की भड़ास निकालने का यह शौक तीन तरीकों से पूरा किया गया : (क) दरिदों और चौपायों को लड़ाकर, (ख) पक्षियों को लड़ाकर, और (ग) तुक्कलें और कनकौवे लड़ाकर यानी पतंगबाजी के जरिये। इन तीनों तरीकों को हम अपनी जानकारी के अनुसार अलग-अलग विवरण के साथ बताना चाहते हैं।

पहली क्रिस्म यानी दरिदों और चौपायों को लड़ाई का तमाशा यहां नीचे लिखे जानवरों को लड़ाकर देखा गया : (1) शेर, (2) चीते, (3) तेंदुए, (4) हाथी, (5) ऊंट, (6) गैंडे, (7) बारहसिंघे, और (8) मेंढे। पशुओं के लड़ाने का शौक प्राचीन भारत में कहीं या कभी नहीं सुना गया था। यह



रुचि वास्तव में रोमियों की थी जहां इंसान और जानवर कभी आपस में और कभी एक दूसरे से लड़ाये जाते थे। मसीही धर्म की उन्नति के साथ ही वहां भी यह शौक खत्म हो गया था। मगर अब तक स्पेन में और यूरोप के कुछ दूसरे देशों में वहशी सांड आपस में और कभी-कभी इंसानों से लड़ाये जाते हैं। लखनऊ में गाज़ीउद्दीन हैदर बादशाह को संभवतः उनके योरुपियन दोस्तों ने दरिदों की लड़ाई देखने का शौक दिलाया। बादशाह फौरन तैयार हो गये और कुछ ही दिन में शाही दिलचस्पी उन खौफ़नाक और बर्बर लड़ाइयों में ऐसी बढ़ी कि कोई कसर नहीं उठा रखी गयी। मोती महल में ठीक दरिया के किनारे दो नयी कोठियां मुबारक मंज़िल और शाह मंज़िल बनवायी गयीं। उनके सामने दरिया पार कोसों तक एक रमणीय उद्यान चला गया था जिसमें लोहे के कटहरे से घेरकर एक विशाल चरागाह बनायी गयी थी। इसमें भांति-भांति के हज़ारों-जानवर लाकर छोड़े गये थे और दरिदे कटहरों में बंद करके रखे गये थे। इसी चरागाह के साथ दरिया किनारे ही जंगली जानवरों के लड़ाने के लिए बड़े-बड़े मैदान बांस के ठाठरों या लोहे के ग्रहाते से सुरक्षित बनाये जाते जो शाह मंज़िल के ठीक सामने दरिया के उस पार होते। दरिया का पाट वहां बहुत कम है। बादशाह और उनके मेहमान और मुसाहिब शाह मंज़िल के ऊपरी आंगन पर गंगा-जमनी शामियानों के साये में बैठकर इत्मीनान और आराम से सैर देखते और पार के घिरे हुए मैदान में दरिदों की भयंकर लड़ाई का रोमांचकारी दृश्य उपस्थित होता। दरिदों और मस्त हाथियों का लड़ाना तो आसान है मगर उसकी संभाल बहुत ही मुश्किल। एक मस्त हाथी या शेर कटहरे से छूट जाता है तो शहरों में भगदड़ पड़ जाती है और बहुत-सी जानें नष्ट हो जाती हैं। मगर यहां लोग इस भयानक काम में इतने होशियार हो गये थे कि उस समय जो योरुपियन पर्यटक दरबार में मौजूद थे, खुद अपनी किताबों में यह स्वीकार करते हैं कि जंगली जानवरों के पालने, साधने और उनकी देखभाल करनेवाले आदमी लखनऊ से बेहतर दुनिया भर में कहीं नहीं हैं। यही लोग हाथियों और दरिदों को लाकर छोड़ते, उनको अपने बस में रखते, उनके हारते वृत्त विजेता और पराजित दोनों पशुओं को अपने क़ाबू में करते थे। इस काम के लिए सैकड़ों सांटेमार और बरुलमधारी नियुक्त थे जो उन्हें मारते और अपने आपको उनके हमलों से बचाते। लोहे की दहकती हुई सलाखों और



आतिशबाजियों से उनको जिधर चाहते मोड़ते और जहां चाहते हंका ले जाते। शेरों और तेंदुओं को कटहरों में बंद करते। गरज उन लोगों की फुर्ती, चालाकी और चलत-फिरत और होशियारी खुद जानवरों की लड़ाई से ज्यादा दिलचस्प और अचरज भरी थी। इन बातों को देखकर दम भर में नज़र आ जाता कि उन बड़े-बड़े भीमकाय पशुओं और भयंकर हिंस्र जंतुओं पर मानव ने किन जरियों से वश किया है। अब इन जानवरों में से हरेक की लड़ाई का अलग-अलग हाल सुनिये जो दिलचस्पी से खाली नहीं होगा।

### 1—शेर

बादशाह ने बहुत से शेर जमा कर रखे थे जो नेपाल की तराई से पकड़-पकड़ कर लाये जाते। इनमें से कुछ बहुत बड़े थे। कुछ विभिन्न लड़ाइयों में जीतकर बादशाह के प्रेम-पात्र हो गये थे। लड़ाई के लिए उनके कटहरे मैदान के पास लाकर खोल दिये जाते। दोनों प्रतिद्वंद्वी छूटते ही गुरांकर एक-दूसरे पर हमला करते और दांतों और पंजों से एक-दूसरे को घायल करते हुए आपस में गुंथ जाते। कभी यह उसको गिराकर ऊपर चढ़ बैठता, कभी वह इसको दबा लेता। देर तक एक भयानक लड़ाई होती रहती जिसमें कभी तो एक प्रतिद्वंद्वी मारा जाता और कभी सख्त ज़ख्मी होकर हिम्मत हार बैठता। बहुत अधिक खून वह जाने के कारण कमजोर होकर भागता और प्रतिद्वंद्वी गुस्से से उसका पीछा करता। उस समय उन दोनों के संभालने और क़ाबू में लाने के लिए लड़ाने वालों का कमाल और उनकी दौड़-धूप और कारस्तानियां देखने योग्य होतीं।

शेर अक्सर तेंदुओं से लड़ाये जाते। मगर यहां ऐसे-ऐसे ज़बरदस्त तेंदुए थे जिनसे शेर बहुत कम ही जीत पाता। उनकी लड़ाई की शान भी वही होती जो शेरों के आपस में लड़ाने की है। कभी-कभी शेर और हाथी भी लड़ा दिये जाते। मगर उनकी लड़ाई जोड़ की न होती और उसके नतीजे भी आशा के विपरीत अलग-अलग प्रकार के होते। अगर हाथी खूब जियाला हुआ तो शेर उससे बहुत कम मुक़ाबिला कर सकता था। सबसे अधिक दिलचस्प लड़ाई शेर और गैंडे की होती। गैंडे का सिवाय पेट के सारा निचला शरीर फ़ौलादी होता है। इस पर न शेर के दांत असर करते हैं न पंजे। इसी स्वाभाविक शक्ति के घमंड में वह किसी ज़बरदस्त से ज़बरदस्त प्रतिद्वंद्वी की परवाह नहीं करता और खुद जब सर झुकाकर प्रतिद्वंद्वी के पेट



के नीचे घुसता है तो अपने बांसे के ऊपर वाला भयानक सींग पेट में इस तरह गाड़ देता है कि आंते बाहर निकल पड़ती हैं और प्रतिद्वंद्वी का काम तमाम हो जाता है। शायद ही कभी ऐसा हुआ कि शेर ने गैडे को चित गिराकर अपने नाखुनों और दांतों से उसका पेट फाड़ डाला हो, वरना अक्सर यही होता कि गैडा अपना सींग भोंककर शेर को मार डालता।

मगर सबसे ज्यादा आश्चर्यजनक यह बात है कि बादशाह नसीरउद्दीन हैदर के जमाने में एक बार एक घोड़े के मुकाबिले में शेरों को बहुत नुकसान उठाना पड़ा। यह एक अजीब घोड़ा था जो इंसानों को त्रास देने में दरिदों से भी बढ़ गया था। मजाल न थी कि कोई आदमी उसके पास जाये। दाना दूर से उसकी तरफ बढ़ा दिया जाता और जब छूट जाता, बहुत से आदमियों को मार डालता, जो सामने आता उसे मार कर हड्डियां-पसलियां चबा डालता और लाश ऐसी बिगाड़ देता कि पहचानी न जाती। मजबूरन यह सुभाव रखा गया कि उस पर शेर छोड़ दिये जायें। चुनांचे भूरिया नामक शेर, जो बादशाह को बहुत प्रिय था और अक्सर बाजियां मार चुका था, उस पर छोड़ा गया। घोड़ा बजाये इसके कि शेर से डरता उससे लड़ने को तैयार हो गया और जैसे ही शेर छलांग लगाकर उस पर आया, घोड़े ने इस तरह अगला जिस्म भुकाया कि शेर पीछे को गिरा और शेर ने उसके पुट्टों में नाखुनों के खंजर गड़ा दिये। साथ ही घोड़े ने इस जोर से दुलत्ती मारी कि शेर कलावाजियां खाता हुआ दूर जा गिरा। मगर वह फिर संभला और चंद मिनट इधर-उधर लगाकर फिर छलांग मारकर घोड़े पर जा रहा। घोड़े ने फिर वही हरकत की कि अगला जिस्म भुका दिया। शेर पुट्टों पर जा पड़ा और इरादा किया कि उसे पंजों से गिराकर मार डाले। मगर घोड़े ने अब की इस जोर से दुलत्ती भाड़ी की शेर के जबड़े टूट गये और चारों खाने चित दूर जा गिरा। लेकिन इस चोट से शेर ने ऐसी हिम्मत हार दी थी कि घोड़े की तरफ पीठ फेर कर भागने लगा और तमाशाई हैरान रह गये। तब दूसरा उससे बड़ा शेर छोड़ा गया। उसने सामना ही न किया। मजबूरन वह शेर भी हटा लिया गया और तीन अरने भैसे छोड़े गये। वे भी घोड़े से न बोले और घोड़े ने बढ़कर बिना छेड़े ही एक भैसे पर इस जोर से दुलत्ती भाड़ी कि वह भैसा तिवरा गया और उसके दोनों साथी इस तरह सिर हिलाने लगे मानो उसकी प्रशंसा कर रहे हों कि हां ! यह हुई ! आखिरकार घोड़े को



छोड़ दिया गया और नसीरउद्दीन हैदर ने कहा, “मैं इसके लिए एक लोहे का कटहरा बनवा दूंगा और उसके पालन-पोषण का भी सामान कर दूंगा। अब्बाजान के सर की कसम, यह बड़ा बहादुर है।”

## 2-चीता

सभी दरिंदे लड़ाई के लिए दो-एक दिन पहले से भूखे रखे जाते हैं, मगर चीते के बारे में इसका खास ख्याल रखना पड़ता है इसलिए कि चीता जितना ज्यादा जालिम और खूंखार है उतना ही कभी-कभी डरपोक भी साबित होता है। विगड़े अमीरजादों की तरह वह खुशामदपसंद माना जाता है। चुनांचे मैदान में जब उसका जी चाहे लड़ता है और जब न जी चाहे लाख जतन करो नहीं लड़ता। लड़ाई में वह कतराता और कनियाता हुआ प्रतिद्वंद्वी पर हमला करता है। पहले छलांग मारकर एक दूसरे को ज़ख्मी करना चाहता है। ऐसी दो-एक छलांगों के बाद दोनों पिछले पैरों पर खड़े होकर पंजों से लड़ने लगते हैं। यह एक बड़ी खूबज लड़ाई होती है जिसमें दोनों गुरति जाते हैं और प्रतिद्वंद्वी पर पंजे मारते जाते हैं। अंत में जबरदस्त कमजोर को गिरा कर चपतें मार-मारकर दुश्मन का काम तमाम कर देता है। मगर खुद भी सर से पांव तक ज़ख्मी हो जाता है।

## 3-तेंदुआ

तेंदुआ छोटे आकार का शेर होता है, मगर कहा जाता है कि लखनऊ में शेरों से अक्सर लड़ने वाले तेंदुए थे जो भयानक लड़ाई लड़ते और अक्सर शेरों को हरा देते। तेंदुए की लड़ाई बिल्कुल शेरों की-सी होती है। लड़ते-लड़ते दोनों प्रतिद्वंद्वी सख्त घायल हो जाते हैं और पराजित प्रतिद्वंद्वी कभी तो वहीं मैदान में गिर कर मर जाता है और कभी दुश्मन से हारकर भाग खड़ा होता है।

## 4-हाथी

लखनऊ में हाथियों की लड़ाई बहुत पसंद की जाती थी और बहुत ही दिलचस्प समझी जाती थी। यह शौक इतना बड़ा हुआ था कि बादशाह नसीरउद्दीन हैदर के ज़माने में डेढ़ सौ लड़ाई के हाथी थे जिनका सवारी के लिए उपयोग नहीं होता था। हाथियों की लड़ाई के लिए शर्त यह है कि वे मस्त हो गये हों इसलिए कि हाथी जब तक मस्त न हों, नहीं लड़ते और लड़े भी तो उनमें जीतने और अपने दुश्मन को हराने का



सच्चा और जोशगुस्सा नहीं होता ।

लड़ाई के वक़्त उनकी गर्दन से दुम तक एक रस्सा बंधा होता है । प्रतिद्वंद्वी का सामना होते ही दोनों अपनी-अपनी सूँडें और पूछें उठाकर जोर से चिबाड़ते हुए एक-दूसरे पर झपट पड़ते हैं और बड़ी ज़बरदस्त टक्कर होती है । उसके बाद बराबर टक्करों पर टक्करें होती रहती हैं जिनकी आवाज़ बड़ी दूर तक जाती है । फिर दोनों एक-दूसरे से मुँह मिलाकर और दांतों को अड़ा कर एक-दूसरे को रेलना और ढकेलना शुरू करते हैं जिसमें उनके शरीर के चक्कर खाने से अंदाज़ा होता है कि कैसा जोर लगा रहे हैं । फीलवान अंकुश मार-मारकर जोर लगाने पर उन्हें और ज़्यादा उभारते रहते हैं । आखिर दोनों में से एक हाथी कमज़ोर पड़ता है और रेले की चोट सहन न करके ज़मीन पर गिरता है । विजयी हाथी उस समय दांत से उसका पेट फाड़ डालता है और उसका काम तमाम कर देता है । लेकिन अक्सर हाथियों का स्वभाव है कि कमज़ोर पड़ते ही दांत छुड़ा कर भागते हैं और जीतनेवाला पीछा करता है । पा गया तो टक्करें मार कर गिराता और अक्सर दांतों से पेट फाड़ कर मार डालता है और अगर वह निकल गया तो जान बच जाती है ।

लखनऊ में हाथियों से अक्सर गैडे भी लड़ाये जाते थे लेकिन मुश्किल यह थी कि दोनों जानवर आपस में लड़ते ही न थे और अगर कभी लड़ गये तो बेशक सख्त लड़ाई होती । अगर कभी हाथी ने गैडे को ढकेल कर उलट दिया तो उसके दांत पेट में गड़कर उसका काम तमाम कर देते । और अगर गैडे ने मौक़ा पाकर अपना ऊपरी सींग हाथी के पेट में उतार दिया तो खाल दूर तक फट जाती । मगर हाथी सूँड की मदद से गैडे के सींग को अपने शरीर में ज़्यादा दूर तक न घुसने देता और भारी ज़रूम से बच जाता था ।

### 5—ऊंट

यों तो दुनिया में हर प्राणी लड़ सकता है, लेकिन लड़ाई के लिए ऊंट से ज़्यादा नामुनासिव जानवर कोई दूसरा नहीं हो सकता । मगर लखनऊ में ऊंट भी मस्त और जोशीले बनाकर लड़ाये जाते । ऊंट की पकड़ मशहूर है और उसका एकदम गिरना उसके लिए बहुत ही भयानक है । ऊंटों का जोश कफ़ निकालने और भाग उड़ाने से ज़ाहिर होता है । वे कफ़ उड़ाते हुए दौड़ते हैं और गालियां देने, एक दूसरे के मुँह पर थूकने यानी बलबलाने और



भाग उड़ाने से लड़ाई शुरू होती है। जिसे मौक़ा मिल गया प्रतिद्वंद्वी का लटकता हुआ होंठ दांतों से पकड़ लेता है और खेंचना शुरू कर देता है। जिस ऊंट का होंठ दुश्मन के दांतों में आ गया वह अक्सर गिर पड़ता है और हार जाता है और इसी पर लड़ाई खत्म हो जाती है।

#### 6-गैंडा

गैंडे से ज़्यादा मजबूत जानवर कोई नहीं पैदा किया गया। वह क़द में शेर और हाथी से छोटा है मगर ऐसा फ़ोलादी बदन है कि न उस पर हाथी के दांत कारगर होते हैं, न शेर के पंजे और नाखून। सिर्फ़ पेट की खाल नर्म होती है। अगर कोई जानवर उस पर हमला कर सका तो मार लेता है, वर्ना हर जानवर अपनी ताकत लगाते-लगाते थक जाता है और अंत में गैंडा अपना बांसे पर का ज़बरदस्त सींग उसके पेट में भोंक-भोंक कर मार डालता है।

लखनऊ में गैंडे, हाथियों से, शेरों से, तेंदुओं से और खुद गैंडों से लड़ाये जाते थे। गाज़ीउद्दीन हैदर बादशाह के ज़माने में लड़ाने के अलावा कुछ गैंडे इस खूबी से सघाये गये थे कि गाड़ी में जोते जाते और हाथी की तरह उनकी पीठ पर हौदा कसकर सवारी ली जाती। गैंडा स्वभाव से लड़ने वाला जानवर नहीं है बल्कि जहां तक मुमकिन होता है लड़ाई से बचता है। लेकिन हां, अगर उसे छेड़ा जाये तो मुक़ाबिले के लिए तैयार होकर बहुत ही घातक बन जाता है। नसीरउद्दीन हैदर के ज़माने में लड़ाई के पंद्रह-बीस गैंडे मौजूद थे जो चांदगंज में रहा करते। जब सवार उन्हें रगेद कर एक-दूसरे के सामने कर देते तो वे सिर झुका कर एक-दूसरे की ओर दौड़ते और टक्करें होने लगतीं। दोनों की यह कोशिश होती कि प्रतिद्वंद्वी के पेट को अपने सींग से फाड़ डालें और इसी कोशिश में वे देर तक एक-दूसरे को रेलते-पेलते और ढकेलते रहते, बड़े जोर-जोर से गुराते, सींग को सींग से टकराते और आखिर में लड़ते-लड़ते सिर जोड़कर गुंथ जाते और प्रतिद्वंद्वी को ढकेलते रहते। यहां तक कि जो प्रतिद्वंद्वी कमजोर पड़ता वह आहिस्ता-आहिस्ता हटने और जगह छोड़ने लगता है और इस पर भी जान नहीं छूटती तो भागता है। मगर जो जीत रहा होता है वह रगेद-रगेद कर मारता है। आखिरकार कमजोर अपना सींग अलग करके मुक़ाबिले से मुंह मोड़ता और बड़े जोर से भागता है। अगर मैदान घिरा हुआ है तो विजेता प्रतिद्वंद्वी भागते में उस पर हमला कर-कर के उसे



गिराता और पेट में सींग भोंक कर काम तमाम कर देता है और अगर मैदान विशाल और खुला हुआ है और हारा हुआ गैंडा भाग सका तो भाग कर अपनी जान बचा लेता है। उस समय सवार रगेद-रगेदकर और और गर्म सलाखों से मार-मार कर विजेता को पराजित के पीछा करने से रोकते और हटा ले जाते हैं। गैंडों की लड़ाई का सारा दारोमदार इस पर है कि वह सिर भुकाए और अपने पेट को बचाए रहें। अगर धोखे में भी किसी का सिर उठ गया तो दूसरा प्रतिद्वंद्वी अपना काम कर गुजरता है। चुनांचे एक गैंडा विजयी हुआ और उसका प्रतिद्वंद्वी भागने लगा। उसे भागते देखकर विजेता ने सिर ऊंचा कर दिया और साथ ही उसी पराजित गैंडे ने बिजली की तरह दौड़कर उसके पेट में सिर डाल दिया और पेट फाड़ डाला।

### 7-बारहसिंघा

यह एक छोटा, नाजुक और खूबसूरत जानवर है और शायद लखनऊ के सिवा और किसी जगह यह मनोरंजन के लिए लड़ाया न गया होगा। मगर इसकी लड़ाई बड़ी खूबसूरत होती है। हिरन से शाइर अपनी प्रेमिका से उपमा देते हैं इसलिए इसकी लड़ाई में भी माशूकों की-सी अदाएं जाहिर होती हैं। मुक्काबिले के वक्त पहले बड़ी खूबसूरती के साथ दोनों प्रतिद्वंद्वी पैतरे बदलते रहते हैं और आखिर टक्करें होने लगती हैं जिनमें सींगों से वे तलवार का भी काम लेते हैं और ढाल का भी। अंत में देर तक की टक्करों के बाद दोनों के सींग आपस में इस तरह उलझ जाते हैं कि मालूम होता है कि तिफली पड़ गयी। अब एक-दूसरे को रेलते और ढकेलते रहते हैं। इसी रेला-पेली में एक कमजोर पड़ जाता है और उस पर हार का ऐसा आतंक छा जाता है कि उसके नाजुक पांव थरथराने लगते हैं और सारे तन-बदन में कंपकंपी आ जाती है। मगर प्रतिद्वंद्वी उस पर तरस खाने के बजाये जोर से आकर और ढकेलता है और ढकेलता हुआ मैदान के आखिर में यानी ठाठर तक पहुंचा देता है। अब पराजित निराश हो जाता जाता है, आंखों से मोटे-मोटे आंसू और सींगों से खून की बूंदें टपकने लगती हैं और वह सींग छुड़ाकर लड़ाई से मुंह फेर लेता है। उस समय प्रतिद्वंद्वी सींगों से उसके जिस्म को ज़रमी करना शुरू करता है और पराजित बारहसिंघा जोर से भागता है। जिस फुर्ती से वह भागता है उसी तेजी से विजेता प्रतिद्वंद्वी उसका पीछा करता है। यह दौड़ देखने योग्य होती है। दोनों हवा से बातें करने लगते हैं और उन पर निगाह



नहीं ठहरती है। मगर निर्दयी शत्रु पराजित बारहसिंघे का पीछा करना नहीं छोड़ता, जहां पाता है ज़रुमी करता है। आखिर ज़रुमों से चूर करते-करते मार डालता है और मरने के बाद उसकी लाश को सींगों से भँभोड़ कर हटता और अपनी जीत पर गर्व करता है।

### 8-मेंढा

यह बहुत ही गरीब और निरीह पशु है, मगर इसकी टक्कर बड़ी ज़बर-दस्त होती है। मालूम होता है कि जैसे दो पहाड़ लड़ गये। चुनांचे इन्हीं टक्करों का तमाशा देखने के लिए लोग इन्हें लड़ाते हैं और आज ही नहीं पुराने ज़माने से इनकी लड़ाई देखी जाती रही है। इनके लड़ाने का प्रारंभ हिंदुस्तान में बलूची लोगों से हुआ और उन्हीं से दूसरे स्थानों में शौक पैदा हुआ। मगर लड़ाई के लिए उनके पालने और तैयार करने का काम अक्सर कसाइयों और निचले वर्ग के लोगों के सुपुर्द रहा। अमीर और सामंत उन्हें सामने बुलवाकर लड़ाई का तमाशा देख लिया करते थे। सुना जाता है कि नवाब आसफ़उद्दौला और सआदत अली खां को मेंढों की लड़ाई देखने का बड़ा शौक था। गाज़ीउद्दीन हैदर और नसीरउद्दीन हैदर के सामने भी अक्सर मेंढे लड़ाये गये। वाजिद अली शाह को कलकत्ते के प्रवास में भी किसी हद तक शौक था। मुंशी-उस्मूलतान बहादुर उनकी दिलचस्पी के लिए अक्सर कसाइयों के तत्वावधान में बहुत-सी जोड़ें तैयार रखते थे और मैंने कई बार देखा कि किसी ज़बरदस्त मेंढे की ऐसी टक्कर पड़ी कि दूसरे प्रतिद्वंद्वी का सिर फट गया। मेंढा जब हारता है और अपने प्रतिद्वंद्वी की टक्कर सहन नहीं कर सकता तो उसकी टक्कर खाली देकर भाग खड़ा होता है। मुझे याद है कि एक बार बादशाह की चरागाह देखने के लिए नियत सालाना तारीख को कलकत्ता के सैकड़ों अंग्रेज़ जमां थे। बादशाह सलामत अपनी शान के खिलाफ़ बूचे पर सवार निकल आये और उन मेहमानों को खुश करने के लिए हुक्म दिया कि मेंढे लाकर लड़ाए जायें। चुनांचे उनकी टक्करों का हंगामा शुरू हुआ और उससे ज़्यादा शोर योरुपियन लोगों ने हुर्रें और खुशी के नारे बुलंद करके मचाया। उस समय दर्शकों में एक अजीब उत्साह नज़र आता था। लखनऊ में नवाबी शासन के पतन के बाद भी नवाब मोहसिनउद्दौला बहादुर को मेंढों की लड़ाई देखने का बड़ा शौक था। अब शरीफ़ों और अमीरों ने यह शुगल छोड़ दिया है और निचले वर्ग के लोगों में किसी हद तक बाक़ी है।



दरिदों को लड़ाई लखनऊ में सिर्फ सल्तनत और अमीरों के दरबार तक सीमित थी, इसलिए कि उनकी देखभाल, तैयारी, लड़ाई के वक्त उन्हें संभालना और तानाशाहियों को उनके आघात से बचाना ऐसी चीजें हैं जो गरीबों को तो छोड़िये बड़े-बड़े अमीरों के बस से भी बाहर हैं। इसीलिए दरिदों की लड़ाई लखनऊ के आसपास के इलाके में उसी समय देखी गयी जब तक कि पिछला दरबार कायम था। इधर वह दरबार बरखास्त हुआ और उधर वे भयानक दंगल भी उजड़ गये।

लेकिन परिदों की लड़ाई ऐसी न थी। उसका शौक हर अमीर-गरीब कर सकता था और हर शौकीन मेहनत करके लड़ाई के योग्य मुर्ग या बटेर तैयार कर सकता था। जो पक्षी लखनऊ में शौक और दिलचस्पी के साथ लड़ाये गये वे ये हैं : (1) मुर्ग, (2) बटेर, (3) तीतर, (4) लवे,<sup>1</sup> (5) बुलबुल, (6) लाल, (7) कबूतर, और (8) तोते। इनमें से हरेक खेल के अलग-अलग बयान करने को जरूरत है। लखनऊ की कबूतरबाजी और बटेरबाजी आमतौर पर मशहूर है जिस पर आजकल के पढ़े-लिखे और आधुनिक संस्कृति के समर्थक अक्सर हंसा करते हैं। वे यह बिल्कुल नहीं जानते कि इन शौकों और खेलों में हरेक को उन लोगों ने किस कमाल तक पहुंचाकर एक स्थायी कला का रूप दे दिया था। लेकिन जब वे योरूप में जाकर भी वहां इस प्रकार के बेहूदा शौक देखेंगे तो कम-से-कम उन्हें अपने उन शब्दों पर शर्मिंदगी जरूर होगी जो अपने देश के इन शौकीनों के बारे में अक्सर निस्संकोच कह बैठते हैं।

### 1-मुर्गबाजी

अगर्चे हर क्रिस्म और हर जाति के मुर्ग ही लड़ते हैं मगर लड़ाई के लिए खास भुर्ग असील मुर्ग है और सच यह है कि दुनिया में असील मुर्ग से ज्यादा बहादुर कोई जानवर नहीं है। मुर्ग की-सी बहादुरी दरअसल शेर में भी नहीं है। वह मर जाता है, मगर लड़ाई से मुंह नहीं मोड़ता। असील मुर्ग के बारे में यहां के अनुसंधाताओं का विचार है कि उनकी नस्ल अरब से लायी गयी है और यह संभव भी प्रतीत होता है इसलिए कि आजकल असील की जितनी

<sup>1</sup> बटेर की जाति का एक छोटा पक्षी जो अक्सर भाड़ियों में रहता है।



ज्यादा और ऊंची नस्लें, हैदराबाद दक्खिन में मौजूद हैं, कहीं नहीं हैं। और हिंदुस्तान में वही एक शहर है जहां अरब वाले सब जगहों से ज्यादा आबाद हैं। उत्तर भारत में मुर्गों की नस्लें ईरान होती हुई आयीं। लखनऊ के नामी मुर्गबाजों में से एक साहब का बयान था कि बाज़ी में उनका मुर्ग इतिफ़ाक़ से हार गया था। दुखी और हतोत्साह होकर वह इराक़ चले गये। नजफ़-ए-अशरफ़ में कई महीने तक इबादत करते रहे और दिन-रात दुआ मांगते कि ए खुदाबंद ! अपने मासूम इमामों के सदक़ों में मुझे ऐसा मुर्ग़ दिलवा जो लड़ाई में किसी से न हारे। एक रात को ख़ाव में यह खुशख़बरी मिली कि “जंगल में जाओ।” सुबह आंख खुलते ही उन्होंने जंगल का रास्ता लिया और एक मुर्गी साथ लेते गये। यकायक पहाड़ के एक दर्रे से कुकड़-कू की आवाज़ आयी। उन्होंने फ़ौरन क़रीब जाकर मुर्गी छोड़ी जिसकी आवाज़ सुनते ही मुर्ग़ निकल आया और यह किसी तरकीब से उसे फ़ौरन पकड़ लाये। उसकी नस्ल ऐसी थी कि फिर कभी पाली में उन्हें शर्मिदा न होना पड़ा।

मुर्गों की लड़ाई का शौक यहां नवाब शुजाउद्दौला के शासन-काल से आखिर तक बराबर रहा। नवाब आसफ़उद्दौला को इसका बहुत ज्यादा शौक था। नवाब सआदत अली खां इसके बावजूद कि बड़े सूभ्रभू के मालिक थे मुर्गबाज़ी के बेहद शौकीन थे। उनके शौक ने सोसाइटी पर ऐसा असर डाला कि लखनऊ के अमीर और दरबारी तो दूर उस ज़माने में जो योरुपियन यहां मौजूद थे उन्हें भी यही शौक हो गया था। चुनांचे जनरल मार्टिन जिनकी कोठी लखनऊ की एक दर्शनीय इमारत और योरुपियन बच्चों की पाठशाला है, बड़े उच्च कोटि के मुर्गबाज़ थे और नवाब सआदत अली खां उनसे बाज़ी बदकर मुर्ग़ लड़ाया करते थे।

लखनऊ में मुर्गों की लड़ाई का यह तरीक़ा था कि मुर्गों के कांटे बांध दिये जाते ताकि उनसे नुक़सान न पहुंच सके। चोंच चाकू से छीलकर तेज़ और नुकीली की जाती और जोड़ के दोनों मुर्ग पाली में छोड़ दिये जाते। मुर्गबाज़ उनके पीछे-पीछे रहते। मुर्ग को दूसरे मुर्ग के मुक़ाबिले में छोड़ना भी एक कला थी जिसमें यह कोशिश रहती कि हमारा ही मुर्ग पहले चोट करने का मौक़ा पाये। अब दोनों मुर्ग चोंचों और लातों से लड़ना शुरू करते। मुर्गबाज़ अपने-अपने मुर्ग को उभारते और उत्तेजित करते और चिल्ला-त्चलाकर कहते, “हां, बेटा शाबाश है ! हां, बेटा काट। फिर यहीं पर !”



मुर्ग उनकी ललकारों और बढ़ावों पर इस तरह बढ़-बढ़कर लातें और चोंचें मारते कि मालूम होता जैसे समझते और उनके कहने पर अमल करते हैं। जब लड़ते-लड़ते घायल और चूर हो जाते तो दोनों पक्षों की सहमति से थोड़ी देर के लिए उठा लिये जाते। यह उठा लेना मुर्गबाज़ी की शब्दावली में 'पानी' कहलाता है। उस वक्त मुर्गबाज़ उनके ज़रूमी सिरों को पोंछते, उन पर पानी की फुहारें देते, ज़रूमों को अपने मुंह से चूसते और ऐसी-ऐसी तद्बीरें करते कि अंदर मिनट के अंदर मुर्गों में फिर नया जोश पैदा हो जाता और ताज़ादम होकर दुबारा पाली में छोड़े जाते। इसी तरह बराबर 'पानी' होते रहते और लड़ाई का खात्मा चार-पांच रोज़ बाद और कभी आठ-नौ रोज़ बाद होता। जब एक मुर्ग अंधा हो जाता या ऐसी चोठ खा जाता कि उठने के क़ाबिल न रहता या और किसी वजह से लड़ने के क़ाबिल न रहता तो समझा जाता कि वह हार गया। अक्सर यह होता कि मुर्ग की चोंच टूट जाती। इस सूरत में भी जहां तक बनता मुर्गबाज़ चोंच बांधकर लड़ाते।

हैदराबाद का खेल यहां के खिलाफ़ बहुत सख्त है। वहां कांटे नहीं बांधे जाते बल्कि बांधने के बजाये चाकू से छीलकर बरछी की अनी बना दिये जाते हैं और नतीजा यह होता है कि लड़ाई का फ़ैसला घंटे डेढ़ घंटे ही में हो जाता है। लखनऊ में कांटों के बांधने का तरीक़ा शायद इसलिए इस्तिyार किया गया था कि लड़ाई लंबी हो जाये और ज़्यादा देर तक आनंद उठाया जा सके।

लड़ाई के मुर्गों की तैयारी में मुर्गबाज़ का कमाल मुर्ग की खुराक और देखभाल के अलावा उसके शरीर की मालिश, फूई यानी पानी की फुहार देने, चोंच और कांटे बनाने या कांटे के बांधने और कोपत के मिटाने में नज़र आता है। इस अंदेशे से कि ज़मीन पर दाना चुगने में चोंच को नुक़सान न पहुंच जाये, अक्सर दाना उन्हें हाथ पर खिलाया जाता है।

यह शौक़ बाजिद अली शाह के ज़माने तक जोरों पर था। मटिया बुर्ज में नवाब अली खां की कोठी में मुर्गों की पाली होती थी और कलकत्ता से कुछ अंग्रेज़ अपने मुर्ग लड़ाने को लाया करते थे। बादशाहों के अलावा और बहुत से रईसों को भी मुर्गबाज़ी का शौक़ था। मिर्ज़ा हैदर बहू बेगम साहिबा के भाई नवाब सालार जंग हैदर बेग खां, मेजर स्वारिस जो नसीरउद्दीन हैदर के ज़माने में थे और खुद बादशाह के मुर्ग से मुर्ग लड़ाते थे। आगा



बुरहानउद्दीन हैदर भी मुर्गवाजी के शौकीन थे । उनके यहां आखिर जमाने तक दो-ढाई सौ मुर्ग रहते । वे बहुत सफाई और सुथरे ढंग से रखे जाते । दस-बारह आदमी उनकी देखभाल पर तैनात थे । मियां दाराब अली खां को बड़ा शौक था । नवाब घसीटा ने भी इस शौक को आखिर तक निबाहा । मलीहाबाद के प्रतिष्ठित पठानों को भी बहुत शौक था और उनके पास असील मुर्गों की बहुत अच्छी नस्लें सुरक्षित थीं । यहां मशहूर मुर्गवाज जो अपनी कला में पारंगत माने जाते थे, बहुत से थे । मीर इमदाद अली, शेख घसीटा, मुनव्वर अली जिन्हें यह कमाल हासिल था कि मुर्ग की आवाज सुनकर बता देते कि यह बाजी ले जायेगा । सफ़्दर अली और एक प्रथम कोटि के वसीक़ादार सैयद मीरन साहब भी मशहूर थे । इस आखिरी जमाने में नीचे लिखे लोगों का नाम, मशहूर हुआ : फ़ज़ले अली जमादार, कादिर जीवन खां, हुसैन अली, नौरोज़ अली, नवाब मुहम्मद तकी खां जो यहां के एक बड़े रईस थे, मियां जान, दिल, छंगा, हुसैन अली बेग, एहमद हुसैन । इनमें से अब कोई ज़िदा नहीं है ।

यही लोग हैं जिन्होंने मुर्गवाजी की कला को उसकी चरमसीमा तक पहुंचाकर दिखा दिया । मगर मेरा खयाल है कि फ़िलहाल मुर्गवाजी का शौक हैदराबाद दक्खिन में बढ़ा हुआ है । वहां के बहुत से अमीरों, जागीरदारों और मंसबदारों को शौक है और उनके पास मुर्गों की नस्लें भी बेमिसाल हैं जिनकी वे बहुत हिफ़ाज़त करते हैं ।

## 2-बटेरबाजी

बटेरबाजी का शौक लखनऊ में पंजाब से आया । पंजाब के कुछ कंचन लोग जिनकी औरतें वेश्यावृत्ति करती हैं, नवाब सम्राट अली खां के शासनकाल में लखनऊ आये और घाघस बटेर अपने साथ लाये जिनको वे लड़ाते थे । आजकल की बाज नामवर रंडियां उन्हीं लोगों की नस्ल से हैं । बटेरों की दो क्रिस्में होती हैं : एक घाघस, दूसरी चनंग । पंजाब में सिर्फ घाघस बटेर होता है । वह चनंग से ज्यादा ज़बरदस्त और ताक़तवर होता है । लखनऊ में घाघस और चनंग दोनों होते हैं । चनंग घाघस से क्रद में छोटा और नाजुक होता है मगर लड़ने में ज्यादा मज़बूत और जियाला हुआ करता है और उसकी लड़ाई ज्यादा शानदार और खूबसूरत होती है । बहरहाल इस बात का पता लखनऊ ही में लगा कि लड़ाने के लिए चनंग बटेर ज्यादा मुनासिब है ।



बटेर की लड़ाई के लिए न किसी बड़े मैदान की जरूरत थी, न घर से बाहर निकलकर सहन तक भी आने की, बल्कि कमरे के अंदर ही साफ-सुथरे फर्श पर तहजीब के साथ बैठकर उसकी लड़ाई की सैर देखी जा सकती है। इसलिए लखनऊ की सोसाइटी ने उसी को बहुत पसंद किया। बहुत ही नफीस और खूबसूरत काबुकें बटेरों के लिए बनायी गयी थीं जो हाथीदांत की नन्हों-नन्हों मगज़ियों से सजाई जातीं और उनमें बटेर रखे जाते।

इसका खेल यों है कि पहले मूठ यानी पानी में भिगो-भिगोकर घंटों हाथों में दबाये रहने से उसकी घबराहट दूर हो जाती है, यहां तक कि वह बोलने और चोंचें मारने लगता है। इसके बाद भूख देकर और दस्तावर चीजें, जिनमें मिस्त्री खास है, देकर उसका जिस्म दुरुस्त किया जाता है। फिर रात गये या आधी रात को उनके कान में चिल्लाकर 'कू' कहा जाता है जिसे 'कूकना' कहते हैं। गरज इन तदबीरों से चर्बी छट जाती है, भद्दापन दूर हो जाता है और जिस्म बहुत ही फुर्तीला और ताक़तवर हो जाता है। यही बटेर की तैयारी है और इन बातों में जितना पूरा हो उतना ही समझिये कि लड़ाई के लिए ज़्यादा मुनासिब है।

लड़ाई के वक़्त फ़र्श पर चारों तरफ हल्का-हल्का दाना छिटका दिया जाता है और बटेर काबुक से निकाले जाते हैं। पहले दोनों बटेरों की चोंचें चाकू से बनाकर खूब तेज़ कर दी जाती हैं, उसके बाद मुकाबिले के लिए छोड़ दिये जाते हैं। बटेर की लड़ाई मुर्ग़ से मिलती-जुलती है। चोंच से काटता और पंजों से लात मारता है। चोंच से प्रतिद्वंद्वी के मुंह को ज़ख्मी और उत्तू कर देता है और पंजों से बाज़ वक़्त प्रतिद्वंद्वी का पोटा तक फाड़ देता है। लड़ाई पंद्रह-बीस मिनट या कभी इससे ज़्यादा देर तक रहती है और अंत में हारा हुआ प्रतिद्वंद्वी भाग खड़ा होता है और भागने के बाद फिर वह किसी बटेर के सामने लड़ाई में नहीं ठहरता।

बटेर की तरक्की के तीन दर्जे हैं और उसकी नामवरी के तीन दौर समझे जाते हैं। पहला तो 'नया' जो पकड़कर और पहले पहल सधाकर लड़ाया जाता है। अगर वह बहुत-सी लड़ाइयों में जीता और न भागा तो लड़ाई की अवधि समाप्त होते ही मामूली पिंजरों में छोड़ दिया जाता है। यह वह ज़माना होता है जब वह पुराने पर भाड़कर नये निकाल लाता है। उसे 'कुरीज़ बिठाना' कहते हैं। यह ज़माना ख़त्म होते ही दूसरे साल उसकी तरक्की का दूसरा दर्जा



और दौर होता है और उसे 'नोकार' कहते हैं। फिर उसके बाद दुबारा 'कुरीज' बैठकर जब तीसरे साल वह लड़ाई के लिए तैयार किया जाता है तो 'कुरीज' कहलाता है और यह उसकी तरक्की का तीसरा और सबसे ऊंचा दौर होता है।

आमतौर पर यह मान लिया गया है कि लड़ाई में 'नोकार' नये से और 'कुरीज' 'नोकार' से जबरदस्त होता है। नया बटेर 'कुरीज' से दो चोंचें भी मुश्किल से लड़ सकता है। ऊंचे दर्जे के बटेरबाज और शौकीन रईस सिर्फ 'कुरीजों' को लड़ाते हैं और नये बटेरों का लड़ाना बिल्कुल मामूली खेल है। लड़ाई में तरह-तरह के जाल-फंदे भी किये जाते हैं। कुछ लोग अपने बटेर के मुंह पर कभी कोई ऐसी कड़वी और जहरीली चीज या इत्र लगा देते हैं कि दूसरा बटेर दो-एक चोंचें मारते ही पीछे हटने और लड़ाई से मुंह मोड़ने लगता है। और अगर इस पर भी लड़ता रहा तो लड़ाई के बाद मर जाता है। कुछ लोग नशे का खेल खेलते हैं, यानी लड़ाई से एक घंटा पहले अपने बटेर को कोई ऐसी तेज नशेवाली चीज खिला देते हैं कि वह लड़ाई में बेसुध होकर भागना भूल जाता है और जब तक प्रतिद्वंद्वी को पाली से न भगा दे पागलों की तरह लड़ता रहता है।

लखनऊ में बटेरबाजी के शौक ने ऐसे-ऐसे बाकमाल बटेरबाज पैदा कर दिये जिनकी कहीं मिसाल नहीं मिलती। कुछ लोगों ने यह कमाल पैदा किया था कि किसी के अच्छे नामी बटेर को एक नजर देखा और किसी मामूली बटेर की वैसी ही सूरत बना दी और किसी मौके पर बातों-बातों में बदल लिया। खैर यह तो एक बेहूदा चोरी थी मगर कुछ उस्तादों ने यह कमाल हासिल किया कि भगे बटेरों को तैयार करके अच्छे-अच्छे 'कुरीजों' से लड़ा देते और बाजी ले जाते। नशे के खेलवाले उस्तादों में एक साहब निहायत ऊंचे दर्जे की गोलियां तैयार करते जो सौ रुपये की दस गोलियां बिकतीं और लोग शौक से ले जाते।

इन लोगों की सबसे बड़ी उस्तादी बटेरों के इलाज में नजर आती है और ऐसे-ऐसे बीमार, गये-गुजरे बटेरों को ठीक कर लेते हैं और इस खूबी से उनकी बीमारी का निदान करते और मुनासिब चीजें इस्तेमाल कराते हैं कि हकीम और डाक्टर अचरज में पड़ जाते हैं। इसकी बहुत कोशिश की गयी कि बटेरों को पालकर अंडे से बच्चे दिलवाए जायें मगर इसमें कामयाबी न हुई।



बटेरों के नाम भी बड़े-बड़े शानदार रखे गये जैसे, रुस्तेम, सोहराब, शोहरा-ए-आफ़ाक़ (जगत प्रसिद्ध)। पालियों में बड़ी बाज़ियां बंदी जाती हैं और एक हजार रुपये तक की बाज़ी मैंने खुद देखी है। इसका शौक भी बाज़ बादशाहों को रहा। नसीरउद्दीन हैदर अपने सामने मेज़ पर बटेरों की लड़ाई देखकर खुश होते थे।

पुराने बटेरबाज़ों में मीर बच्चू, मीर अमदू, ख्वाजा हसन, मीर फ़िदा अली, छंगा, मीर, आबिद और सैयद मीरन के नाम यादगार हैं। आज से चालीस साल पहले मटिया बुर्ज में मैंने दरोगा गुलाम अब्बास, छोटे खां और गुलाम मुहम्मद खां खालिसपुरी को, जो बुजुर्ग लोग थे, इस कला में पारंगत पाया था। ग़ालिब अली बेग, मिर्ज़ा असद अली बेग, नवाब मिर्ज़ा, मियां जान, शेख मोमिन अली और गाज़ीउद्दीन खां ने भी आखिरी ज़माने में बहुत नामवरी हासिल की थी।

बटेरों का शिकार भी लखनऊवालों के लिए बड़ी दिलचस्पी की चीज़ है। पहले इसमें सिर्फ़ शौक़ीनी थी जिसकी बदौलत बहुत से\* बोदे और कमज़ोर आदमी जिन्होंने कभी शहर से बाहर का इलाक़ा भी न देखा था, खेतों और जंगलों की हवा खा आते थे। मगर अब इसी पर बहुतों की रोटियां चलती हैं।

कहते हैं कि बटेर पहाड़ों से रात को निकलते और ऊपर के वायुमंडल में उड़ते हुए जाते हैं। शिकार के शौक़ीन बड़ी आवाज़ से बोलनेवाले बटेरों को तैयार करते हैं जो बराबर रात भर बोलते रहते हैं। ऐसे बटेरों को 'फंदैत' कहते हैं। किसी ग्रहर के खेत के आसपास अक्सर जाल फैला दिया जाता है। फंदैतों की आवाज़ सुनकर बटेर ऊपर से उतरना और गिरना शुरू होते हैं और रात भर में बहुत से जमा हो जाते हैं। सुबह होते ही वे सब तरफ से हंकाकर जाल की तरफ भगाये जाते हैं जिसमें फंसते ही पकड़-पकड़ कर फटकियों में बंद कर लिये जाते हैं।

### 3-तीतरों की लड़ाई

यह भी दिलचस्प है। तीतर दूसरे पक्षियों की अपेक्षा उच्च-उच्च कर लड़ता है मगर इसका शौक़ सिवाय देहातियों और निचले वर्ग के लोगों के अमीरों और शरीफ़ों को कभी नहीं रहा। तीतर दौड़ा-दौड़ाकर तैयार किये जाते हैं। उनमें जोश और गुस्सा पैदा करने के लिए उनको दीमक खिलायी जाती है। मगर यह कोई बड़ा खेल नहीं है और न सम्य समाज में इसे



मान्यता मिली, हां लखनऊ के निचले वर्ग के लोगों में यह बहुत आम रहा और है।

#### 4-लवों की लड़ाई

लवा छोटे किस्म का तीतर है जो बटेर से छोटा है। वह बजाये दाने के सदाया यानी मादा पर लड़ा करता है। उसे लड़ाना होता है तो मादा का पिंजरा लाकर सामने रख दिया जाता है। उसका शौक रियासत रीवां बगैरा में लोगों को ज्यादा था। लखनऊ में भी पसंद किया गया और एक हद तक अपनाया भी गया। लवे की लड़ाई सच यह है कि बटेर से ज्यादा खूबसूरत होती है। वह कुंदे खोलकर लड़ता और गुंथ जाता है और फूल की तरह खिल-खिलकर उठता और गिरता है। लखनऊ के चंद अमीरों को इसका शौक हो गया था। मटिया बुर्ज में वाजिद अली शाह की सरकार में एक बड़े उस्ताद लवे लड़ाने वाले थे जिन्होंने बहुत अच्छी-अच्छी जोड़ें तैयार की थीं और जब उन्हें सामने लाकर लड़ाते तो बड़ा लुत्फ आता। लवों की तैयारी भी ज्यादातर लोट और भूख से होती है और इसकी लड़ाई का रिवाज बटेर से पहले से ही था। मगर आखिर में बटेरबाजी का इतना रिवाज हुआ कि लवे का शौक फीका पड़ गया। इसका शिकार भी अजब तरीके से होता है। यह भी बटेर की तरह ऊपर के वायुमंडल में उड़ता हुआ जाता है। लोग बटेर के फंदों की-सी छर पर एक घड़ा बांध देते हैं। उसके मुंहगड़ पर झिल्ली मढ़कर सींक में डोरा बांधकर उस सींक की झिल्ली से एक बेलुकी भों-भों की आवाज निकलना शुरू होती है जो लवों को ऐसी पसंद है कि उड़ते-उड़ते नीचे उतर पड़ते हैं और सुबह को जाल में फंसकर बटेरों ही की तरह पकड़ लिये जाते हैं।

#### 5-गुलदुम लड़ाना

गुलदुम को आम लोग बुलबुल कहते हैं। मगर यह गलती है। बुलबुल बदल्शा और ईरान का एक गायक पक्षी है और इस चिड़िया की दुम के नीचे एक सुर्ख फूल होता है जिसकी वजह से इसका नाम गुलदुम रखा गया है। इसकी लड़ाई भी देहातियों और बाजारी लोगों में ज्यादा है। सभ्य समाज ने इसे कभी दिलचस्पी की नज़र से नहीं देखा मगर इसकी लड़ाई होती मजेदार है। दाने पर लड़ते हैं और लड़ाई में दोनों प्रतिद्वंद्वी लड़ते हुए ऊपर उड़ते और गुंथकर गिरते हैं।



## 6-लाल लड़ाना

लाल सिर्फ पिजरो में रखकर पालने के लिए हैं, लड़ाई के लिए ठीक नहीं। मगर स्वार्थी मानव ने इन्हें भी लड़ाकर दो घड़ी दिल बहला लिया। लालों का पहले तो इतना हिलना मुश्किल होता है कि पिजरे के बाहर निकाल कर छोड़े जायें और उड़ न जायें। दूसरे इन्हें इतना मस्त भी होना चाहिए कि दूसरे लाल से लड़ने को तैयार हो जायें। चुनांचे उनका लड़ जाना ही दुश्वार होता है, मगर जब लड़ गये तो खूब गुंथ-गुंथकर और उड़-उड़कर लड़ते हैं और बड़ी देर तक लड़ते रहते हैं। लालों की लड़ाई दूसरे छोटे परिदों की लड़ाई की अपेक्षा देर तक रहती है। लालों की लड़ाई का शौक लखनऊ वालों में बहुत कम रहा सिर्फ दो ही एक उस्ताद पैदा हुए जिन्होंने लड़या वर्ना ग्राम रम्हान इसके खिलाफ था और इसके शौकीन भी ग्राम जनता और बाजारी लोग ही थे।

## 7-कबूतरबाजी

कबूतर उन पालतू जानवरों में है जिनका शौक लोगों को प्राचीन काल से लेकर आज तक हर देश और हर घरती पर किसी न किसी हद तक ज़रूर रहा। कबूतरों की बहुत-सी किस्में हैं जिनमें उड़ने वाले गिरहबाज और गोले होते हैं और जो महज़ खूबसूरती और खुशरंगी के लिहाज से पाले जाते हैं। इनमें शीराजी, गुली, नसावरी, गुलवे, लक्रे, लोटन और चूया चंदन वगैरा ज़्यादा मशहूर हैं। याहू कबूतर रात-दिन गूँजते और 'याहू' का दम भरने की वजह से इबादत करने वालों को ज़्यादा पसंदा थे और अक्सर फ़क़ीरों और शेखों को इनका शौक था।

सुनते हैं कि गिरहबाज पहले-पहल काबुल से लाये गये। पहले ग्रामतीर पर वही उड़ाये जाते थे। गोले बाद को आये जिनकी नस्ल अरब और ईरान और तुर्किस्तान से आयी। गिरहबाज की यह शान है कि सुबह को उड़े तो घंटों मकान के ठीक सामने आसमान पर चक्कर लगाते रहे इस तरह कि सहन के अंदर लगन में पानी भरकर रख दीजिये तो उसमें हमेशा नज़र आते रहेंगे। बाज़ दिन-दिन भर उड़ते हैं और शाम को उतरते हैं। अपने मकान को पहचानते और बड़े वफ़ादार होते हैं। गिरहबाज इतना कमाल रखते हैं कि खुद मेरे यहां का एक कबूतर किसी के यहां फंस गया था जिसने पर काट दिये। तीन साल के बाद जब उसे मौक़ा मिला और पर निकल



आये तो वापस आया और अपने खाने में घुसकर उस कबूतर से लड़ने लगा जो अब उसमें रह रहा था ।

लेकिन गिरहबाज की दस-बारह से ज्यादा की टुकड़ी नहीं उड़ती । लोगों को सौ-सौ, दो-दो सौ कबूतरों की टुकड़ियां उड़ाने का शौक हुआ तो गोले इस्तिथार किये गये । कबूतरबाजी की कला दिल्ली ही में इतनी तरक्की कर गयी थी कि कहते हैं आखिरी मुगल सम्राट बहादुरशाह की सवारी निकलती तो दो सौ कबूतरों की टुकड़ी ऊपर हवा में सवारी के साथ उड़ती हुई जाती और जहांपनाह पर साया किये रहती ।

कबूतर को अपने घर से बहुत ज्यादा लगाव होता है । काबुक को ठेले पर रखकर ले जाते और जहां कहा जाये रोक कर उड़ाते और फिर काबुक पर बुला लेने का कमाल भी दिल्ली ही में पहले नज़र आ चुका था ।

लखनऊ में कबूतरबाजी शहशाह खानदान के प्रारंभिक काल से ही शुरू हो गयी थी । चुनांचे नवाब शुजाउद्दौला को कबूतरों का बड़ा शौक था । सैयद यार अली नामक एक शख्स ने, जो बरेली का रहनेवाला था, अपने आपको एक दक्ष कबूतरबाज की हैसियत से दरबार में पेश किया और उसकी बड़ी कद्र की गयी । नवाब आसफ़उद्दौला और सम्राट अली खां को भी शौक था और गाजीउद्दीन हैदर और नसीरउद्दीन हैदर के जमाने में तो कबूतरबाजी यहां बहुत ऊंचे दर्जे पर पहुंच गयी थी । मीर अब्बास नामक यहां के एक नामी कबूतरबाज ने यह कमाल दिखाया कि जो कोई पांच रुपये नज़र करके उनकी दावत करना चाहे वह कहीं रहता हो, काबुक लेकर पहुंच जाते और उसी के घर से कबूतर उड़ा देते । उड़ाते और सीटी पर बुला लेते । मजाल क्या कि कोई कबूतर किसी और जगह गिर जाये । शौक इस कद्र बढ़ा हुआ था कि बाज अमीरों के यहां सिर्फ़ नौ सौ कबूतरियां एक साथ उड़तीं और बाज रईस इतने ही या इससे ज्यादा तादाद में नर कबूतर उड़ाते ।

खोस्त (सरहदी अफ़ग़ानिस्तान) से पटैत नामक एक खास रंग के कबूतर आये थे जो बहुत कीमती थे । अक्सर रईस हज़ारों रुपए खर्च करके उन्हीं को उड़ाते ।

एक बुजुर्ग ने जिन्हें नवीनता प्रिय थी, लखनऊ में यह कमाल किया कि कबूतर के दो पट्ठों को लेकर एक का दाहिना और एक का बायां बाजू काट दिया और कटे हुए बाजुओं की जगह उन दोनों में टांके लगाकर एक दोहरिया



कबूतर बना लिया और उसकी ऐसी देखभाल की कि वे बड़े हुए और उड़ने लगे। ऐसे बहुत से दोहरिया कबूतर तैयार किये गये। अक्सर ऐसा होता था कि जब नसीरुद्दीन हैदर छत्तर मंजिल से बजरे पर सवार होकर पार जाते और कोठी 'दिल आराम' में बैठकर दरिया की सैर देखते वे उस पार से अपने इन अजीब दोहरिया कबूतरों को उड़ा देते जो पार जाकर बादशाह के करीब बैठ जाते। बादशाह उन्हें देखकर बहुत खुश होते और इनाम देते।

मीर अमान अली नामक एक बुजुर्ग ने यह कमाल पैदा किया था कि कबूतर को रंग कर जैसा चाहते बना देते। अक्सर जगह पर उखाड़कर दूसरे रंग का पर उसी के सुराख में रखकर इस तरह जमा देते कि वह असली परों की तरह जम जाता और बहुत-सी जगहों पर रंग से काम लेते। मगर ऐसा मजबूत और पक्का रंग कि मजाल क्या जो ज़रा फीका भी पड़ जाये। बरस भर तक रंग कायम रहता। मगर जब कुरीज में पर गिर जाते तो फिर असली रंग निकल आता। उनके इन कबूतरों में से हरेक पंद्रह-बीस रुपये को बिकता और अमीर लोग बड़े शौक से लेते। वह भांतिया भी बना लिया करते जो लाखों में एक निकलता है और रंग की भिन्नता और गलों की दृष्टि से बेमिसाल होता है।

एक बड़े कबूतरबाज नवाब पाले थे जो गिरहवाज कबूतरों को गोलों की तरह उड़ाते। कमाल यह था कि जिस जगह और जिस मकान पर चाहते छीपी<sup>1</sup> के इशारे से बाज़ी करा देते यानी कबूतर हवा में कलाबाज़ियां खाने लगते।

वाजिद अली शाह ने मटिया बुर्ज में बहुत से नये कबूतर जमा किये थे। कहते हैं कि रेशमपरे कबूतरों का जोड़ा पच्चीस हजार को लिया था और एक क्रिस्म के हरे कबूतरों की नस्ल बढ़ायी थी। जब उनका देहांत हुआ है तो तीस हजार से ज्यादा कबूतर थे जिन पर सैकड़ों कबूतरबाज नौकर थे और उनके दरोगा गुलाम अब्बास कबूतरबाज़ी की कला में जवाब न रखते थे।

शौकीन और जानकर लोगों ने पालने के रंगीन कबूतरों में भी बेमिसाल तरक्की की थी। यह सिर्फ मशहूर नहीं है बल्कि ऐसा शीराज़ी जो गज्र भर के पिजरे की लंबाई-चौड़ाई को भर ले और ऐसा गुली जो एक बारह बरस की लड़की की चूड़ी में से निकल जाये मैंने खुद अपनी आंख से देखा है। (यह जिक्र अभी खत्म नहीं हुआ बाकी आइंदा नंबर में अर्ज करूंगा।)

<sup>1</sup> कपड़ा या बंधी छड़ी जिससे कबूतर उड़ाते हैं।



परिदों को लड़ा-लड़ाकर दिलचस्पी पैदा करना और मनोरंजन कराना लखनऊ के वेफिकों का बहुत ही आम शुगल हो गया था। कबूतरों और बटेरों के तैयार करने और लड़ाने में उन्होंने इस कदर तरक्की की कि अब हिंदुस्तान के जिस शहर में और जहां कहीं किसी रईस को इन चीजों का शौक है (और यह कमबख्त शौक अद्वरदर्शी धनिकों में ज्यादा हुआ करता है) वहां उस्ताद लखनऊ ही से बुलाये जाते हैं और इस मद का सारा कारखाना उन्हीं की निगरानी में होता है।

### तोते

पक्षी लड़ाने के हृद से गुजरे हुए शौक ने इसमें नवीनता पैदा करना शुरू की और बाज शौकीनों का खयाल इस तरफ गया कि जो काम कबूतरों से लिया जाता है और किन-किन परिदों से लिया जा सकता है। चुनांचे मीर मुहम्मद अली नामक एक बुजुर्ग ने तोतों से कबूतरों का काम लेने में खास कामयाबी हासिल की।

तोता स्वभाव से ही बहुत बेवफ़ा जानवर है। ज़िदगी भर रखिये और पालिये, लेकिन पिंजरे से उड़ा तो फिर उधर का रुख नहीं करता। 'तोता चश्मी' नाम ही बेवफ़ाई का हो गया है। वह बोलता है, बातें करता है, जानवरों की बोलियां उड़ा लेता है, जो जुमले याद करा दीजिये उनकी रट लगाता है, मगर उड़ाने के काम का नहीं। इसलिए कि पिंजरे से छूटते ही फिर वह किसी के बस का नहीं होता। मगर मीर साहब ने खुदा जाने किस तदबीर से उनका स्वभाव बदल दिया था कि दस-बारह तोतों की टुकड़ी उड़ाते और मजाल क्या कि वह सीटी बजाकर 'आ' करें और वह आसमान से उतरकर सीधे पिंजरे में न चले आयें। वह उन तोतों को रोज़ हुसैनाबाद में लाकर उड़ाते।

पक्षियों की इन तैयारियों का हाल बयान करके हम यह कहने पर मजबूर हैं कि लखनऊ वालों ने जितनी मेहनत परिद तैयार करने में की है, काश खुद अपनी और अपने जिस्म की तैयारी में करते तो यह अंजाम हरगिज न होता जो हुआ।



## पतंगबाजी

कनकौवे उड़ाने का शौक किसी न किसी हद तक सारे हिंदुस्तान में है और आजकल आमतौर पर लड़कों और नौजवानों का बहुत ही दिलचस्प खेल है। इसका इतना आम रिवाज देखकर यह खयाल होता है कि यह हिंदुस्तान की बहुत पुरानी चीज होगी, मगर ऐसा नहीं है। यह कला एक सदी पहले की भी नहीं कही जा सकती और इसकी प्रगति का केंद्र भी लखनऊ ही रहा है।

योरुप में लड़के एक क्रिस्म के कपड़े के कनकौवे उड़ाया करते हैं जिनको जब तक डोर पकड़ कर भागते रहो उड़ते हैं और इधर कदम रूका और उधर वे ज़मीन पर आ रहे। इनके बारे में यह भी नहीं कहा जा सकता कि कब से हैं और कहां से लिये गये।

सुना जाता है कि दिल्ली में शाह आलम प्रथम के शासन-काल में यह शौक शुरू हुआ। शुरू-शुरू में तो कुछ खास-खास लोग ही पतंग उड़ाया करते थे। पतंग बड़े शौक और दिलचस्पी से बनाया जाता था। उसमें दो तुक्कलें थोड़े फ़ासले से आगे-पीछे बराबर खड़ी करके जोड़ दी जाती थीं। तुक्कलों की आकृति ऐसी होती थी कि उसके तीन तरफ गोलाकार कोने निकलते। उसमें एक खपाच छीलकर बीच में खड़ी लगायी जाती जो ठूंडा कहलाती और दो खपाचें खूब छीलकर और नमं करके ऊपर-नीचे लगायी जातीं जो कांपें कहलातीं। ऊपर की कांप की आकृति घनुषाकार होती और नीचे की कांप की उससे उलटे आकार की। उनके दरम्यान में जगह-जगह आड़ी खपच्चियां लगा कर जोड़ दिया जाता और चारों तरफ से भी कागज़ मढ़ कर एक खास आकार की नुकीली कंदील बना दी जाती। उसके अंदर कपड़े का बना हुआ, तेल में डूबा हुआ गेंद तार में बांधकर लटका दिया जाता और उसे रोशन करके रात को लोग मजबूत सूती या रेशमी डोर पर उड़ते। पतंग की शान यह थी कि मालूम होता एक लालटन आसमान पर उड़ रही है और बर-खिलाफ़ गुब्बारे के, वह उड़ानेवाले के इस्तिथार में है जब चाहे उड़ाये और जब चाहे उतार ले वह हवा में लटका रहता, कभी औंधा होता तो फिर सीधा हो जाता।

इसी ज़माने में बाज़ लोग इसी तरह से इंसान का एक पुतला बनाकर उड़ाते बल्कि कुछ विश्वस्त लोगों का कहना है कि सबके पहले वह पुतला



दिल्ली ही में ईजाद हुआ था, फिर उसी से तरक्की करके चंग बनाया गया जिसकी लंबाई-चौड़ाई बराबर होने की वजह से उसे उड़ाना और हवा में ठहराना ज्यादा आसान था। इसका शौक ज्यादातर हिंदुओं में था और क्या ताज्जुब कि यह उनकी संस्कृति या धर्म से संबद्ध कोई चीज हो और आकाशदीप से ही यह निकला हो। फिर इस चंग के काटने के लिए या दिन को उड़ाने के खयाल से तुक्कल उड़ने लगी जो दरअसल आधा चंग या चंग की सिर्फ एक तरफ की दीवार थी। तुक्कल में खूबी यह थी कि वह चंग की अपेक्षा आसानी से उड़ सकती थी। उसमें चलत-फिरत थी, आसमान पर हवा में नाचती और दूर होती चली जाती थी। चंग एक जगह कायम रहता और तुक्कल इधर-उधर चलती-फिरती थी और उस पर इतना काबू था कि जब चाहें उसकी डोर से रगड़ा देकर दूसरे के चंग को काट दें।

तुक्कल ने दरअसल कंदील या रोशन पुतला उड़ाने का खयाल भुला दिया और लोगों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि हवा में कोई ऐसी चीज उड़ायी जाये जो ज्यादा काबू में हो इधर-उधर आसमान पर दौड़े और नाचे। तुक्कल का शौक मुसलमान अमीरों और प्रतिष्ठित हिंदुओं में बढ़ा। उस पर धन खर्च होने लगा, ऊंचे दर्जे के तुक्कल का नाम पतंग मशहूर हुआ जिसका ठुंडा मुर्शिदाबादी बांस का होता जिसमें अस्सी रुपये लागत आती। बीस रुपये की झलझल होती, दो रुपये का कागज लगता और पांच रुपये बनवाई पड़ती। गरज एक सौ सात रुपये में एक पतंग तैयार होता।

बहरहाल दिल्ली में तुक्कल और पतंग ही तक तरक्की हुई थी कि इसके कद्रदान दिल्ली के दरबार से लखनऊ चले आये और उसके साथ ही जमाने के शौकीन भी यहां चले आये। अब पतंग उड़ाने से पतंग लड़ाने का शौक निकला। ऐसी जोरदार तुक्कलें बनायी जाने लगीं जिनको मामूली ताकत का आदमी मुश्किल से संभाल सकता। आठ-आठ बल की मजबूत डोर चखियों पर चढ़ायी जाती और उन्हीं चखियों के जरिये से तुक्कलों का जोर संभाला जाता। लड़ाई की यह शान थी कि दो तुक्कलों की डोर एक-दूसरी में डाल कर दोनों तरफ से ढील दी जाती। दोनों तुक्कलें चक्कर खाती हुई ऊपर चढ़तीं और बुलंद होती चली जातीं। और दोनों तरफ से चखियों पर चखियां खाली रहतीं। लखनऊ के शौक का इससे अंदाजा हो सकता है कि नवाब आसफ़उद्दौला की तुक्कल में पांच रुपये की मुक़ैश की झलझल होती जो लूट-



कर लाता उसे पांच रुपये देकर तुक्कल ले ली जाती और न लाता तो भी जहाँ चाहता पांच रुपये को बेच लेता ।

पतंगबाज़ी के पुराने नामी उस्ताद लखनऊ में मीर अम्बू, ख्वाजा मिट्ठन और शेख इमदाद थे । एक जुलाहे ने भी उन दिनों इस कला में कमाल हासिल किया था जिसकी वजह से अमीरों की संगति में इसकी बड़ी क़द्र होती ।

अमजद अली शाह के ज़माने में यकबयक गुड्डी ईजाद हुई जिसकी आकृति बादाम की-सी होती । वह तुक्कल की बनिस्वत आसानी से बनती । तुक्कल में दो कांपें और एक ठुड्डा होता था । गुड्डी में सिर्फ़ एक ही कांप और एक ही ठुड्डा रह गया । वाजिद अली शाह के ज़माने में डेढ़ गुना कन-कौवा बन गया जिसका साइज़ मौजूदा कनकौवे का था । मगर नीचे तुक्कल की यादगार में कागज़ का छोटा-सा फुंदना होता । अब नवाब मुहम्मद हुसैन खां सालारजंगी, आगा अबू तराब खां और दो-एक शौकीन रईसों ने फुंदने की जगह नीचे पत्ता लगाकर वह कनकौवा बना दिया जो फ़िलहाल प्रचलन में है और जिसमें अभी तक और किसी तरक्की की गुंजाइश नज़र नहीं आती । फ़िलहाल सारे हिंदुस्तान में पत्तेदार कनकौवा या फुंदनेदार कनकौवा, जो डेढ़ कन्ना कहलाता है, उड़ता है मगर उसकी ईजाद लखनऊ में ही हुई है । यहीं से सब जगह गया और लोकप्रिय हुआ ।

कनकौवों के लड़ाने में भी पहले तुक्कल की तरह ढील का रिवाज था । बड़े-बड़े कनकौवे बनते और सेरों डोर पीते चले जाते । शाही शासन के अंत और अंग्रेज़ी शासन के आरंभ में मशहूर उस्ताद विलायत अली थे जो विलायती कहलाते थे । इलाहीबख़्श दुंडे जो मटिया बुर्ज में जाकर मशहूर हुए और लखनऊ के सैकड़ों माहिर उस्ताद थे जिनके नाम मुझे इस वक्त याद नहीं आते मगर सच यह है कि लंबडोरे पेच के लड़ाने के बादशाह थे ।

अंग्रेज़ी शासन के आरंभ में खेंच लड़ाने का रिवाज हुआ । इसकी शुरूआत तो उन लड़कों से हुई जिनके पास थोड़ी-सी डोर होती और दूसरे के कनकौवे में पेंच डालकर अपनी छोटी डोर से उसे खेंच जाते और काट देते । पुराने उस्ताद उन दिनों उन लोगों को नफ़रत की निगाह से देखते और अपने कनकौवों को उनसे अलग रखते । मगर आख़िरकार खेंच ही कनकौवेबाज़ी की सबसे ऊँची कला मानी जाने लगी जिसमें बड़े-बड़े उस्ताद पैदा हुए और आज



लखनऊ में बीसियों उस्ताद पड़े हुए हैं जो इसी शौक में लाखों रुपये उड़ाकर उस्ताद बने हैं और घर बिगाड़कर इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त की है कि कनकौवे के मैदानों में बड़े शौक से बुलाये जाते हैं और बड़े आदर-सम्मान से उन्हें आंखों पर बिठाया जाता है ।

## [ 19 ]

अब हम यह बताना चाहते हैं कि संगीत का और उसी सिलसिले में उन लोगों का जो इस कला से संबद्ध हैं लखनऊ में क्या स्थान रहा ।

गाना उन चीजों में से है जिनकी मनुष्य की प्रकृति ने सबसे पहले खोज की । जिन शब्दों को व्यक्त करने में, जोश जाहिर करने को जी चाहा लोग गाने लगे और जिन क्रिया-कलाप और हावभाव में भावनाओं ने उभारा, नाचना शुरू कर दिया । चूंकि सबसे अधिक उत्साह और एकाग्रता आराधना में होती है और सांसारिक मामलों में विवशता का सबसे अधिक असह्य उत्साह प्रेम-प्रणय की अभिव्यक्ति में पाया जाता है इसलिए गाने का प्रारंभ भी आदिकाल में आराधना और प्रेम के ही संदर्भ में हुआ । हिंदुस्तान में तो गाने का प्रारंभ निश्चित रूप से आराधना से ही हुआ इसलिए कि यहां के पहले गायक ब्राह्मण थे जो प्रारंभ में पूजा-पाठ करते और कराते समय अपने आराध्य की स्तुति में भजन गाया करते ! कन्हैयाजी के जन्म ने उनके प्रेम को पूजा में परिणत करके प्रेम-संगीत को जन्म दिया ।

मुसलमान अपने साथ संगीत लाये थे । उनका संगीत सबसे पहले इब्ने मुसह्हज ने बनाया था । उसके बाद जब इराक़ में अब्बासी दरबार कायम हुआ तो अरबी और फ़ारसी संगीत से मिलकर एक नया और अपने में पूर्ण संगीत का आविष्कार हुआ जो सारे संसार में फैल गया और वही अंत में ईरानी संगीत था । मुसलमान इसी कला को हिंदुस्तान में लाये और जो गवैये उनके साथ यहां आये थे उन्हीं की यादगार आजकल क़व्वाल हैं । उनके बाद्य सारंगी, सरोद, चंग, शहनाई, वरबत और रबाब हैं ।

हिंदुस्तान में हर चीज पर मुसलमानों ने अपना असर डाला । तमाम विद्याएं और कलाएं तथा संस्कृति की सभी बातों को बदल दिया मगर यहां



संगीत पर उनका बहुत कम प्रभाव पड़ा। इसका कारण यह माना जाता है कि खुद यहां का संगीत इतना नियमबद्ध और उच्च कोटि का था कि अपने स्थायित्व के कारण बाहर का प्रभाव ग्रहण कर ही न सका। लेकिन इसका वास्तविक कारण यह है कि किसी भी देश या भाषा के संगीत की ओर मनुष्य का ध्यान उस समय जाता है जब उस देश का निवासी बन जाये और वहां की भाषा और संस्कृति का रंग उस पर चढ़ जाये। लिहाजा यहां आने के बाद हमलावर मुसलमान जब तक अरबी या ईरानी रहे यहां के संगीत की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया और जब उन्होंने ध्यान दिया तो उस समय भारतीयता उनके अंदर समा चुकी थी। वे अपने राष्ट्रीय रागों को भूल चुके थे और यहां के गीतों पर मुग्ध थे। उस समय वे इस योग्य ही न रहे थे कि यहां के संगीत में किसी प्रकार का परिवर्तन करते या उसकी कुछ आलोचना करते।

फिर भी ईरानी क़व्वालों के गीतों ने हिंदुस्तान के संगीत पर थोड़ा बहुत असर डाल ही दिया। चुनांचे उनके अनेक राग भारतीय संगीत में शामिल हो गये। जंगूला (जंगला), जीफ़, शाहाना, दरबारी, ज़िला (खमाच) वगैरा के बारे में कहा जाता है कि ईरानी राग हैं जो यहां के संगीत में आकर मिल गये हैं।

अमीर खुसरो ने दोनों संगीतों को सीखा और दोनों को मिलाने की बहुत कुछ कोशिश की। कहते हैं कि सितार को उन्होंने ने ईजाद किया और इसमें तो शक ही नहीं कि बहुत-सी धुनें उनकी बनायी हुई हैं लेकिन इसका पता लगाना बहुत मुश्किल है कि अमीर खुसरो ने यहां के संगीत में कौन-कौन खास चीज़ें बढ़ायीं।

मालूम होता है कि मुसलमानों में बादशाहों से पहले शेखों और सूफ़ियों ने संगीत की ओर ध्यान दिया और इराक़ और ईरान के पुराने भक्तों में गीत-नृत्य की जो गोष्ठियां भक्तिभाव की-सी पवित्रता के साथ होती थीं, वही हिंदुस्तान में भी होने लगीं और जो गवैये इससे पहले मंदिरों में भजन गाया करते थे, मुसलमान भक्तों और सूफ़ियों की संगति में बैठकर मारिफ़त की ग़ज़लें गाने लगे।

बादशाहों के दरबार में भी यहां के गवैये और गाने-नाचने वाली वेश्याएं मौजूद रहा करतीं मगर उनका बड़ा अफ़सर कोई ईरानी गायक हुआ करता



जो उनके संगीत पर अपना कुछ-न-कुछ असर जरूर डालता। मुहम्मद तुगलक के शासन-काल में दरबार का सबसे बड़ा गवैया अमीर शम्सउद्दीन तब्रेजी था और संगीत-मंडली के सभी स्त्री-पुरुष उसके अधीन थे। उन्हीं दिनों देवगढ़ यानी दौलताबाद के पास कलाकारों की एक पूरी बस्ती आबाद थी जो तरबाबाद कहलाती थी। उसके चौपड़ के बाज़ार के बीचों-बीच एक बुर्ज था जिसमें रोज़ तीसरे पहर के समय संगीत-मंडली का चौधरी आकर बैठता और उसके सामने तमाम गवैयाँ और रंडियों के समूह बारी-बारी आकर गाते। उसमें से ज्यादातर मुसलमान थे और रोज़े-नमाज़ के पाबंद। उसी बस्ती में जगह-जगह मस्जिदें थीं जिनमें रमज़ान के मुबारक महीने में तरावीह<sup>1</sup> पढ़ी जाती। बड़े-बड़े राजा यहां आकर गाना सुनते। कई मुसलमान बादशाहों ने भी यहां आकर गाना सुना था। संगीत-मंडली के नायक और चौधरी चूंकि आमतौर पर मुसलमान थे इसलिए जाहिर है कि अरबी और ईरानी और हिंदुस्तानी संगीत किस हद तक मिल-जुल गये होंगे।

हिंदू संगीत के केंद्र उत्तर भारत में मथुरा, अयोध्या और बनारस थे जहां धार्मिक तत्व के प्रबल होने के कारण संगीत की कला सदा परवान चढ़ती रही। जौनपुर के शर्की सुल्तानों में से सुल्तान हुसैन शर्की को संगीत से बहुत प्रेम था। वह खुद एक बड़ा गवैया माना जाता था और चूंकि अयोध्या और बनारस दोनों उसी के राज्य में थे इसलिए निश्चय ही उसने हिंदुस्तान की इस कला को बड़ा फ़ायदा पहुंचाया होगा।

अकबर ने इस कला को इतना प्रोत्साहन दिया कि उसके समय का सबसे बड़ा नामवर गवैया तानसेन उसके नौ रत्नों में शामिल हुआ। एक मुसलमान शहंशाह की यह दिलचस्पी और शौक देखकर वह खुद और उसका बेटा बिलास खास मुसलमान हो गया। उस खानदान में दरबार के प्रोत्साहन के कारण भारतीय संगीत का रोज़ बरोज़ विकास होता गया। बाद के दरबारों में भी इसी नस्ल के गवैयाँ का मान होता रहा। चुनांचे आजकल इस खानदान के गवैयाँ अपने आपको मुग़ल दरबार ही में शामिल समझते हैं। आमतौर पर यह समझा जाता है कि इसी नस्ल के जरिये से हिंदुओं की यह

<sup>1</sup> रमज़ान के महीने में रात की नमाज़ के बाद पढ़ी जाने वाली नमाज़ जिसमें कुरान पढ़ा जाता है।



कला मुसलमानों में आयी। मगर पीछे हम जो वर्णन कर आये हैं उससे साफ़ ज़ाहिर है कि इस खानदान से बहुत पहले मुसलमानों ने इस भारतीय कला को सीख लिया था। चुनांचे प्रायः हिंदुस्तानी संगीत के सभी प्रवीण गायक मुसलमान हैं।

दिल्ली में इस कला पर सबसे पहली किताब 'शम्स-उल अस्वात' शाहजहां के शासन काल में लिखी गयी थी जो अब कहीं नहीं मिलती। फिर अकबर द्वितीय के समय में मिर्ज़ा खान नामक एक बुजुर्ग ने पंडितों और संस्कृत के विद्वानों की सहायता से 'तुहफ़ा-तुल-हिंद' नामक पुस्तक लिखी जिसकी दो-एक प्रतियां ही कुछ लोगों के पास रह गयीं हैं। इसमें बहुत-सी भारतीय कलाओं का व्योरा एकत्र किया है जहां ज्योतिष, सरोधा, सामुद्रिक, कोक शास्त्र, नायिका भेद, इंद्रजाल, आदि विभिन्न विद्याओं पर बहस की गयी है वहां भारतीय संगीत के बारे में जानकारी दी है।

दिल्ली में बस इतनी ही प्रगति हो पायी थी कि यह रोचक कला लखनऊ के दरबार में पहुंच गयी और नवाब शुजाउद्दौला की गुणग्राहिता और उदारता के कारण सारे हिंदुस्तान के संगीतकार आकर अवध में जमा हो गये। यहां अयोध्या और बनारस के संगीत के पुराने स्कूल कायम ही थे। जौनपुर के शर्की बादशाहों की कद्रदानी की कुछ-न-कुछ यादगारें भी बाकी थीं उनमें जब दिल्ली के माहिर गवैये और यासीन खां के अधिकृत स्कूल के संगीताचार्य भी आकर मिल गये तो खास शान पैदा हो गयी और संगीत का दर असल एक नया दौर शुरू हो गया।

शुजाउद्दौला के संबंध में 'तारीख-ए-फ़ैजाबाद' के लेखक का कहना है कि उन्हें नाच-गाने का बड़ा शौक था। हज़ारों गानेवाली रंडियां आमतौर से दिल्ली से और अन्य दूरस्थ प्रदेशों से यहां आकर जमा हो गयी थीं। आम रिवाज पड़ गया था कि प्रधान मंत्री के अलावा और तमाम अमीर और फ़ौजी सरदार भी किसी तरफ़ कूच करते तो नृत्यगान मंडलियां और रंडियों के डेरे उनके साथ-साथ जाते थे।

इसका नतीजा यह था कि नवाब आसफ़उद्दौला बहादुर के शासन-काल में फ़ारसी भाषा में 'उसूल-उल-नरमात-उल-आसफ़िया' नामक पुस्तक लिखी गयी। भारत की संगीत-कला पर इससे बेहतर कोई किताब आज तक नहीं लिखी गयी। अगर्चे इस किताब की भी बहुत ही कम प्रतियां मिलती हैं, मेरे पास



मौजूद है और मैंने उसे पढ़ा है। इसके लेखक की दृष्टि प्रौढ़ है और वह एक विद्वान हैं, यह भी मालूम होता है कि उन्हें अरबी, फ़ारसी और संस्कृत तीनों भाषाओं पर पूरा अधिकार है। उन्होंने इस बात की बड़ी कामयाब कोशिश की है कि भारत की संगीत कला को बड़े स्पष्ट ढंग से हरेक व्यक्ति के सामने प्रस्तुत कर दिया जाये असद उल्लाह खां 'कौकब', जिनका कुछ ही दिन हुए देहांत हुआ है, संगीत के घुरंघर पंडित थे और कलकत्ता में भारतीय संगीत के प्रोफ़ेसर मशहूर थे। वे इस पुस्तिका के बारे में मुझे एक खत में लिखते हैं 'संगीत की यह फ़ारसी पुस्तक मेरे पास मौजूद है। यह पुस्तिका उन अधि-कृत ग्रंथों को, जो शास्त्र का आदिम स्रोत हैं, आधार बनाकर और बड़े शोध के साथ लिखी गयी है।' (अफ़सोस यह लाजवाब किताब आज तक नहीं छपी और यह इतनी दुर्लभ है कि अगर यह न छपी तो नष्ट हो जायेगी। अगर कोई रईस इस ओर ध्यान दें तो देश और अपने प्राचीन इतिहास पर बड़ा उपकार होगा।)

इस पुस्तिका से साफ़ जाहिर है कि आसफ़उद्दौला के शासन-काल में संगीत का कितना विकास हो चुका था। इसका लेखक एक बड़ा अनुसंधाता मालूम होता है जिसने इब्नेसीना की चिकित्सा-विषयक पुस्तक से लेकर और फ़ारसी संगीत-नियम भी स्पष्ट रूप से बता दिये हैं। 'दिलगुदाज़' के इस लेख को पूरा करने के लिए हमने स्व० प्रोफ़ेसर 'कौकब' से मदद मांगी थी, उन्होंने जवाब में हमें जो कुछ लिखा उसे हम हूबहू प्रकाशित किये देते हैं। उससे अच्छी तरह मालूम हो जायेगा कि लखनऊ में आने के बाद संगीत-कला की क्या स्थिति रही। अफ़सोस अब वह इस दुनियां में नहीं हैं वरना हमें उनसे बहुत ज्यादा मदद मिलती, विशेषकर इसलिए कि अपनी नयी किताब जो संगीत-कला से संबंधित है वह हमारे यहां छपवाना चाहते थे। आसफ़उद्दौला के समय में हुई संगीत की प्रगति को मानते हुए वह लिखते हैं :

'नवाब सआदत अली खां के ज़माने में संगीत पर ओस पड़ गयी। गाज़ी-उद्दीन हैदर के ज़माने में इस कला का एक बहुत बड़ा आचार्य लखनऊ में मौजूद था जिसका नाम हैदरी था। यह साहब चूँकि खोये-खोये रहते थे इसलिए इनका नाम 'सिड़े हैदरी खां' मशहूर हो गया था और वह गोलागंज में रहते थे। गाज़ीउद्दीन हैदर को उनका गाना सुनने का बड़ा शौक था मगर कभी इसका मौक़ा नहीं मिला था। एक रोज़ तीसरे पहर को गाज़ीउद्दीन हैदर



हवादार पर सवार दरिया किनारे तफ़रीह को निकले। रोमी दरवाज़े के नीचे लोगों ने देखा कि सिड़े हैदरी खां चले जा रहे हैं। बादशाह से अर्ज़ की कि “क्रब्ला-ए-आलम ! हैदरी खां यही हैं।” बादशाह तो उत्सुक थे ही, हुक्म दिया, “बुलाओ।” लोग पकड़ लाये और सामने खड़ा कर दिया। बादशाह ने कहा, “अरे मियां हैदरी खां, कभी हमें अपना गाना नहीं सुनाते ?” बोले, “जी हां, क्यों न सुनाऊंगा। मगर मुझे आपका मकान नहीं मालूम है।” बादशाह यह सुनकर हंस पड़े और कहा, “अच्छा हमारे साथ चलो, हम खुद तुम्हें अपने मकान पर ले चलेंगे।” “बहुत खूब !” कहकर बेतकल्लुफ़ साथ हो लिये। छत्तर मंज़िल के करीब पहुंचे थे कि हैदरी खां हल्थे पर से उखड़ गये और बोले, “मैं चलता तो हूं मगर पूरियां और बालाई खिलवाइयेगा, तो गाऊंगा।” बादशाह ने वायदा किया और महल में बैठकर गाना सुनने लगे। थोड़ी ही देर सुनकर बहुत आनंदित हुए। उनको हाल आने लगा और वे बेसुध हो गये। यह हालत देखकर हैदरी खां खामोश हो गये। बादशाह ने फिर गाने को कहा तो बोले, “हूज़ूर, यह तंबाकू जो आपके पेचवान में भरा हुआ है बहुत ही अच्छा मालूम होता है। आप किसको दुकान से मंगवाते हैं ?” गाज़ीउद्दीन हैदर खुद भी सिड़ी मशहूर थे। इस सवाल पर नाराज़ हुए तो मुसाहिबों ने अर्ज़ की, “क्रब्ला-ए-आलम, यह सिड़ी तो है ही। अभी तक यही नहीं समझा है कि किससे बातें कर रहा है।”

‘अब लोग बादशाह के कहने पर हैदरी खां को दूसरे कमरे में ले गये। पूरियां बालाई खिलवायीं। हुक्का पिलवाया। आपने पाव भर पूरियां, आध-पाव बालाई और एक पैसे की शकर मंगवाकर अपनी बीबी को भिजवायीं (जो उनका हर जगह का नियम था)। जब तक उन कामों में रहे बादशाह ने शराब के जाम पिये और जब नशे का जोर हुआ तो फिर हैदरी खां की याद हुई। फ़ौरन बुलवाकर गाने का हुक्म दिया। मगर जैसे ही उन्होंने अपना गाना शुरू किया, रोककर कहा, “हैदरी खां सुनते हो ? और अगर मुझे खाली खुश किया और रुलाया नहीं तो याद रखो कि गोमती में डुबवा दूंगा।” अब तो हैदरी खां की अक्ल चक्कर में आयी समझे कि यह बादशाह हैं। कहा, “हूज़ूर अल्लाह मालिक है।” और जी तोड़कर गाने लगे। खुदा की कुदरत, या यह कहिये कि हैदरी खां की ज़िदगी थी कि थोड़ी ही देर में बादशाह पर असर हुआ और वे रोने लगे और खुश होकर कहा, “हैदरी खां, मांग क्या



मांगता है ?” अर्ज किया, “जो मांगूंगा दीजियेगा ?” बादशाह ने वायदा किया और हैदरी खां ने तीन बार हमी भरवाकर कहा, “हुजूर, यह मांगता हूं कि मुझे फिर कभी न बुलवाइयेगा, और न गाना सुनियेगा ।” बादशाह ने ताज्जुब से पूछा, “क्यों ?” अर्ज किया, “आपका क्या है ? मुझे मरवा डालियेगा । फिर मुझसा हैदरी खां न पैदा होगा, और आप मर जायेंगे तो फौरन दूसरा बादशाह हो जायेगा ।” इस जवाब पर शाजीउद्दीन हैदर ने नाराज होकर मुंह फेर लिया । यह मौक़ा पाते ही हैदरी खां अपनी जान लेकर भागे और अपने घर आये ।

‘गरज़ शाजीउद्दीन हैदर के ज़माने में एक ज़बरदस्त संगीताचार्य लखनऊ में था । नसीरउद्दीन हैदर के ज़माने में यों तो हज़ारों गानेवाले थे मगर उस पाये का गवैया कोई न था । मुहम्मद अली बादशाह और अमजद अली शाह का ज़माना बुजुर्गी का ज़माना था इसलिए कि मुहम्मद अली शाह तो बुढ़ापे के कारण चेतनाशून्य-से हो गये थे और अमजद अली शाह बिना अपने पिता से पूछे कोई काम नहीं करते थे । लिहाज़ा उनके ज़माने में शहर के बाज़ शौकीन रईस अगर नृत्य-संगीत के रसिया थे भी तो छिप-छिपाकर गाना सुनते । इसलिए अब इस कला को जो प्रोत्साहन मिला वह वाजिद अली शाह की युवा-वस्था के समय मिला जबकि लखनऊ की विलासिता अपनी चरम सीमा पर थी और बुझनेवाला चिराग़ आखिरी बार भड़ककर जला था ।’

अगरच हम नसीरउद्दीन हैदर और उसके परवर्ती शासकों के समय के संगीत के बारे में कुछ और भी लिखना चाहते हैं, मगर उससे पहले मुनासिब मालूम होता है कि असदउल्लाह खां ‘कौकब’ के खत का बाक़ी हिस्सा भी पाठकों को सुना दें जिससे लखनऊ के संगीत पर एक अधिकारी संगीतज्ञ की राय मालूम हो जायेगी ।

वे लिखते हैं, ‘वाजिद अली शाह के शासन-काल में लखनऊ में संगीताचार्यों का बहुत बड़ा गिरोह जमा हो गया था, लेकिन दरबार से रसूख रखने-वाले और ऐसे गवैया जिन्हें खिताब मिले हुए थे संगीत-कला में पारंगत नहीं थे । सिर्फ़ एक कुतबउद्दौला रामपुर के रहनेवाले अलबत्ता सितार खूब बजाते थे और अपनी कला में प्रवीण थे । अनीसउद्दौला, मुसाहबउद्दौला और रज़ी-उद्दौला अगरच गवैया थे, मगर ऐसे बाक़माल न थे, हां शाही कृपापात्र होने से उनका नाम हो गया था । जो लोग संगीत के आचार्य थे वे थे—प्यारे खां, जाफ़र खां, हैदर खां, और बासित खां । ये सब लोग मियां तानसेन के खान-



दान की यादगार थे। इस खानदान के दो नामी शख्स आजकल भी मौजूद हैं, एक वजीर खां जो रियासत रामपुर में हैं, दूसरे मुहम्मद अली खां जो रियासत परसंडा में मौकुर हैं। मुहम्मद अली खां के वालिद बासित खां थे जिनका नाम ऊपर आ चुका है।

इस मौके पर स्व० कौकब खां फरमाते हैं कि, “मेरे वालिद नेमतउल्लाह खां ने बासित खां ही से संगीत की शिक्षा ली थी। नेमतउल्लाह खां लगभग ग्यारह साल तक मटिया बुर्ज में वाजिद अली शाह के साथ रहे। फिर उसके बाद तीस बरस तक नेपाल के दरबार में रहे।”

इसके बाद लिखते हैं, ‘वाजिद अली शाह के जमाने में संगीत को बड़ा प्रश्रय मिला। लेकिन संगीतशास्त्र अपने प्रतिष्ठित स्थान से गिरकर छोटी चीजों पर आ गया था। लखनऊ में कदरपिया ने ठुमरियां लिख-लिखकर जनता में फैलाई और संगीत की घारा को अवरुद्ध कर दिया। चुगांचे अधिकतर संगीत-प्रेमी उच्च कोटि की राग-रागिनियों को छोड़कर कदरपिया की ठुमरियां पसंद करने लगे। संगीत के स्तर में अवनति मुहम्मद शाह रंगीले के समय से ही शुरू हो गयी थी। अब मियां सारंग ने ‘खयाल’ की रचना की जिससे संगीत-कला का स्तर घटिया हो गया। मगर इससे उतना नुकसान नहीं हुआ जितना कदरपिया की ठुमरियों से हुआ। अब तो क्या जन-साधारण और क्या सामंत सभी की यह हालत थी कि अच्छा संगीत अगर सुनते भी थे तो दिलचस्पी और शौक से नहीं, बल्कि उसे नापसंद करते थे।

‘वाजिद अली शाह के मुसाहिब गवैयों में से अनीसउद्दौला और मुसाहिब-उद्दौला ने प्यारे खां से संगीत की शिक्षा ली थी जो बहुत बड़ा संगीताचार्य था और जो कुछ उसने इन दोनों शिष्यों को बताया, वह निश्चय ही बहुत उच्च कोटि का था। लेकिन इसका क्या इलाज कि दरबार में ऐसे संगीत को कोई पूछता ही न था। क़सरबाग में जो ‘रहस’ होता था और जिसमें वाजिद अली शाह खुद कन्हैया बनते थे, बहुत ही निम्न कोटि का संगीत होता था। लेकिन इसमें शक नहीं कि लगाव न होने पर भी कलाकारों का शाही दरबार में बड़ा आदर सम्मान होता था जिसकी असली वजह यह थी कि वाजिद अली शाह ने भी बासित खां से संगीत की शिक्षा ली थी और वे उसके पूरे मर्मज्ञ थे। अपनी प्रखर बुद्धि के कारण बादशाह ने अपने ही ढंग से नयी रागिनियां बनायीं जिनके नाम अपनी रुचि के अनुकूल जोगी, कन्नड़ (श्याम) जूही, शाहपसंद वगैरा



रखे। वाजिद अली शाह इस कला के आचार्य माने जाते थे। लेकिन संगीत-मर्मज्ञ होने के साथ ही वे इस दोष से न बच सके कि उनकी निम्न कोटि की रुचि ने लखनऊ में संगीत को अपने स्तर से गिराकर जनसाधारण के स्तर पर लाकर रख दिया। समय की यह रीति देखकर सुरुचि रखनेवाले गवैयों ने भी राग-रागिनियों की क्लिष्टता को त्यागकर छोटे-छोटे, सादे, दिलकश और आम लोगों के लिए सुगम विषयों पर संगीत रचना आरंभ कर दी। जनता में ग़ज़ल और ठमरी का प्रचलन हो गया और ध्रुपद, होरी आदि जो बहुत कठिन राग हैं उनकी ओर से उपेक्षा की गयी। खम्माच, भिम्भौटी, भैरवी, सुनिद्रा, तिलक, कामोद, पीलू वगैरा छोटी-छोटी मज़ेदार रागिनियां संगीतप्रेमियों के लिए चुनी गयीं और यही चीज़ें बादशाह को भी पसंद थीं क्योंकि वे उनके स्वभाव के अनुकूल थीं। ये रागिनियां लखनऊ के संगीतप्रेमियों को इतनी पसंद थीं कि आज सारे हिंदुस्तान में लखनऊ के सफेद खरबूजों की तरह लखनऊ की भैरवी भी मशहूर हो गयी। और सच यह है कि भैरवी लखनऊ की ही विशेषता है। ऐसी भैरवी हिंदुस्तान के किसी हिस्से में नहीं गायी जाती। सोज़ख़वानों<sup>1</sup> ने भी इन्हीं आमपसंद और आम लोगों की समझ में आनेवाली रागिनियों को ज्यादा रिवाज दिया जो घर्म के माध्यम से घर में बैठनेवाली औरतों तक के गले में उतर गयीं। यहां तक कि उनके मसिये सुनकर बड़े-बड़े घुरंधर गायक भी चकित रह जाते हैं। सोज़ख़वानों में से ज्यादातर प्यारें खां और हैदर खां की शागिर्द थीं।

‘लय संगीत का एक महत्वपूर्ण अंग है जिसे दूसरे शब्दों में टाइम या क़त्त कहना ज्यादा मुनासिब है। यह बोध वाजिद अली शाह में भी बहुत ज्यादा था जिसे प्रकृति की देन कहना चाहिए क्योंकि बैसे तो लय का बोध थोड़ा-बहुत हर व्यक्ति में होता है। कवियों ने जो छंद निश्चित किये हैं उनका संबंध भी लय से ही है। छंदशास्त्र भी दरअसल लय पर ही आधारित है। यह बात स्पष्ट है कि जिस व्यक्ति में प्राकृतिक रूप से लय का बोध बहुत अधिक होगा उसके हर अंग-प्रत्यंग से ऐसी अनायास क्रियाएं प्रकट होंगी और लय पर हर अंग फड़कने लगेगा। आम जनता की दृष्टि में यह क्रिया निरर्थक मालूम होगी, लेकिन जो वह क्रिया कर रहा है वह मजबूर है। वह जानबूझ कर वह क्रिया नहीं करता बल्कि उसके अवयव अपने आप लय पर थिरकने लगते हैं। वाजिद

<sup>1</sup>मुहर्रम में ‘सोज़’ (एक प्रकार की कविता) पढ़ने वाले।



अली शाह की इसी क्रिया को लोगों ने कह दिया था कि वे नाचते थे, हालांकि वे नाचते नहीं थे बल्कि लय के साथ तल्लीन होकर उनके अंगों से ऐसी क्रियाएं होने लगती थीं। जो लोग संगीत के नियमों से परिचित नहीं हैं वे कहने लगे बादशाह नाचते हैं, दरअसल वाजिद अली शाह कभी और किसी ज़माने में नहीं नाचते। उनका नाचना बस यही था और उसकी वजह यह थी कि लयदारी में कोई ऊंचे से ऊंचा गवैया भी बादशाह का मुकाबिला नहीं कर सकता था। मैंने उनके साथ बैठनेवाले विश्वस्त गवैयाओं से सुना है कि बादशाह के पांव का अंगूठा सोते में भी लय पर ही चलता था।

‘नूत जिसे भाव बनाना कहते हैं, यह भी संगीत का ही एक महत्वपूर्ण अंग है। नूत का उद्देश्य यह है कि अपना मंतव्य हाव-भाव और संकेतों से व्यक्त किया जाये जिसे अंग्रेज़ी में ‘मोशन’ कहते हैं। मोशन बड़े-बड़े घुरंधर वक्ताओं और व्याख्यानदाताओं में पाया जाता है लेकिन उनकी कोई निंदा नहीं करता, लेकिन बेचारे वाजिद अली शाह महज़ अपनी लयदारी के कारण बदनाम किये जाते हैं।’

यह जो लखनऊ के संगीत और वाजिद अली शाह के बारे में कौकब मरहूम से हमें मालूम हुआ उससे साफ पता चल सकता है कि लखनऊ ने चाहे उच्च कोटि के संगीत को रिवाज न दिया हो, मगर उसके सुधारने और उसे आमपसंद या लोकप्रिय बनाने का यह शहर बड़ा ज़बरदस्त स्कूल करार पा गया था।

गाज़ीउद्दीन हैदर ही के ज़माने में यहां बड़े-बड़े क़वाल मशहूर थे। छज़्ज़ू खां और गुलाम रसूल खां उस्ताद माने जाते थे। दश्वरी इतना ज़बरदस्त कलाकार था कि पटे का ईजादकर्ता वही माना गया है। बरूशू और सलारी उन दिनों तबला बजाने के उस्ताद माने जाते थे और उनके सामने किसी को तबला छूने की ज़ुरंत न होती थी।

उस आखिरी ज़माने में सादिक अली खां सारे हिंदुस्तान में बड़े उस्ताद माने जाते थे। छोटे और बड़े मुन्ने खां के गाने में ऐसा मज़ा था कि बावजूद इसके कि वह खुद अपनी कला के पंडित थे ऐसे लोगों को भी अपने गानों पर मुग्ध कर लेते थे जो इस कला से अनभिज्ञ थे।

मटिया बुर्ज में जो साज़िदे और गवैया वाजिद अली शाह के दरबार में नौकर थे उन सबको मैंने खुद सुना था। एहमद खां, ताज खां और गुलाम



हुसैन खां उस समय के घुरंघर संगीतकार माने जाते थे। दुल्ली खां जिसने सारे कलकत्ता में अपनी धूम मचा रखी थी और अपने जादूभरे कंठ से हर छोटे-बड़े को मोहित कर लिया था, लखनऊ का ही था और लखनऊ की ही संगीतशाला में उसने संगीत सीखा था। मर्द गवैयाओं के अलावा लखनऊ में बाज रंडियों ने वह कमाल हासिल किया कि बड़े-बड़े गवैया उनके सामने कान पकड़ते थे। जोहरा और मुश्तरी जो कवियत्री भी थीं, गाने में अपना जवाब न रखती थीं। चूने वाली हैदरी को वह नामवरी हासिल हुई कि उसके गले से 'सोज़' सुनने के लिए लोग मुहर्रम के इतिज़ार में दिन गिना करते और मुहर्रम में बाहर के सैकड़ों-हजारों शौकीन लखनऊ आकर हैदरी के इमामबाड़े में घंटों उम्मीदवार बने बैठे रहते कि कब बी हैदरी अपना शोक-गीत शुरू करेंगी।

तबला बजाने में आखिरी दौर का उस्ताद मुहम्मद जी था जिसकी सारे हिंदुस्तान में ख्याति थी। लगभग तीस वर्ष गुजरे होंगे मुझे चौक में एक जंटल-मैन मराठा मिला जो कोट-पतलून पहने था और किसी प्रतिष्ठित पद पर नियुक्त था। मुझसे मिलकर उसने कहा, "मैं लखनऊ में सिर्फ इस शौक में आया हूँ कि यहां के संगीतकारों का कमाल देखूं।" मैंने पूछा, "आप कौन हैं?" कहा, "मैं खानदानी गवैया हूँ और मेरे बाप-दादा शिवाजी के दरबार में गवैया थे। अगरचें अब अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने के बाद मैंने नौकरी करली है। मगर अपने पूर्वजों की कला को भी जानता हूँ।" इत्तिफ़ाक से उस समय एक और साहब आ गये जो लखनऊ की मशहूर गानेवाली मुहम्मदी के यहां आते-जाते थे। बोले, "चलिये, आप मेरे साथ चलिये।" वह मराठे साहब मुझे भी अपने साथ खींच ले गये और हम सब मुहम्मदी के वहां पहुंचे। संयोग से वहां सादिक अली खा भी मौजूद थे और सबने अपना कमाल दिखाया। खुद वह मराठा भी गाया। उसके बाद हम सब चौघराइन के वहां गये जो घर यहां कलाकारों का सबसे बड़ा क्लब समझा जाता है। वहां दोनों मुन्ने खां बुलाये गये। उन्होंने गाकर अपना कमाल दिखाया। आखिर में उस मराठे ने कहा, "मुझे तो सिर्फ तमन्ना यहां लायी है कि मैं एक तराना गाऊँ और मुहम्मद जी मेरे साथ तबला बजा दें।" फ़ौरन मुहम्मदजी बुलवाये गये और मराठे जंटलमैन के गाने और मुहम्मदजी के बजाने में कुल श्रोताओं को बड़ा आनंद आया, सब चकित रह गये और अंत में उस मराठे ने स्वीकार कर लिया कि, "मैं सब



जगह गया हूं मगर मुहम्मदजी से ज्यादा माहिर तबला बजाने वाला आज तक नहीं देखा था।”

लखनऊ में संगीत का ऐसा उत्थान हो चुका था कि दूसरे शहरों के रईसों और धनिकों की अपेक्षा, यहां के धनिकों की रुचि स्वस्थ और अच्छी है, वे कला को भली प्रकार जानते हैं, धुनों, रागों और रागिनियों को पहचानते हैं और दो ही एक तानें सुनकर समझ जाते हैं कि यह गवैया किस पाये का है। मामूली गानेवाले की यहां की संगीत-सभाओं में कोई पूछ नहीं हो सकती। बाजारी लोग और आमतौर से लड़के जो सड़कों और चौराहों पर गाते फिरते हैं वे भी बहुत-सी चीजों को ऐसे सच्चे सुरों में अदा करते हैं कि मालूम होता है कि रागिनी और लय गले में उतरी हुई है। अक्सर शहरों में ज्यादातर लोग ऐसे मिलेंगे जो शेरों को ठीक तरह नहीं पढ़ सकते। इसके विपरीत यहां आपको ऐसा जाहिल ढूंढ़े न मिलेगा जो शेर को वजन में न पढ़ सकता हो। यह बात इसका प्रमाण है कि लयदारी यहां के बच्चे-बच्चे के रगो-रेशे में व्याप गयी है। कभी-कभी किसी बाजारी लड़के को भैरवी, सोहनी, बिहाग या किसी और धुन में ऐसी खूबी से गाते सुना गया है कि सुननेवाले मुग्ध हो गये और बड़े-बड़े गवैयों को उनसे ईर्ष्या होने लगी।

संगीत के सिलसिले में यह भी मुनासिब मालूम होता है कि हम साजों और अन्य वाद्यों का भी जिक्र कर दें।

संगीत में दो चीजें होती हैं—सुर और लय। इन दोनों चीजों में बिगड़ना गाने का अक्षम्य दोष है। लिहाजा इन दोनों की रक्षा के लिए दो ही साजों की जरूरत हुई, सुर पर रहने की मदद के लिए सारंगी और लय पर क्रायम रहने की जरूरत से तबला काम में लाये जाते हैं।

सुरों की सहायता के लिए हिंदुस्तान का पुराना साज वीन थी जिसमें लकड़ी की एक नली के दोनों सिरों पर दो तूबियां लगायी जातीं और उस पर सातों सुरों के सात तार खींच दिये जाते जिनका गाना नली के अंदर से दोनों ओर दौड़कर दोनों तूबियों में गूंजता। मुसलमान अपने साथ रबाब, चंग और सरोद लाये। रबाब शायद अरबी बाजा था जिसने अब्बासियों के शासन-काल में बहुत तरक्की की थी। चंग और सरोद ईरानी वाद्य थे। इनमें से चंग बहुत ही पुराना साज है जिसका सुराग सीरिया, बाबुल, मिस्र और रोम जैसी तमाम जातियों में लगता है। सरोद शुद्धतः फ़ारसी वाद्य था जिसे अब्बासीकाल के



गायकों ने अपनाया और उसे बहुत तरक्की दी। हिंदुस्तान में आने के बाद जब हिंदुओं और मुसलमानों के गीतों में मेलजोल हुआ तो पहले तंबूरा बना जो दरअसल बीन का ही लघु रूप और सिर्फ सुरों को बनाये रखने का काम देता था और केवल बजाने की ही चीज न था। चंद दिन बाद अमीर खुसरो ने सितार की ईजाद की जो वास्तव में बीन और तंबूरा दोनों में एक आसान और आम लोगों को पसंद ईजाद थी। लेकिन बीन हो या तंबूरा या सितार, गले का पूरा साथ कोई न दे सकता था। इसे देखकर मुहम्मद शाह रंगीले के दरबार के जवरदस्त और नामवर गायक मियां सारंग ने सारंगी की ईजाद की जो उन्हीं के नाम से मशहूर हुई। सारंगी ने बीन, तंबूरे और सितार सबको पीछे डाल दिया और नाच-गाने की मंडलियों में उनका ऐसा नाम हुआ कि इन पुराने साजों के बजाने वाले भी नष्ट हो गये। इन्हीं पुराने साजों में यहाँ एक कानून भी था जिसे मुसलमान निश्चित रूप से सीरिया और इराक़ से अपने साथ लाये थे। इसके बजानेवाले भी अब कहीं इक्के दुक्के ही नज़र आते हैं। गरज़ सारंगी ने गाने बजाने की महफ़िलों से इन सबको निकाल दिया और इन पुराने साजों की यह शान रह गयी कि ऊँचे-ऊँचे उस्ताद गवैयाँ में कभी-कभी कोई एक गायक नज़र आ जाता है जिसे बीन या सरोद, रबाव या कानून के बजाने में कमाल हासिल होता है। सितार नवयुवकों के मनोरंजन के लिए रह गया है जिसे वे बिना गायन के बजाते हैं और कभी कोई उसके साथ गाने भी लगता है।

अब रहा तबला। यह अगर्चे लय के लिए बहुत ही ज़रूरी चीज है, मगर इस किस्म की किसी चीज का पता दूसरे देशों की पुरानी जातियों में नहीं था। लड़ाई में तबला (दुंदभि) और चंग बजता, नौबत में नक्कारा बजाया जाता। मगर नाच-गाने के साथ सिवाये हिंदुस्तान के और कहीं इस प्रकार की कोई चीज प्राचीन काल में न थी। सिर्फ एक दफ़ थी जो अरबों में प्रचलित थी और गाने के साथ बजायी जाती थी। यहाँ भी गाने के साथ सबसे पहले दफ़ का रिवाज मालूम होता है जो बीन के साथ बजती और लय को बनाये रखने में मदद देती। उसके बाद पुराने ज़माने में ही मृदंग निकली जो शायद श्रीकृष्णजी के युग में मौजूद थी और उनकी बांसुरी के साथ मृदंग की गमक भी जमना के किनारे ब्रज के जंगल में सुनी जाती थी। मृदंग के बाद तरक्की यह हुई कि परवावज बनी जो उच्च कोटि के संगीत का भली प्रकार साथ दे सकती थी।



अब उसके बाद से ग्राम लोगों में और घर की बैठनेवाली औरतों में ढोल का रिवाज हुआ जो मृदंग और परवावज से निकलकर ग्रामपसंद की चीज हो गयी और संगीत की विशिष्ट मंडलियों के संगीतकारों के लिए तबला ईजाद हुआ जिसमें परवावज के दोनों रख दो अलग-अलग साजों में बंट कर दहना और बायां के नाम से मशहूर हुए। तबला निश्चय ही मुसलमानों के आने के बाद की ईजाद है, लेकिन हमें यह नहीं मालूम कि लयदारी के इन साजों में ऊपर दी गयी तरक्की कब और किसके हाथ से हुई।

## [ 21 ]

संगीत के साथ नृत्य ने भी लखनऊ में एक प्रमुख कला के रूप में बड़ी प्रगति की। नाचने का रिवाज हर जाति में था और प्राचीन से प्राचीन काल में था। मिस्र के फ़िरऔनों के सामने वांकी रसीली औरतें खड़ी होकर साज के साथ नाचा करती थीं। हज़रत मसीह के युग में बप्तिस्मा देनेवाले यूहन्ना का सिर हिरोडिया ने नाचकर ही कटवाया था। मगर हिंदुस्तान में बहुत साफ़ तौर पर मालूम होता है कि गाने की तरह नाचने का भी भक्ति के लिए प्रयोग होता था और यहां नृत्य-कला का विकास हमेशा धर्म के ही माध्यम से हुआ। चुनांचे इस कला के जानने और करनेवाले खास ब्राह्मण थे और उनका केंद्र या तो अयोध्या और बनारस के कत्यक थे या मथुरा और ब्रज के रहसधारी। यह अजीब बात है कि भारत के सभी प्राचीन मंदिरों में अगर्चे सैकड़ों-हज़ारों स्त्रियां देवी-देवताओं की मूर्तियों के सामने रोज़ मुजरा किया करती थीं और जहां बड़े मंदिर थे वहां प्राचीन काल में नर्तकियों का एक बड़ा भारी गिरोह भी मौजूद रहा करता था। लेकिन नृत्य-कला के गुरु हमेशा पुरुषों में हुए और वे ही युवा स्त्रियों को यह कला सिखाया करते थे।

नाचना दरअसल शारीरिक क्रियाओं के नियमन का नाम है। यदि शरीर की इन क्रियाओं के नियमन को अनेक लोगों की क्रियाओं के अनुरूप बनाना हो तो वह ड्रिल या फ़ौजी क़वायद कहलाती है, या योरूप के म्यूज़िक हाल का वह नाच है जो बैलड कहलाता है और अब अक्सर हिंदुस्तान के थियेट्रों में नज़र आ जाया करता है और अगर शारीरिक क्रियाओं के नियमन का संबंध



संगीत की लय और आवाज के आरोह-अवरोह के अनुरूप बनाने से हो तो वह नृत्य कहलाता है। भारत का मूल नृत्य यही है कि शरीर के क्रियाकलाप गीतों और शेरों के उतार-चढ़ाव के अनुरूप बना लिये जायें। यह असली नाच है जो हिंदुस्तान में एक बहुत बड़ी कला बन गयी है। इसकी सैकड़ों गतें और अनेक तोड़े और टुकड़े ईजाद हो गये। उसके बाद नाच में विचारों और भावों को संकेतों के माध्यम से अभिव्यक्त करना भी शामिल कर लिया गया। इसका नतीजा यह हुआ कि कभी गाना नाचने की व्याख्या बन गया। फिर जब सुंदर स्त्रियों का नृत्य लोगों को स्वाभाविक रूप से पसंद आया तो प्रेमिका के से हाव-भाव दिखाना और वैसे ही भाव व्यक्त करना भी इस कला का एक अंग बन गया। लखनऊ के स्कूल ने इन्हीं बातों का खयाल करके स्त्रियों और पुरुषों की नृत्य-मंडली में भेद कर दिया। नज़ाकत के साथ बताना, माशूकों के से नाज़-अंदाज़ दिखाना और हर हरकत में प्रेम-प्रणय का भाव प्रकट करना नर्तकियों की विशेषता रही जो कभी-कभी नीरस होने पर दर्शकों पर बुरा प्रभाव डालती है। इसके विपरीत शरीर की क्रियाओं को लय के अनुरूप बनाने में चलत-फिरत दिखाना और कवियों की-सी आकर्षकता से मनोभाव व्यक्त करना पुरुष नर्तकों के लिए सीमित हो गया। अगर्चे दोनों गिरोह एक-दूसरे की कला का एक हद तक ज़रूर लिहाज़ रखते हैं, मगर फिर भी यह भेद बहुत ही स्पष्ट है।

यह हम पहले ही बता चुके हैं कि अवध और लखनऊ में नृत्यगान मंडलियों और मुजरा करनेवाली वेश्याओं का आकर एकत्र होना नवाब शुजाउद्दौला की ज़माने में अपनी चरम सीमा को पहुँच गया था। उनके अलावा अयोध्या और बनारस के कत्थक जो यहीं या आसपास मौजूद थे दरबार में होने वाली आबभगत देखकर उसी ओर आकृष्ट होने लगे और दोनों के मेलजोल से नृत्य-कला का भरपूर विकास हुआ।

पुरुष नाचनेवालों के यहां दो गिरोह हैं—एक हिंदू कत्थक और रहसधारी और दूसरे मुसलमान कश्मीरी भांड। मगर असली नाचनेवाले कत्थक हैं और मालूम होता है कश्मीरी मंडलियों ने अपनी नक्काली के कमाल में जान डालने के लिए अपने गिरोह में एक नाचनेवाला नौजवान लड़का बढ़ा लिया जो बाल बढ़ाकर औरतों का-सा जूड़ा बांधता है और बहुत ही फुर्ती से नाचकर अपनी चलत-फिरत से महफ़िल में ज़िदादिली और ताज़गी पैदा कर देता है।



हिंदू कथकों में से कोई-न-कोई उस्ताद हर जमाने में यहां मौजूद रहा। ये लोग अपनी कला के संस्थापक महादेवजी, पार्वतीजी और कन्हैयाजी को बताते हैं। गुजाउद्दौला और आसफ़उद्दौला के शासन-काल में खुशी महाराज नाचने का बड़ा ज़बरदस्त उस्ताद था। नवाब सआदत अली खां, शाजीउद्दीन हैदर और नसीरउद्दीन हैदर के दौर में हिलालजी, प्रकाशजी और दयालुजी मशहूर नाचनेवाले थे। मुहम्मद अली शाह के जमाने से वाजिद अली शाह के शासन-काल तक प्रकाशजी के बेटों दुर्गाप्रसाद और ठाकुर प्रसाद के नाच की ख्याति रही। दुर्गाप्रसाद के बारे में कहा जाता है कि नाच में वाजिद अली शाह का उस्ताद था। उसके बाद दुर्गाप्रसाद के बेटों कालका और बंदादीन की शोहरत हुई और करीब सभी लोगों ने मान लिया कि सारे हिंदुस्तान में नाचने का उस्ताद इन दोनों से बढ़कर कोई नहीं है। पुराने उस्ताद किसी खास बात में मशहूर होते थे मगर इन दोनों भाइयों, खासकर बंदादीन ने नृत्य कला के सभी पहलुओं में कमाल दिखाकर अपने आपको हर हैमियत से बड़ा उस्ताद साबित कर दिया और आजकल के अधिकतर प्रसिद्ध नर्तक इन्हीं दोनों भाइयों के शिष्य हैं और इनका घर नृत्य का हिंदुस्तान भर का सबसे बड़ा स्कूल है।

कुछ दिन हुए कालका का देहांत हो गया और सच यह है कि उसके मरने से बंदादीन के नाच का मज़ा जाता रहा। बंदादीन की उम्र इस समय 77 वर्ष की है और अब भी नाच के शौकीन उसका मुज़रा देखने को अपनी ज़िंदगी की एक यादगार खुशी समझते हैं। उसका गत पर नाचना, नाच के उस्तादी तोड़े और टुकड़े असली सूरत में दिखाना, घुंघरू बजाने में ऐसा अधिकार प्रकट करना कि जो घुंघरू चाहे बजाए और उसके बाद हर-हर शब्द और हर-हर चीज़ को बताना ऐसी चीज़ें हैं जो बंदादीन ही पर ख़त्म हो गयी हैं। वह एक-एक चीज़ को सौ-सौ अदाओं, शैलियों, नज़ाकतों और चित्ताकर्षक संकेतों के माध्यम से प्रकट करता है और उसमें ऐसी नाजुकखयाली और नवीनता होती है कि अगर दर्शक जानता न हो तो समझ भी नहीं सकता। ग्रामतौर पर होता यह था कि बंदादीन नृत्य करता और कालका पास खड़े होकर उसकी व्याख्या करता जाता। उसकी व्याख्या से ही लोगों को पता चलता कि बंदादीन अपनी कला में कैसा चमत्कार दिखा रहा है। नाचते समय उसके पांव ज़मीन पर इस नज़ाकत से पड़ते कि मशहूर है कभी-कभी वह तलवार की बाढ़ पर नाचा और मज़ाल क्या जो तलवे में घाव आया हो।



पुरुष नर्तकों का दूसरा गिरोह भांडों का है। उनके मुजरे की शान यह है कि एक तरुण और सुंदर लड़का जिसके बाल स्त्रियों की तरह लंबे होते हैं, रंगीन और तड़क-भड़क के कपड़े पहनकर और पांव में घुंघरू बांधकर नाचता-गाता है। उसके साथ का साज लय में डूबा हुआ और दिलों को उभारनेवाला होता है। उसके नाच में असाधारण चलत-फिरत और शोखी होती है और उसका गाना भी इसी रंग और रुचि के अनुरूप होता है। साज बजाने वालों के अलावा सात-आठ या इससे ज्यादा भांड रहते हैं जो उसके नाच-गाने पर वाहवाह के नारे बुलंद करते, प्रभावित होकर ताल देते और अक्सर असभ्यता के साथ उसके हाव-भाव और मुद्राओं पर हंसानेवाले रिमार्क कसते रहते हैं। और जहां वह लड़का थोड़ी देर गा चुका वे सामने आकर उसकी नकलें करते और चुट-कुलेबाजी और नक्काली का कमाल दिखाते हैं।

लखनऊ में इन लोगों के दो गिरोह हैं—एक कश्मीरी जो कश्मीर से आये हैं और दूसरे खास यहां के जिनका पेशा शुरू में तो कुछ और था मगर अब नक्काली ही उनकी एक विशिष्ट कला बन गयी है।

नक्काली और खासकर नृत्य-गान के साथ नक्काली भारत की बहुत ही प्राचीन कला है जो राजा विक्रमादित्य के दरबार में यानी हज़रत मसीह से पहले बहुत उन्नत थी। लेकिन उस समय उसमें उच्च कोटि के ड्रामे दिखाये जाते थे और सच यह है कि वह बहुत ही सम्य और शिष्ट नक्काली थी। भारत की नीची जातियों के उत्सवों में आज तक यह नियम है कि जब वे लोग खुद ही नाचते-गाते हैं तो उन्हीं के साथ हास्यास्पद नकलें भी करते हैं।

मुसलमानों के ज़माने में मुगल शासन से पहले भांडों और नक्कालों का पता नहीं लगता। मुमकिन है कि हों और उस दौर के इतिहासकारों ने उनको इस योग्य न समझा हो कि उनका उल्लेख किया जाये मगर मुगलों के शासन-काल में भांडों ने विशेष ख्याति प्राप्त कर ली थी। उनका पता औरंगज़ेब के बाद से मिलता है। जब दिल्ली के अमीरों और सुल्तानों को दूसरे के राज्यों पर आक्रमण करने और उन पर विजय पाने के भ्रंशों से छुट्टी मिल गयी थी और वे सिर्फ दरबार सजाने और भोगविलास में जीवन बिताना ही अपना



पैतृक अधिकार समझने लगे थे। मगर दरअसल इन भांडों ने यहां के समाज में अजीब-अजीब काम किये। यही यहां के नेशनल सटायर्स हैं और उन्होंने करीब-करीब वही काम किये जो इंग्लैंड में 'स्पेक्टैटर' और 'टाइटलर' ने किये थे। दिल्ली का सबसे पहला भांड करेला मशहूर है जो मुहम्मद शाह के जमाने में था। किसी बात पर नाराज होकर मुहम्मद शाह ने हुक्म दिया कि भांडों को हमारे मुल्क से निकाल दो। दूसरे दिन बादशाह की सवारी निकली तो ऊपर से ढोल बजने और भांडों के गाने की आवाज आयी। ताज्जुब से सिर उठाकर देखा तो करेला और चंद भांड खजूर के एक पेड़ पर चढ़े हुए ढोल बजा-बजाकर गा रहे थे। सवारी रुकवाकर पूछा, "यह क्या गुस्ताखी है? हमारे हुक्म की तामील क्यों नहीं हुई?" अर्ज किया, "क्लिब्ला-ए-आलम! सारी दुनिया तो जहांपनाह के कब्जे में है, जायें तो कहां? इसलिए ऊपर जाने का इरादा किया, और यही पहली मंज़िल है।" इस जवाब पर बादशाह और सारे मुसाहिब हंस पड़े और उनका कुसूर माफ़ किया गया।

लखनऊ में आने के बाद उन लोगों की कुछ ऐसी क्रूर हुई कि इन मंडलियों का केंद्र लखनऊ ही हो गया। जहां तक मुझे मालूम है फिलहाल दिल्ली में भांड नहीं हैं, और हैं तो बहुत कम और गुमनाम हैं। हां बरेली में पुराने जमाने से भांडों की मंडलियां मौजूद हैं और लखनऊ के अधिकतर डोम-ढाड़ी भी बरेली से आये हैं जिससे मालूम होता है कि रूहेलखंड के पठान भी संगीत और अन्य ललित कलाओं की क्रूर करते थे जिनकी दानशीलता के कारण इन लोगों ने बरेली और मुरादाबाद में अच्छी प्रगति की और वहां से भी ढाड़ी और नक्काल जो इस कला में प्रवीण थे लखनऊ आये और अब लखनऊ ही उनका प्रमुख केंद्र बन गया है।

उनके लतीफ़े, नोक-भोंक के वाक्य और नक्काली के कमाल लखनऊ में मशहूर हैं। नवाब सआदत अली खां के इशारे से उस वक़्त के सबसे बड़े बांके के सामने जो चोट करता हुआ वाक्य एक भांड ने कहा था वह हम इससे पहले ही अपने पाठकों को सुना चुके हैं। उस जमाने की एक यह घटना भी यादगार है कि किसी रईस ने इनाम में दुशाला दिया, मगर वह दुशाला फटा-पुराना था। एक नक्काल ने हाथ में लेकर उसे गौर से देखना शुरू किया और उस पर बहुत ही गहरी नज़रें जमा दीं। दूसरे ने पूछा, "देखते क्या हो?" कहा, "देखता यह हूं कि इस पर कुछ लिखा हुआ है।" पूछा, "आखिर क्या लिखा



है ?” ऐनक निकालकर लगाई और अटक-अटककर बड़ी मुश्किल से पढ़ा, “लाइ-लाहा इल्ललाह<sup>1</sup> ।” पूछा, “बस इतना ही ? मुहम्मद-उर-रसूललिल्लाह<sup>2</sup> नहीं लिखा ?” जवाब दिया, “मुहम्मद-उर-रसूललिल्लाह कैसे लिखा हो यह तो हमारे हज़रत से पहले का है ।”

लखनऊ के एक नवाब साहब ‘गढ़ैया वाले नवाब’ मशहूर थे, इसलिए कि उनके मकान के करीब एक गढ़ैया थी । उन्हीं के यहां किसी समारोह में नृत्य-गान भी हो रहा था । एक भांड घबराया हुआ निकलकर सामने आया और सब साथियों से कहा, “उठो, उठो सम्मान करो ।” सबने कहा, “किसका सम्मान करें ? कोई है भी ?” बोला, “नवाब साहब आते हैं ।” और यह कहकर एक हांडी जो खोली तो एक बड़ा-सा मेंढक उछलकर बीच महफ़िल में बैठ गया और सबसे कहना शुरू किया, “जल्दी उठो, जल्दी उठो ।” साथियों ने कहा, “तुमने पहचाना नहीं ? आप गढ़ैया के नवाब हैं ।”

इन लोगों के बारे में मशहूर था कि जिसके यहां जाकर नाचते उसकी नक़ल जरूर करते और मुमकिन न था कि उस पर चोट न करें । यह भी सच है कि जिस खूबसूरती से उन लोगों ने अमीरों और रईसों को सबक दिये हैं और उनकी शलतियों पर उन्हें आगाह किया है, वह और किसी तरह मुमकिन ही नहीं था । इसी तरह नक़ाली में जिसकी नक़ल करते उसका ऐसा मुकम्मल बहुरूप भरते और ऐसा सच्चा कैरेक्टर दिखाते कि लोग दंग रह जाते । आज-कल अंग्रेज़ों की सोहबत में जिस तरह ‘वाबूज़ इंग्लिश’ का मज़ाक़ उड़ा करता है, उन दिनों कायस्थों की फ़ारसीनिष्ठ उर्दू का उपहास किया जाता था । उनकी नक़ल और ‘दीवानजी का कैरेक्टर’ ये भांड ऐसा बढ़िया दिखाया करते थे कि लोग चकित रह जाते । यहां दूसरा करेला भांड नसीरउद्दीन हैदर के ज़माने तक मौजूद था । उसके बाद सजन, कायम दायम, रजवी, नौशाह, बीबी क़द्र बग़ैरा मशहूर हुए । अली नक़ी खां मय अपनी बीबी के, जिनका बहुत कुछ दौर-दौरा था, कायम की सबील<sup>3</sup> देखने आये जिसे वह खूब सजाता और शर्बत पिलाया करता था । उन प्रतिष्ठित अतिथियों को देखते ही कायम सामने आ गया और हाथ जोड़कर बोला, “खुदा नवाब साहब को सलामत और बेगम

<sup>1</sup> कोई नहीं है अल्लाह के सिवा ।

<sup>2</sup> मुहम्मद अल्लाह के रसूल (पैगंबर) हैं ।

<sup>3</sup> मुहम्मद में शर्बत पिलाने का स्थान ।



साहिबा को कायम रखे ।” इतनी सख्त बात थी, मगर नवाब और बेगम दोनों को इनाम ही देते बनी । कायम का कमाल यह था कि एक बार साढ़े तीन घंटे तक सिर्फ़ तरह-तरह के मुंह बनाता रहा ।

आखिर जमाने में फ़ज़ले हुसैन, खिलौना, बादशाहपसंद आदि मंडलियां बहुत मशहूर थीं । अब भी अलीजान बहुत ग़नीमत है । ये उन मंडलियों के नर्तकों के नाम हैं जिन्होंने नाचने में बड़ी नामवरी हासिल की थी और जवाब न रखते थे ।

मगर लखनऊ की सोसाइटी पर इन सब लोगों से ज्यादा असर डोमनियां का पड़ गया था । सारे क़स्बों और शहरों में शादियों में गानेवाली मीरासनें और गायनें मुद्दत से होती आयी हैं जिनका हुलिया डफ़ालियों की तरह हमेशा एकसा रहा । मगर डोमनियों ने लखनऊ में बहुत तरक्की की । ढोल को छोड़कर उन्होंने रंडियों और मर्दानी मंडलियों की तरह तबला, सारंगी और मजीरे अपनाये । सिर्फ़ गाने की हद से तरक्की करके नाचना शुरू किया और उसी पर संतोष न किया बल्कि भांडों की तरह जनानी महफ़िलों में नक़लें भी करने लगीं । शादी की तमाम रस्मों का वे सबसे बड़ा अंग बन गयीं और दौलतमंद घरानों की बेगमों को ऐसा मोहित कर लिया कि कोई महल और कोई ड्यूटी न थी जिसमें डोमनियों का कोई गिरोह नौकर न हो । उनमें से अधिकतर नाचने-गाने में अपना जवाब नहीं रखती थीं और उन्होंने ऐसे गले पाये थे कि जनानी महफ़िलें मर्दाना महफ़िलों से ज्यादा शानदार और हृदयार्थ दिलकश और आनंदप्रद हो गयीं । खासकर महफ़िलों में उनकी शोखियां और नयी-नयी बातें ऐसी दिलफ़रेब होती थीं कि मर्दों को अक्सर तमन्ना रहती थी कि किसी तरह डोमनियों का मुजरा देखने का मौक़ा मिले, इसलिए कि डोमनियां मर्दाना सोहबतों में गाना-नाचना किसी तरह पसंद न करती थीं । अब भी डोमनियां बहुत बड़ी संख्या में मौजूद हैं और उसी शान पर हैं । मगर उनमें वह कमाल बाक़ी नहीं रहा । जैसी-जैसी नामी लयदार और ग़लेबाज़ डोमनियां लखनऊ में गुज़र गयीं वैसे ग़दये भी कहीं पैदा न हुए होंगे ।



हालांकि नाचने की कला के उस्ताद मर्द ही विशेष रूप से रहे, मगर कुल मिलाकर जितनी तरक्की इसे गाने वाली रंडियों ने दी वह मर्दों से मुमकिन नहीं थी। नाचने की कला औरतों के लिए अधिक अनुकूल भी है। यह कला कुछ हद तक हिंदुस्तान के हर शहर में नज़र आयेगी लेकिन जैसी नाचने-गाने वाली वेश्याएं लखनऊ में पैदा हुईं शायद किसी शहर में न हुई होंगी। आज से चालीस साल पहले लखनऊ की एक मशहूर रंडी 'मुसग्मि वाली गौहर' ने कलकत्ता जाकर शोहरत हासिल की थी। मैंने एक महफ़िल में उसका यह रंग देखा कि पूरे तीन घंटे तक एक ही चीज़ को ऐसी खूबी से बताती रही कि दर्शकगण (जिनमें मटिया बुर्ज के सभी ढाड़ो और प्रतिष्ठित लोग उपस्थित थे) शुरू से आखिर तक स्तंभित बैठे रहे और कोई बच्चा भी न था जो उसमें पूरी तरह तल्लीन न हो। जोहरा और मुश्तरी कवियत्रियां और गायिकाएं ही नहीं उच्च कोटि की नर्तकियां भी थीं। जद्द ने एक मुद्दत तक ज़माने भर को अपने नृत्य और गायन पर मोहित रखा है।

यहां की वेश्याएं आमतौर पर तीन जातियों की थीं : एक तो कंचनियां जो असली रंडियां थीं और उनका पेशा भी आमतौर पर सतीत्व बेचना था। दिल्ली और पंजाब उनके मूल स्थान थे जहां से वे गुजाउदौला के समय से ही आनी शुरू हो गयीं। शहर की नामी वेश्याएं अधिकतर इसी जाति की हैं। दूसरी चूनेवालियां थीं जिनका असली पेशा चूना बेचना था मगर बाद में बाज़ारी औरतों के गिरोह में शामिल हो गयीं और अंत में जाकर उन्हें बड़ी ख्याति मिली। चूनेवाली हैदर जिसका गला मशहूर था और समझा जाता था कि उसका-सा गला किसी ने पाया ही नहीं, इसी जाति की थी और अपनी बिरादरी की रंडियों का बड़ा गिरोह रखती थी। तीसरी नागरानियां थीं। तीनों वे बाज़ारी स्त्रियां हैं जिन्होंने अपने गिरोह कायम कर लिये हैं और बिरादरी रखती हैं वरना बहुत-सी और क्रोमों की औरतें भी आवागमि में पड़ने के बाद इसी गिरोह में शामिल हो जाती हैं।

गर्वियों और नाचने वालों के बाद यहां इसी प्रकार का एक और गिरोह भी है जिसका विकास लखनऊ में बहुत हुआ और यदि इसे लखनऊ की ही



विशेषता कहा जाये तो शायद ग़लत न होगा। वे रहसवाले हैं। रहस खास मथुरा और ब्रज की कला है। वहीं के रहसधारियों ने आ-आकर लखनऊ को इसका शौक़ दिलाया।

वाजिद अली शाह को जब रहस पसंद आया तो उन्होंने अपनी रुचि और अपने काल्पनिक प्लॉट का एक नया रहस तैयार किया। उसे देखते ही जनता में इस बात का खास शौक़ पैदा हुआ कि प्रेमाख्यान जो उन दिनों परियों के प्रेम और सौंदर्य से संबद्ध थे व्यावहारिक रूप में दिखाये जायें। पब्लिक का यह रुझान देखकर मियाँ 'अमानत' ने, जो शब्दालंकार के प्रयोग में एक प्रसिद्ध कवि थे, अपनी 'इंदर सभा' की रचना की जिसमें हिंदू पौराणिक कथाओं में मुसलमानों की फ़ारसी रुचि के समन्वय का पहला नमूना नज़र आया।

यह 'इंदर सभा' जैसे ही शहर में दिखाई गयी हर शख्स उसका दीवाना हो गया। यकायक बीसियों सभाएं शहर में रची गयीं और देखते-ही-देखते उनका ऐसा रिवाज हुआ कि गवैयों और नाचने वाली वेश्याओं का बाज़ार कुछ दिन के लिए ठंडा पड़ गया। अब 'अमानत' के सिवाय और बहूत से लोगों ने नयी सभाएं रचनी शुरू कीं जिनमें उर्दू शाहरी चाहे विगड़ती हो, मगर जबान मंजती और पूरब की देहाती और शिल्पियों की आवादी में फैलती थी। इस रुचि ने ड्रामे और थियेटर की मज़बूत बुनियाद डाल दी थी और अगर कुछ दिन और शाही का दौर रहता तो हिंदुस्तानी नाटक एक खास रूप धारण कर लेता जो बिल्कुल अछूता और एक खास रंग में डूबा हुआ होता।

मगर यकायक सभ्य समाज को, जिसमें पुराना संगीत जड़ जमा चुका था, इन खेलों में अश्लीलता नज़र आयी। संगीत-कला के शौक़ ने सहृदयों को फिर गवैयों और मुजरा करने वाली मंडलियों की ओर आकृष्ट कर दिया और ये चीज़ें जो नाटक की शान रखती थीं आम जनता और बाज़ारी लोगों तक ही सीमित होकर रह गयीं। मगर पुरानी रुचि ने शहर में इस रुचि को व्यावहारिक रूप में दिखानेवाला एक खास गिरोह पैदा कर दिया जिन्हें आज की शब्दावली में ऐक्टर कहा जाये तो ज्यादा मुनासिब होगा। हमारे ये ऐक्टर पहले तो सभ्य समाज की सहृदयता के कारण उर्दू भाषा का विकास करते जाते थे, लेकिन अब चूँकि उनकी गिनती निम्न वर्ग के बाज़ारी लोगों में की जाती है इसलिए वह शिष्ट भाषा छूट गयी। बाज़ारी भाषा में आज भी ये लोग बीसियों तरह के पफ़्रिमैंस दिखाते हैं।



हमारे इन ऐक्टरों के अश्लील हो जाने का सबसे बड़ा कारण यह था कि बंबई के पारसियों ने अंग्रेजी ढंग के थियेटर खड़े किये जिनमें सच यह है कि न तो संगीत-कला ही थी और न सही ऐक्टिंग ही, मगर उनकी सफ़ाई, व्यवस्था, तिलिस्म-प्रदर्शन और उनके तड़क-भड़क वाले पर्दों ने हमारे राष्ट्रीय नाटक का, जो अभी बच्चे की तरह पालने में ही था, गला घोट दिया। उच्च वर्ग के लोग शानदार नाटकों पर मोहित होकर स्वस्थ रुचि को भूल गये।

सच यह है कि बंबई के थियेटरों ने भारतीय ललित कलाओं में नृत्य और गायन को बहुत नुक्सान पहुंचाया। सबसे पहले संगीत को तबाह किया और ऐसे-ऐसे अनियमित गानों को अपनाकर बाजारों में फैला दिया जिनसे बढ़कर बकवास कोई चीज़ हो ही नहीं सकती। उसके बाद उसने हमारी नृत्यकला को जो बहुत ही उच्च कोटि की कला थी, मिटाना चाहा और अपनी स्टेज पर नाच के नाम से योरुप के ड्रिल को रिवाज दिया जिससे चंद लड़के अपना क्रम और वेशभूषा बदलकर दिलचस्पी पैदा कर दिया करते हैं। लेकिन रहस वालों का संगीत और ऐक्ट अगर्चे दोनों निम्न कोटि के हैं मगर देशी रंग में डूबे हैं और उनकी रुचि राष्ट्रीय है। उन्हें तो छोड़ने की नहीं बल्कि उनमें सुधार की आवश्यकता है।

## [ 24 ]

संगीत के ही संदर्भ में 'सोज़ख़्तानी' का उल्लेख भी जरूरी है। हालांकि इस नयी धार्मिक कला को संगीत के नियमों के अनुसार कला में शामिल करना अनुचित है, लेकिन मुश्किल यह है कि सोज़ख़्तानी एक विशेष प्रकार का संगीत ही है। मुहर्रम में हज़रत इमाम हुसैन की याद ताज़ा करना हिंदुस्तान में खासकर शीअों से शुरू हुआ, विशेषतः उस समय से जबकि इसना अशरी मजहब ईरानी का राष्ट्रीय धर्म बना और वहां के लोग आ-आकर हिंदुस्तानी दरबार से संपर्क स्थापित करने लगे। फिर भी दिल्ली में चूँकि शाही खानदान का मजहब सुन्नी था इसलिए वे खास चीज़ें जिनका संबंध विशेषकर शीअों की संस्कृति से था, यहां विकसित न हो सकीं। इसलिए इन कलाओं को प्रश्रय लखनऊ शहर और यहां के पुराने शीआ दरबार में ही मिला।



जिस तरह धार्मिक हस्तक्षेप के कारण शाइरी में मसियागोई और बिना गाये कविता पढ़ने की परिपाटी चल पड़ी उसी तरह संगीत में सोज़ख़्वानी का जन्म हुआ। फिर इन दोनों कलाओं का ऐसा विकास हुआ कि ये भी निश्चित कलाएं बन गयीं और ऐसी कलाएं जो शुरू से आखिर तक लखनऊ में ही विशेष रूप से प्रचलित रहीं। तहतुललफ़ख़्वानी (बिना गाये पढ़ना) मसियों का गंभीर स्वर में और सहज भाव से इस तरह पढ़ना और बता-बता के सुनाना है जिस तरह शाइर मुशाइरे में अपनी गज़ल सुनाता है और सोज़ख़्वां उनको पुरसोज़ गीत के साथ सुनाता है।

असली और पुरानी मसियाख़्वानी सोज़ख़्वानी ही थी। यानी मसिये मजलिसों में हमेशा गानों के साथ सुनाये जाते थे और उनका रिवाज दिल्ली ही नहीं, हिंदुस्तान के उन तमाम शहरों में था जिनमें शीआ लोग आबाद थे। मद्रास और दक्खन तक में जोर-शोर से इस किस्म की मसियाख़्वांनी होती थी और डेढ़ सौ बरस के लिखे हुए मसिये आज तक मौजूद हैं। मसियों को शाइरी के शेर पढ़ने के लहजे में अदा करना खास लखनऊ की ईजाद है और उसमें मीर अनीस और मिर्ज़ा दबीर वगैरा ने कमाल दिखाये उनका जिक्र हम शाइरी के सिलसिले में कर चुके हैं।

सोज़ख़्वानी अग्रचर्च पहले से थी और हर जगह थी मगर उसमें भी लखनऊ के सोज़ख़्वानों ने ऐसे-ऐसे कमाल दिखाये कि इस कला को भी अपनी ही विशेषता बना लिया। सारे हिंदुस्तान की पुरानी सोज़ख़्वानी को इतना उन्नत कर दिया कि पेशेवर गवैयों का बाज़ार भी सोज़ख़्वानों के आगे ठंडा पड़ गया।

लखनऊ में सोज़ख़्वां दूसरे कलाकारों की तरह नवाब शुजाउद्दौला के साथ या उनके शासन-काल में आये। फ़ौज़ाबाद के इतिहास में लिखा है कि शुजा-उद्दौला की बीबी बहू बेगम साहिबा के महल में मजलिसें होतीं और जवाहर अली खां ख्वाजासरा जो उनकी ड्यूटी और सारे इलाक़े का मुख्तार था मसियाख़्वानों के मसिये सुना करता। मगर उस वक्त तक यहां की सोज़ख़्वानी वही थी जो हर जगह आम थी।

बाज़ लोग कहते हैं कि ख्वाजा हसन मौदूदी से इस कला का आरंभ हुआ। वह 'नरमात-उल-आसफ़िया' के लेखक के उस्ताद थे और अग्रचर्च पेशेवर संगीत-कार न थे लेकिन फिर भी संगीत कला में ऐसा



कमाल<sup>1</sup> रखते थे कि दूर-दूर तक कहीं उनका जवाब न था। अगर्चे वह मजहब से मुन्नी थे, मगर उन्होंने संगीत की खास-खसा धुनें बनाकर अपने शागिदों को बतायीं और इस कला ने एक नियमित रूप धारण कर लिया। उसके बाद जब सिडे हैदरी खां का जमाना आया तो उनका यह नियम था कि मुहर्रम में अपनी रुचि के अनुसार धुनों में मसियाख्वानी किया करते। चूंकि वह बहुत बड़े और नामी गवैये थे और दरबार कद्रदान था, इसलिए उन्हें इस कोशिश में खास कामयाबी हासिल हुई और पता लग गया कि अगर तरक्की दी जाये तो यह कला अलग से और एक खास शान पैदा कर सकती है। संगीत की हजारों धुनों में से वे धुनें चुनी गयीं जो शोक-संताप की अभिव्यक्ति और बैन के लिए मुनासिब हों और फिर उन्हें सैकड़ों सोजों के साथ कायम किया गया। आखिर में हैदरी खां ने अपनी सोजख्वानी सैयद मीर अली साहब को सिखा दी जो एक शरीफ सैयद थे और उन्होंने मजहबी जोश में इस कला का बहुत अधिक विकास किया और अपने जमाने में इतने बड़े गवैये मशहूर हुए कि नवाब सआदत अली खां के जमाने में उन्होंने किसी बात पर नाराज होकर लखनऊ से चले जाने का इरादा किया तो इंशा अल्लाह खां ने अपने विशिष्ट और प्रभावशाली कवि-स्वर और उपहास के रूप में सिकफारिश की और नवाब ने तसल्ली देकर कद्रदानी के साथ उन्हें रोका।

उसके बाद तानसेन के खानदान का एक गवैया नासिर खां लखनऊ में आया और चमका। यहां सोजख्वानी की तरफ लोगों की दिलचस्पी देखी तो उसने भी अपने संगीत की दक्षता मसियाख्वानी में लगाकर लोकप्रियता और

<sup>1</sup> संगीत में उनकी दक्षता का अंदाजा इससे हो सकता है कि मराठों की लूटमार के जमाने में वह पालकी में सवार लखनऊ से इटावे की तरफ जा रहे थे। रास्ते में किसी गांव में गुजर हुआ और सुना गया कि उस गांव पर मराठे हमला करने वाले हैं। कहारों ने जो बहुत दूर से उन्हें लिये चले आते थे यक्रायक पालकी रख दी और कहा हममें अब आगे चलने की ताकत नहीं है। हजार कहा गया कि यह मुकाम खतरनाक है, मगर उन्होंने एक न सुनी। ख्वाजा साहब ने ज़िदगी से मायूस होकर बजू किया और अस्त्र की नमाज पढ़ी और बैठे-बैठे कुछ अलापना शुरू किया और उसका कहारों पर ऐसा असर पड़ा कि ताजादम हो गये और उन्हें सुरक्षित स्थान तक पहुंचा दिया।



ख्याति प्राप्त की और अपने पड़ोस की एक गरीब और विधवा सैदानी (सैयद वंश की स्त्री) पर तरस खाकर उसके दो बच्चों—मीर अली हसन और मीर बंदा हसन—को सोज़ख़वानी की तालीम दी। उन दोनों का कमाल तमाम पुराने उस्तादों से बढ़ गया और वे सोज़ख़वानी में बेमिसाल साबित हुए। उन्होंने सोज़ख़वानी को एक ऊँचे दर्जे का राग बना दिया है, यहां तक कि संगीत के असली रागों के बोल तो अक्सर गवैयों तक को याद नहीं। मगर ऐसे सोज़ अक्सर सोज़ख़वानों को याद हैं जो रागों के बोल हैं जिनको सुनकर असली राग और सच्ची धुनें स्पष्ट रूप से समझी जा सकती हैं।

इन्हीं बुजुर्गों की वजह से लखनऊ में सोज़ख़वानी की कला गवैयों से निकल कर शरीफों में आ गयी और बहुत बड़ी संख्या में ऐसे लोग पैदा होने लगे जो डोम-ढाड़ी नहीं बल्कि शरीफ लोग हैं, मगर सोज़ख़वानी में ऐसा कमाल रखते हैं कि गवैयों का बाज़ार उनके सामने ठंडा पड़ गया है।

फ़िलहाल मंभू साहब और दो-एक और बुजुर्ग सोज़ख़वानी में ऐसा कमाल और ऐसी शोहरत रखते हैं कि हिंदुस्तान भर में हर जगह उनके स्वागत में शौक की आंखें बिछाई जाती हैं और दूसरे क़स्बों के लोगों की क़द्रदानी मुहर्रम के महीने और मातम के खास दिनों में हमेशा लखनऊ के इन्हीं शौक़ीनों के हाथ से छीन लिया करती है।

इस रुचि का सबसे ज्यादा असर लखनऊ की औरतों पर पड़ा। सोज़ों की प्रभावशाली और दिल को टूक-टूक कर देने वाली धुनें मीर अली हसन और मीर बंदा हसन के गले से निकलते ही सैकड़ों शरीफ़ मर्दों के गले में उतरती और उनके ज़रिये से हज़ारों शरीफ़ शीआ खानदानों की औरतों के मधुर गलों में उतर गयीं। औरतों को स्वभावतः गाने-बजाने का ज्यादा शौक़ होता है और उनके गले गीतों के लिए आमतौर पर ज्यादा मुनासिब हुआ करते हैं। यह नियमबद्ध मसियाख़वानी औरतों में पहुंची तो उसमें बड़ी चित्ता-कर्षकता आ गयी और चंद रोज़ में शीआ ही नहीं निचले वर्ग की सुन्नी औरतों में भी मसियाख़वानी का शौक़ पैदा हो गया और यह हालत हो गयी कि मुहर्रम में और अधिकतर मज़हबी इबादत के समय लखनऊ के गलीकूचों में तमाम घरों से पुरसोज़ तानों और दिलकश गीतों की आवाज़ें उठती हैं और कोई जगह नहीं होती जहां यह समा न बंधा हो। आप जिस गली में खड़े होकर सुनने लगिये ऐसी दिलकश आवाज़ें और ऐसा बेसुघ करने वाला गीत



सुनने में आ जायेगा जिसे आप ज़िदगी भर नहीं भूल सकते। हिंदुओं और वाज खास-खास सुन्नियों के मकानों में तो खामोशी होती है वाक़ी जिधर कान लगाइये मसियाख़वानी के जोर-शोर वाले गीतों की ही आवाज़ें आती होती हैं।

ताज़ियादारी चूँकि मसियाख़वानी का बहाना है, इसलिए सुन्नी और शीआ दोनों गिरोहों के घरों में मसियाख़वानी के शौक में ताज़ियादारी होने लगी और सुन्नी मुसलमान ही नहीं हज़ारों हिंदू भी ताज़ियादारी अपना कर मसियाख़वानी करने लगे। इससे मालूम होता है कि लखनऊ में ताज़ियादारी के बहुत ज़्यादा बढ़ने और विकसित होने का मुख्य कारण मसियाख़वानी है।

लखनऊ में कुछ शरीफ़, शिष्ट और सुशिक्षित महिलाएं ऐसी अच्छी सोज़ख़ा हैं कि अगर पर्दे की रोक न होती तो मर्द सोज़ख़ा उनके मुकाबिले पर हरगिज़ न बढ़ सकते। इस बात को बहुत मुद्त हुई कि एक साल चेहलुम<sup>1</sup> के मौक़े पर चंद दोस्तों के साथ मैं तालकटोरा की कर्बला में गया था और वहीं एक शिविर में मैंने रात बिताई थी। दो बजे रात को यकायक आंख खुली तो एक ऐसे मनोहर गीत की आवाज़ कानों में आयी जिसने सब दोस्तों को जगाकर बेचैन कर दिया। हम सब उस आवाज़ को सुनकर उत्सुकतावश शिविर से बाहर निकले और देखा कि रात का सन्नाटा है, चांदनी खेत किए हुए है और उसमें औरतों का एक झुंड ताज़िया लिये हुए आ रहा है। सबके बाल खुले हुए और सिर नंगे हैं। बीच में एक औरत हाथ में शमा लिये है। उसकी रौशनी में एक लंबे क्रद की खूबसूरत औरत कुछ पन्नों में से पढ़-पढ़कर मसियाख़वानी कर रही है और दूसरी कई औरतें उसके साथ गलेबाजी कर रही हैं। उस सन्नाटे उस वक़्त, उस चांदनी, उन नंगेसिर सुंदरियों और उस पुरसोज़ गीत ने जो समां पैदा कर रखा था उसे मैं बयान नहीं कर सकता। नाज़ुक अदाओं का यह समूह जैसे ही कर्बला के फाटक में दाखिल हुआ उस लंबी हुसीन औरत ने परज की धुन में यह मसिया शुरू किया :

जब कारवान-ए-शहर मदीना लुटा हुआ  
पहुँचा करीब शाम के क़दी बना हुआ  
नेज़े पे सर हुसैन का आगे धरा हुआ  
और पीछे पीछे बीसियों का सर खुला हुआ

इस मसिये ने, जो स्थिति के सर्वथा अनुकूल था, यकायक ऐसा समां बांध

<sup>1</sup> कर्बला के शहीदों का चालीसवां।



दिया कि शुब्हा होता था कि इन शेरों के जरिये से वह महिला कर्बला की घटना का चित्रण कर रही है या खुद अपने उस मातमी जुलूस और कर्बला में दाखिले का वर्णन कर रही है ।

असल यह है कि लखनऊ की औरतों और उनके साथ मर्दों पर भी सोज़ख्वानी और ताजियादारी ने जो प्रभाव डाला है और किसी चोज़ ने नहीं डाला । इसकी पहली वरकत तो यह है कि तमाम औरतें बहुत अच्छी गलेबाज़ हो गयीं और संगीत के नियमों के अनुसार मसियाख्वानी करने लगीं, दूसरी वरकत यह है कि सारे शहरवालों को चाहे मर्द हों या औरत संगीत के साथ दिलचस्पी हो गयी । यह जो लखनऊ के गली-कूचों में देखा जाता है कि निचले वर्ग के लड़के और बाज़ारी लोग अक्सर चलते-चलते गाने लगते हैं और गाने में ऐसी गलेबाज़ी करते और मुश्किल से मुश्किल धुनों को इस आसानी से उड़ा लेते हैं कि बाहर के लोगों को आश्चर्य होता है, इसका असल कारण मसियाख्वानी और सोज़ख्वानी की रचि है और तारीफ़ की बात यह है कि सोज़ख्वानी का विकास अग्रचें ग्राम जनता और निचले वर्ग के जाहिलों में हुआ फिर भी वह नियमबद्ध रही और संगीत के उचित स्तर से कभी नीचे नहीं गिरने पायी । जबकि दूसरी अनेक कलाएं जनता में पहुंचते ही नियमविहीन और खराब हो जाया करती हैं ।

सोज़ख्वानी को गो कि शीआ लोग सबाब (पुण्य) का कारण समझते हैं, मगर शीआ विद्वानों ने इस वक्त तक इसके जायज़ होने का फ़तवा नहीं दिया है । वे शरअ (धर्मशास्त्र) की पाबंदी में सख्ती करते हैं । अब तक विद्वानों और शिष्ट समुदाय की मजलिसों में सिर्फ़ हदीसख्वानी या तहतुललफ़ख़ख्वानी होती है और ग्राम जनता की जिन मजलिसों में धर्मशास्त्री शरीक होते हैं उनमें भी उनके सामने सोज़ख्वानी नहीं होती । लेकिन इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि सोज़ख्वानी ने अपनी लोकप्रियता के कारण विद्वानों के फ़तवों पर पूरी तरह विजय पा ली है । मुश्किल यह है कि सुन्नियों के हदीस के विद्वानों और सूफ़ी लोगों के लिए तो संगीत जायज़ है मगर इसना अशरी के धर्मशास्त्र में इसकी इतनी गुंजाइश नहीं वरना इस कला को अब तक धर्म की दृष्टि से भी जायज़ करार दे दिया गया होता ।



कलाकारों, संगीतशास्त्र और उससे निकली हुई कलाओं के बारे में हम बहुत कुछ लिख चुके हैं। लेकिन इसी सिलसिले में बाजारी बाजों का हाल बयान करना बाकी है। लिहाजा आज हम यह बताते हैं कि इन बाजों का लखनऊ पर क्या असर पड़ा और इसी पर हम संगीत की वहस समाप्त करेंगे। बाजों के जोड़ जो शादी वगैरा के जुलूसों के साथ जाते हैं छह तरह के हैं : (1) ढोल-ताशे, (2) रौशन चौकी, (3) नौबत, (4) तुरही और करना (शंख), (5) डंके और बिगुल, (6) अंग्रेजी बाजा जो आंगन बाजा कहलाता है और रोज-बरोज ज्यादा रिवाज पाता जाता है।

पहला यानी ढोल-ताशा भारत का प्राचीन राष्ट्रीय वाद्य है जिसका अंग्रेज इंडियन 'टाम टाम' नाम रखकर अपने अज्ञान के कारण उसका उपहास करते हैं। 1896 ई० में जब इंग्लैंड के प्रदर्शनी स्थल 'अर्ल्स कोर्ट' में भारतीय संस्कृति और यहां की कलाओं तथा शिल्पों के सैकड़ों नमूने दिखाये गये थे तो वहां इस बाजे का नमूना मैंने खुद अपनी आंखों से यह देखा कि एक बहुत ही काले रंग का व्यक्ति जिसके पिंडे पर सिवा एक मैले लंगोटे के कुछ न था, आम लोगों में नंगा आकर खड़ा हो जाता, उसके गले में एक ढोल होता और वह बहुत ही असभ्य ढंग से बिना किसी लय या क्रम के पागलों की तरह सर हिला-हिला कर जोर-जोर से ढोल को लकड़ी से पीटने लगता और कहा जाता कि यही हिंदुस्तान का बाजा 'टाम टाम' है। मगर यह उन लोगों की अज्ञानता और बुद्धिहीनता है। यह बहुत ही मूकम्मल बाजा है और इसका बजाना एक निश्चित कला है जिसमें उच्च कोटि की लय रखी गयी है।

इसमें लखनऊ में आमतौर पर दो और कभी तीन-तीन चार-चार बड़े ढोल होते हैं और कम-से-कम एक वरना दो-तीन ताशे वाले होते हैं और कम से कम एक झांझवाला होता है। झांझ का पता ईरान वगैरा में भी चलता है और ताशे मिस्र वगैरा में भी प्रचलित हैं। मगर ढोल शुद्ध रूप से भारत का बाजा है। लखनऊ में यह बाजा फौजों और बेफ़िक्रों के साथ दिल्ली से आया। मगर दिल्ली में इसके जोड़ में सिर्फ ढोल और झांझें थीं, ताशे लखनऊ में बढ़ाये गये और रिवाज पाते ही इतने जरूरी और महत्वपूर्ण नजर आये



कि मालूम हुआ जैसे उनसे इस बाजे में जान पड़ गयी। अग्रचर्चे ज्यादातर शहरों में सिर्फ़ ढोल और भाँभें ही होती हैं मगर लखनऊ में ताशा अभिन्न अंग बन गये हैं और बिना उनके ढोल कहीं बजते ही नहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि इस बाजे में सबसे ज्यादा कमाल वही शख्स दिखाता है जो ताशा बजाता है। वही लय कायम करता है और लय में उसका अनुसरण ढोलवाले करते हैं। ताशा बजाने की यह सिफ़त है कि इतनी जल्दी-जल्दी चोटें पड़ें कि एक चोट और दूसरी चोट में फ़र्क़ न किया जा सके। और इन लगातार चोटों से और उतार-चढ़ाव और उनसे लय और गीत पैदा हो। लखनऊ में इस बाजे के बजाने वाले ऐसे-ऐसे पड़े हैं कि उनके सामने किसी शहर के ढोल बजाने वाले नहीं टिक सकते।

लखनऊ में चेहलूम के बाद एक ताज़िया उठता है जो बरूशू का ताज़िया कहलाता है। अब तो उसके जुलूस ने शीश्रों-मुन्नियों के भगड़े की वजह से दूसरी सूरत इस्तिथार कर ली है, मगर दस-बारह बरस पहले इसकी यह शान थी कि चूँकि यह शाही खानदान के एक पुराने प्रेमी की यादगार था और अब इसके उठाने वाले ग़रीब लोग थे इसलिए हर क्रिस्म के बाजों के बेनज़ीर उस्ताद सवाब समझकर इसमें शरीक होते और सवाब के बहाने अपनी-अपनी कलाओं का चमत्कार शहरवालों को दिखाते और इसी वजह से उनका नियम था कि जहाँ खड़े हो गये क़द्रदानों ने घेर लिया और वे घंटों उसी जगह खड़े इस बात का दावा कर रहे हैं कि कोई है जो हमारे सामने आकर बजाए ? बड़े-बड़े उस्ताद ग़वैये उनकी दाद देते और वे जोश में आ-आकर और ज्यादा खूबी से बजाते। खासतौर से ये ताशा बजाने वाले बड़े उस्ताद ढाड़ी होते जो संगीत में प्रवीण होते और गतों में नवीनता लाते थे।

ढोल-ताशा बजाने की कला कितनी महत्वपूर्ण और नियमबद्ध थी इसका सबूत इससे बढ़कर क्या होगा कि अब्दुल के आखिरी शासक वाजिद अली शाह को जो संगीत के माने हुए आचार्य थे, मैंने कलकत्ता में अपनी आंख से देखा कि मुहर्रम की सातवीं तारीख को जब मेहंदी का जुलूस उनकी आसमानी कोठी से रवाना होता तो वे खुद गले में ताशा डालकर बजाते। बड़े-बड़े ग़वैयों के गलों में बड़ी-बड़ी ढोलकें होतीं, दरबार के सम्मानित लोग आस-पास खड़े होते और वे ऐसी खूबी से ताशा बजाते कि अनजान सुनने वाले भी दंग रह जाते। और ग़वैयों की बाह-बाह तो हमारे मुशाइरों के हग़ामों को



भी मात कर देती। इसी तरह मैंने उन्हें कई बार ढोल बजाते भी देखा।

बहरहाल हिंदुस्तान के इस सबसे पुराने बाजे में भी लखनऊ की सोसा-इटी ने कुछ परिवर्तन किया और ऐसा परिवर्तन किया जो बहुत ही लोकप्रिय भी हुआ और जरूरी भी था। मगर कोई शर्त्स आकर यहां के ताशे बजाने वालों का कमाल देखे तो उसे मालूम होगा कि वह परिवर्तन कितना मुनासिब है और उसने ढोल और भांभ को कितना महत्व प्रदान किया है।

दूसरा जोड़ रौशन चौकी का है। रौशन चौकी बहुत पुराना बाजा है और अगर सारे नहीं तो उसके प्रमुख अंगों को मुसलमान अपने साथ लाये क्योंकि शहनाई उसका एक महत्वपूर्ण अंग है और उसके बारे में मशहूर है कि शेख-उर्रईस इब्ने-सीना की ईजाद है। यह बिल्कुल इंसान के गले की तरह है। जितने सच्चे सुर गले-बाजी के ऊंचे कमाल के साथ शहनाई से निकलते हैं और किसी बाजे से नहीं निकल सकते। रौशन चौकी में कम-से-कम दो शहनाई-वादक होते हैं और एक तबलची जिसकी कमर में छोटे-छोटे दो तबले बंधे होते हैं। तबले लय को कायम रखते हैं। एक शहनाईवादक असली सुर कायम रखने के लिए सुर देता है और एक आवाज की चलत-फिरत और गलेबाजी का अभ्यास दिखाता है और यही असली शर्त्स होता है जो गजलों या ठुमरियों वगैरा को अजब दिलकश सुरों में अदा करता है।

रौशन चौकी हिंदुस्तान का खास दरबारी बाजा था जो बादशाहों और बड़े-बड़े अमीरों के खाने के वक्त बजा करती थी। रात को आराम के वक्त रौशन चौकी शाही महल के गिर्द गश्त किया करती और उसका गाना दूर से बहुत ही आनंद देता था। मुगल शासन में यह बहुत ही महत्वपूर्ण और आनंद-प्रद बाजा समझी जाती थी और दिल्ली में तो खुदा जाने कब से इसका रिवाज था। निश्चय ही लखनऊ में रौशन चौकी बजाने वाले दिल्ली से आये होंगे मगर इस कला में प्रवीण लखनऊ के आसपास के इलाके में भी बहुत समय से मौजूद थे। बनारस के अधिकतर मंदिरों में आज तक सुबह के समय रौशन चौकी बजा करती है और तड़के मुंह-अंधेरे कहीं करीब से जाकर सुनिये तो बहुत ही आनंद आता है।

लखनऊ में आमतौर पर शादी के जुलूसों में रौशन चौकी बजाने वाले दूल्हा के करीब रहते हैं। खासकर हिंदुओं की बरातों में रास्ते भर कदम-कदम पर उन्हें इनाम दिया जाता है। रौशन चौकी बजाने वाले मेरे खयाल और



तजुर्वे में लखनऊ से अच्छे आजकल कहीं न मिलेंगे। जितनी लयदारी और हर चीज को दिलकश धुनों में सच्चे सुरों के साथ लखनऊ वाले अदा कर लेते हैं और किसी जगह के रौशन चौकी बजाने वाले नहीं अदा कर सकते। उनके कमाल और कला में दक्षता का अनुमान उस समय हो सकता है जब कोई शौक से सुने और दाद देता जाये। इसी वरूशू के ताजिये में, जिसका जिक्र आ चुका है, रौशन चौकी बजाने वाले भी अपना कमाल दिखाते और इस तरह जान तोड़कर कोशिश करते थे कि फिर उनके बाद और किसी की शहनाई में मजा न आता।

तीसरा जोड़ नौबत का है। यह हमारे पुराने बाद्यों में सबसे ज्यादा शानदार बंड है। इसमें दो-तीन शहनाईवादक होते हैं, एक नक्कारा बजाने वाला होता है जो दो बहुत बड़े-बड़े शानदार नक्कारों को अपने आगे भुकाये रखकर दोनों को एक साथ लकड़ी से बजाता है। इन नक्कारों की आवाज बहुत बड़ी होती है और आसपास के वातावरण में दूर तक गूंजती है और साथ ही एक भांभ वाला भी रहता है।

नौबत भी ऐतिहासिक बाजा है और वैभव-प्रदर्शन के लिए मुद्तों काम में लाया जाता रहा है। इस्लाम के इतिहास में हमें दमिश्क, बगदाद और मिस्र के दरबारों में भी इसका पता लगता है। बगदाद में अब्बासी शासन के मध्यकाल में हर सामंत की ड्यौड़ी पर नौबत बजा करती थी और आदर-सम्मान का प्रतीक समझी जाती थी। ऐसा मालूम होता है कि मुसलमानों के साथ ही यह हिंदुस्तान में आयी। यह भी मुमकिन है कि हिंदुस्तान में पहले से मौजूद हो और गो कि शहनाई न थी मगर खाली नक्कारा और भांभ बजते हों। लेकिन इसका वर्तमान रूप वही है जो ईरान और इराक में बनने के बाद यहां आया।

बादशाहों और प्रतिष्ठित सामंतों के जुलूस और लश्कर के साथ नौबत बहुत ही अनिवार्य बाजा थी। पराक्रमी सम्राटों के जुलूस के आगे-आगे हाथियों पर नौबत बजती जाती थी। लड़ाइयों में विजेता पक्ष अपनी विजय प्रकट करने के लिए जोर-जोर से नौबत बजवाया करता था। शहशाह औरंगजेब ने हैदराबाद को जीतकर उसके करीब एक पहाड़ी पर नौबत बजवायी थी जो आज तक 'नौबत पहाड़' कहलाती है। मुगल शासन में दरबार के उच्चतम वर्गों के घनिकों और अधिकारियों को बादशाह की तरफ से नौबत का हक



दिया जाता जो अपनी ड्योढ़ियों और अपनी सवारी में नौबत बजवाया करते । नौबत बजानेवालों के लिए कोई ऊंचा बुर्ज चुना जाता । चुनांचे अक्सर शाही महलों के फाटकों के ऊपर नौबतखाना बनवा दिया जाता है जिसके नमूने हर बड़े शहर में जहां कोई बड़ा दरबार रह चुका हो नजर आते हैं ।

इसी पुराने रिवाज के अनुसरण में लखनऊ में आज तक यह आम है कि जिस घनी व्यक्ति के यहां शादी या कोई और उत्सव होता है तो उसके दरवाजे पर लंबी-लंबी बल्लियां खड़ी करके और सुर्ख कपड़े और पन्नी वगैरा से मढ़कर एक अस्थायी नौबतखाना बनवा दिया जाता है ।

दिम भर ठहरकर अलग-अलग समय में बार-बार नौबत बजाया करते हैं । इसी तरह जब बरातें या ताजियों के जुलूस चलते हैं इसी प्रकार के कृत्रिम नौबतखाने जो तख्तों पर बनाये जाते हैं, कहारों के कंधों पर सबके आगे-आगे चला करते हैं और रास्ते भर उन पर नौबत बजती जाती है ।

यही नौबत पुराने जमाने में खासतौर से लखनऊ के दरबार में वक्त पहचानने का जरिया मान ली गयी थी । उन दिनों समय का विभाजन चौबीस घंटों में नहीं किया जाता था जो अब अंग्रेजी घड़ियों के रिवाज से हमारे यहां प्रचलित है । उन दिनों वक्त के बंटवारे का यह हिसाब था कि दिन और रात के आठ पहर होते थे—चार पहर दिन के और चार रात के और हर पहर की आठ घड़ियां होती थीं । हर नौबतखाने में एक पत्तीले या नांद में पानी भरा रहता था । उसमें कटोरा, जिसके पेंदे में एक बारीक-सा सूराख होता था, खाली करके डाल दिया जाता जो पानी पर तैरता रहता था । उस सूराख से आहिस्ता-आहिस्ता पानी आता रहता था । वह सूराख ऐसा अंदाजा करके बनाया जाता था कि एक घड़ी भर में पानी से भरते-भरते डूब जाये । फिर शुरू होने के बाद जब पहली बार कटोरा डूबता तो एक घड़ी बजायी जाती । जब दुबारा डूबता तो दो घड़ियां बजायी जातीं और आठवीं घड़ी के साथ गजर बजाया जाता, यानी पहले विशिष्ट ढंग से आठ आघात करके घड़ियाल पर एक साथ बहुत-सी चोटें जल्दी-जल्दी की जातीं जिसमें यह इशारा था कि पहर पूरा हो गया और घड़ियों का सिलसिला फिर एक से शुरू हो जाता ।

जिन ड्योढ़ियों पर नौबत होती वहां हर पहर के खत्म होने पर करीब एक घड़ी तक नौबत बजती रहती । इस तरीके से रात-दिन के आठ पहर दिन की आठ नौबतें हुईं । मगर होता यह था कि सिर्फ सात नौबतें ही बजा करतीं ।



पहली नौबत तड़के नमाज़ के वक़्त यानी पहले पहर की शुरूआत पर बजती और सुबह की नौबत कहलाती। दूसरी उस समय जब एक पहर दिन आ जाता। यह पहरों चढ़े की नौबत कहलाती। तीसरी जब सूरज मध्याह्न पर होता यानी ठीक बाहर बजे। यह दोपहर की नौबत कहलाती। उसके बाद जब आठ घड़ियां पूरी हो जातीं तो तीसरी बजती और यह तीसरे पहर की नौबत कहलाती। इसके बाद चौथा पहर ख़त्म होने पर मग़रिब (सूर्यास्त) के वक़्त नौबत बजती और यह शाम की नौबत कहलाती। इसके बाद जब पांचवां पहर पूरा हो जाता तो पांचवी नौबत बजती जो पहर रात गये की नौबत कहलाती फिर जब छठी नौबत बजती जो आधीरात या दोपहर की नौबत कहलाती। इसके बाद जब सातवां पहर पूरा हो जाता और रात के तीन पहर गुजर जाते तो उस वक़्त लोगों के आराम में बाधा न पड़ने के खयाल से नौबत न बजायी जाती, सिर्फ़ गजर बजा दिया जाता। फिर इसके बाद आठवें पहर की समाप्ति पर सुबह की नौबत बजती।

घंटों का यह हिसाब था जो मुग़ल दरबार में और लखनऊ में सल्तनत के ख़ात्मे तक प्रचलित रहा और कलकत्ता में जब तक वाजिद अली शाह जिंदा रहे इसी हिसाब से पहर और घड़ियां बजती रहीं मगर इतने ही दिनों में वह हिसाब इतना आसान हो गया कि अब बिरला कोई व्यक्ति होगा जो पहरों और घड़ियों का हिसाब न जानता हो। मगर ख़राबी यह है कि दिन-रात के घंटों के बंटवारे के बदल जाने के बावजूद पुराना तरीक़ा आज भी हमारी रग-रग में समाया हुआ है। हम कहते हैं, “घड़ी भर में आऊंगा, दोपहर को सोऊंगा, पहर दिन चढ़े खाना खाऊंगा।” मगर हम नहीं जानते कि पहर कितना होता है और घड़ी किसे कहते हैं। हम आमतौर पर सुना करते हैं कि ‘पहरा बैठ गया’ और ‘पहरे के सिपाही’ मगर नहीं जानते कि पहरा शब्द इसी पहर से निकला है। इसलिए कि इन दिनों पहर-पहर भर की नौकरी हर एक को देनी पड़ती थी।

समय-विभाजन का यह पुराना हिसाब हिंदुओं का है, मगर ईरान में भी पुराने ज़माने में यही हिसाब प्रचलित था और इसी हिसाब से नौबत बजा करती थी। हमारे वर्तमान हिसाब से एक पहर तीन घंटों का हुआ करता था।

नौबत बजाने वाले भी लखनऊ में ऐसे उच्च कोटि के थे कि हर जगह और हर शहर में यहीं से जाया करते थे या यहां के उस्तादों के शागिर्द होते थे, लेकिन



नौबत में कोई तरक्की नहीं हुई। बजाने वालों की संख्या वही रही, बाजे वही रहे और बजाने का तरीका वही रहा। फिर भी इतना जरूर हुआ कि लखनऊ के म्यूजिक स्कूल ने जिन चीजों और जिन धुनों को चुनकर आम समाज में लोक-प्रिय कर दिया था वही धुनें और चीजें नक्कारखाने में भी सुनी जाने लगीं। लेकिन इसके बावजूद कि नौबत बजाने का जो पुराना तरीका था वह भी अपनी हद पर कायम रहा। अमीर खुसरो ने अपने जमाने के नौबतवादन का जो चित्रण अपनी कविता में किया है उससे उस समय के नौबतवादन के ढंग का अनुमान हो सकता है। वही शैली आजकल प्रचलित है और उसमें बहुत कम फर्क आया है, लेकिन उस पर भी शहनाई से जो धुनें और गीत बजाते हैं उन पर लखनऊ के संगीत का जो कुछ असर पड़ा है वह सुनते ही नजर आ जाता है।

तुरही और करना हिंदुस्तान के बहुत पुराने राष्ट्रीय वाद्य हैं जिनका प्रयोग विशेषकर सेना के साथ होता था। तुरही की सूरत से मालूम होता है कि यह अंग्रेजों के साथ हिंदुस्तान में आयी और उनके आगमन के आरंभिक काल में प्रचलित हो गयी। मगर करना (शंख) खास ईरानी बाजा है। उसकी आवाज में कुछ ऐसा रौब-दाब है कि युद्धभूमि में रौब बिठाने के लिए वह बहुत उपयुक्त है। इन दोनों बाजों का भी लखनऊ के जुलूसों में रिवाज है, लेकिन स्थायी वाद्य के रूप में नहीं बल्कि फौजी दस्तों या पलटनों के साथ एक तुरहीवादक या करना बजाने वाला रहा करता है जो थोड़े-थोड़े अवकाश के बाद अपना बाजा बजाकर अपने गिरोह की उपस्थिति की सूचना दे दिया करता है। इन दोनों बाजों की टक्कर का हिंदुओं का पुराना बाजा नरसिंघा है जो अधिकतर हिंदुओं के मजहबी जुलूसों के साथ बजा करता है। ये बाजे दिल्ली से आये और जैसे थे वैसे ही रहे और शायद उनमें तरक्की की गुंजाइश भी नहीं है।

बिगुल और डंका जो आजकल लखनऊ के शादी के जुलूसों में नजर आया करता है वह दरअसल नये-पुराने बाजों का एक निकृष्ट कोटि का समन्वय है। डंके से तात्पर्य वह नक्कारा है जो प्राचीन काल में सेना तथा विजेताओं के साथ थोड़े पर रहा करता था और उस पर चोट पड़ते ही लोगों पर ऐसा रौब पड़ता कि बड़ों-बड़ों के कलेजे दहल जाया करते। बिगुल या ब्यूगल अंग्रेजी फौज का वह बाजा है जिसके जरिये से फौज को आवश्यकतानुसार चलने और दूसरे कामों का हुक्म दिया जाता था। लिहाजा अब डंके के साथ बिगुल को शामिल



करके एक नया जोड़ बना लिया गया जो शादी के जुलूसों के साथ नज़र आया करता है। मगर चूँकि यह किराये के और बहुत हल्के दर्जे के लोग होते हैं इसलिए उनका लिबास, उनके घोड़े और खुद उनकी सूरतें ऐसी हेय होती हैं कि उनसे बजाये रोनक के और एक घृणास्पद दृश्य उपस्थित हो जाता है।

अब सबके आखिर में और सबसे ज्यादा प्रगतिशील बाद्य अंग्रेजी बाद्य है। यह शुद्ध रूप से अंग्रेजों का लाया हुआ है जो उनसे पहले यहां कभी नहीं देखा गया। लखनऊ में न जाने क्यों, मगर इसके बजाने वाले सिर्फ मेहतर ही हैं जो टट्टी साफ़ करने के अलावा इस काम को भी करते हैं। संभवतः इसका कारण यह हो कि शुरू-शुरू में हिंदु-मुसलमान दोनों गिरोहों को ईसाइयों से ऐसी नफ़रत थी कि वे अगर किसी बर्तन को हाथ लगा देते तो हमेशा के लिए छूत हो जाता। और इस बाजे को अंग्रेजों से सीखना और उसे मुंह लगाना पड़ता इसलिए सिवाय मेहतरों के और किसी को इसे अपनाने का साहस न हुआ। वहरहाल अब यह मेहतरों का करीब-करीब लाजमी पेशा हो गया है।

चूँकि इस काम को यहां एक ऐसे गिरोह ने अपनाया जो सबसे अधिक तिरस्कृत है और जिसे संगीत-कला से दूर का भी वास्ता नहीं, इसलिए उम्मीद न थी कि इस कला में यहां ज़रा भी तरक्की हो सकेगी। मगर ऐसा नहीं हुआ। मेहतरों में ही तरक्की का शौक पैदा हुआ और चूँकि शहर की सोसाइटियों में संगीत की धुनें फैलीं और उनकी रुचि का एक अंग बन गयी थीं इसलिए मेहतरों को मजबूर होना पड़ा कि इन पाश्चात्य अरगनों में अपनी धुनों को अदा करें। अंग्रेजों या अंग्रेजी बाजे बजाने वाले फ़ौजियों से उन्होंने सिर्फ़ यह हासिल किया था कि अंग्रेजी बाजों का बजाना आजाये या दो-चार पाश्चात्य संगीत की धुनें सीख ली होंगी। लेकिन अब उन्होंने हिंदुस्तानी धुनों में प्रचलित चीज़ों को बजाना शुरू किया तो रोज़-ब-रोज़ उसमें तरक्की ही करते गये।

अंग्रेजी बाजा मैंने हर जगह सुना है और सब जगह वही अंग्रेजी की चीज़ें बजायी जाती हैं जिनको उन्होंने अपने अंग्रेजी बैंड मास्टर्स से सीख लिया है। यह कहीं न नज़र आया कि बाजे को बजाने वालों ने भारतीय संगीत के सांचे में ढाल लिया हो। यह बात अगर गौर से देखिये तो लखनऊ में नज़र आयेगी कि जिन राज़लों या ठुमरियों को रौशन चौकीवाले शहनाई से अदा कर रहे हैं उन्हीं चीज़ों को अंग्रेजी बाजे वाले अपने बाजों से अदा कर रहे हैं, और



ऐसी खूबी से कि ख्वाद्मख्वाह सुनने को जी चाहता है ।

अंग्रेजी वाजे के बँड लखनऊ में मेहतरों के कारण सैकड़ों क्रायम हो गये हैं जिनमें से कुछ ऐसे हैं कि उनमें पच्चीस-पच्चीस, तीस-तीस बजाने वाले होते हैं और कुछ में छह-सात या चार-पांच ही । उन्होंने गोरों की वदियों में भारतीय रुचि के अनुरूप परिवर्तन करके अपने लिए रंग-मंच की वदियां बना ली हैं और अगर वे वदियां साफ और नयी हों तो उनको पहनकर जब वे बरात के साथ अरगन बाजा बजाते हुए चलते हैं तो बहुत अच्छे और शानदार मालूम होते हैं ।

वर्दी की यह विशेषता इन्हीं लोगों में है बाक़ी दूसरे वाजेवालों को कभी इसका खयाल नहीं आया कि अपने लिए कोई वर्दी बना लें । वे बहुत ही गंदे और भद्दे कपड़े पहने हुए होते हैं । मगर अंग्रेजी बँड वाले मेहतरों ने अपने लिए तरह-तरह की वदियां बनाकर अपनी शान बढ़ा ली है और भारतीय संगीत को अंग्रेजी अरगनों में शामिल करके लोगों में अपनी क़द्र भी ज़्यादा कर ली है ।

## [ 26 ]

मानव समाज में सबसे ज़्यादा ज़रूरी और सबसे महत्वपूर्ण खाना-पीना है । किसी भी वर्ग या जाति की उन्नति की प्रक्रिया में वह सबसे पहले अपनी रुचि, अपने शिष्टाचार और अपनी नवीनता को अभिव्यक्ति खाने की मेज़ पर या दस्तरख़वान पर करता है । इसीलिए अब हम यह बताना चाहते हैं कि बाबर-चीखाने और दस्तरख़वान के बारे में लखनऊ के पूर्वी दरबार ने क्या रंग दिखाया और क्या-क्या आविष्कार किये और इस कला में यहां के लोगों ने किस हद तक तरक्की की ।

अबध की संस्कृति का इतिहास शुजाउद्दौला से और उसके भी अंतिम काल से प्रारंभ होता है । यानी उस वक़्त से जबकि वह बक्सर की लड़ाई में हारकर और अंग्रेजों से नया करार करके खामोश बैठे और सैनिक गतिविधि की ओर से उपेक्षा बरती गयी । उस ज़माने में उनके बाबरचीखाने के मुंतज़िम हुसैन रज़ा खां उर्फ़ मिर्ज़ा हुसैनू थे जो दिल्ली से आये हुए थे और एक प्रतिष्ठित घराने से संबंध रखते थे । सफ़ीपुर, ज़िला उन्नाव, के एक शेखज़ादे



मौलवी फ़ज़ले अज़ीम जो लखनऊ में तालीम हासिल करने आये थे खुशकिस्मती से मिर्ज़ा हसनू के घर तक पहुँच गये और उनके साथ ही मिलकर और खेल-कूदकर बड़े हुए थे। उनको उन्होंने अपनी ओर से बावरचीखाने का नायब मुंत-ज़िम मुक़रर करा दिया था और उनका नियम था कि खासे<sup>1</sup> के ख़वानों (थाल) को ठीक से सजाकर और उन पर अपनी मुहर लगाकर नवाबी ड्यौढ़ी में ले जाते और वहाँ वेगम साहिबा की ड्यौढ़ी की खास मेहरियाँ धनिया, पनिया और मीना के हवाले कर देते। इसका मात्र कारण यह था कि ये मेहरियाँ उनके ख़िलाफ़ कोई कारंवाई न होने दें। मौलाना ने इन मेहरियों से भाईचारा कर लिया था। चुनांचे ये मेहरियाँ बहुत ही नाजूक मौक़ों पर उनके काम आयीं।

नवाब गुज़ाउद्दौला का यह नियम था कि महल के अंदर अपनी बीवी वहाँ वेगम साहिबा के साथ खाना खाते। मेहरियाँ ख़वानों को वेगम साहिबा के सामने लेजाकर खोलतीं और दस्तरख़वान पर खाना चुना जाता।

नवाब और वेगम के लिए हर रोज़ छह बावरचीख़ानों से खाना आया करता : पहले तो, ऊपर लिखे नवाबी बावरचीख़ाने से, जिसके प्रबंधक मिर्ज़ा हसनू थे, मौलवी फ़ज़ले अज़ीम खासे के ख़वान खुद लेकर ड्यौढ़ी में हाज़िर होते। उस बावरचीख़ाने में दो हज़ार रुपये रोज़ की पकाई होती जिसका यह मतलब हुआ कि बावरचियों और दीगर नौकरों की तनख़वाहों के अलावा साठ हज़ार रुपये माहवार या सात लाख बीस हज़ार रुपये सालाना की रक़म सिर्फ़ खाने-पीने की चीज़ों और ग़िज़ाओं की कीमत में खर्च होती थी; दूसरे, सरकारी छोटे बावरचीख़ाने से जिसके प्रबंधक पहले तो मिर्ज़ा हसन अली, तोशाख़ाने के प्रबंधक, थे लेकिन बाद में अंबर अली खां ख़वाजासरा के सुपुर्द हो गया था। उसमें तीन सौ रुपये रोज़ यानी एक लाख आठ हज़ार रुपये साल खानों की तैयारी में खर्च होते थे; तीसरे, खुद वहाँ वेगम साहिबा के महल के अंदर का बावरचीख़ाना जिसका प्रबंधक बहार अली खां ख़वाजासरा था; चौथे, नवाब, वेगम साहिबा यानी गुज़ाउद्दौला की वालदा के बावरचीख़ाने से; पांचवे, मिर्ज़ा अली खां के बावरचीख़ाने से और छठे, नवाब सालारजंग के बावरचीख़ाने से। आख़िर में उल्लिखित दोनों रईस वहाँ वेगम साहिबा के भाई और गुज़ाउद्दौला बहादुर के साले थे।

इस दौर के ये छह बावरचीख़ाने शाही बावरचीख़ाने के बराबर थे और

<sup>1</sup> बादशाहों का खाना।



जिनमें रोज़ पुरतकल्लुफ़ और स्वादिष्ट खाने नवाब के खासे के लिए तैयार किये जाते थे। एक दिन किसी खाने में जो बड़े सरकारी बावरचीखाने से आया था, खास नवाब साहब के सामने एक मक्खी निकल आयी। नवाब ने क्रुद्ध होकर मालूम किया कि यह खाना कहां से आया है? घनिया ने खयाल किया कि अगर सरकारी बावरचीखाने का नाम लेती हूं तो मौलाना भाई की मुसीबत आ जायेगी। बोली, “हुजूर, यह खाना नवाब सालारजंग बहादुर के वहां से आया है।”

नवाब गुजाऊदौला के बाद दरबार फ़ैजाबाद से लखनऊ चला गया और नवाब आसफ़उद्दौला ने मिर्जा हसन रज़ा खां को ‘सरफ़राज़उद्दौला’ का खिताब देकर वज़ारत का खिलअत दिया तो बावरचीखाने के प्रबंधक के पद को अपनी शान के खिलाफ़ समझकर उन्होंने मौलवी फ़ज़ले अज़ीम साहब को सरकारी बावरचीखाने का स्थायी प्रबंधक नियुक्त कर दिया। मगर मौलवी फ़ज़ले अज़ीम साहब पहले जिस तरह खासे के ख़वान लेकर बहू बेगम साहिबा की ड्यूटी पर हाज़िर हुआ करते थे, उसी तरह अब लखनऊ में भी नवाब आसफ़उद्दौला बहादुर की ड्यूटी पर हाज़िर होने लगे और अपने दूसरे रिश्तेदारों को भी बुला लिया और अपने काम में शरीक कर लिया। रिश्तेदारों में उनके सगे भाई मौलवी फ़ायज़ अली और चचेरे भाई गुलाम अज़ीम और गुलाम मख़दूम ज़्यादा आगे-आगे थे और बारी-बारी चारों भाई ड्यूटी पर खासा ले जाया करते थे।

आसफ़उद्दौला बहादुर के बाद वज़ीर अली खां के अल्प कालीन शासन-काल में तफ़ज़्जुल हुसैन खां वज़ीर हुए तो उन्होंने उन सफ़ीपुर के भाइयों को हटाकर अपने लाये हुए गुलाम मुहम्मद उर्फ़ बड़े मिर्जा को बावरचीखाने का प्रबंधक नियुक्त कर दिया।

इन घटनाओं से मालूम होता है कि लखनऊ को अपने प्रारंभिक काल ही में ऐसे बड़े-बड़े ज़वरदस्त और शौकीनी के बावरचीखाने मिले जिनका लाज़िमी नतीजा यह था कि बहुत ही बढ़िया क्रिस्म के बावरची तैयार हों। खानों की तैयारी में विविधता बढ़े, नये-नये खाने ईजाद किये जायें और जो भी प्रवीण रसोइया दिल्ली और दूसरे स्थानों से आये वह यहां की खराद पर चढ़कर अपने हुनर में खास क्रिस्म का कमाल और अपने तैयार किये हुए खानों में नयी तरह की नफ़ासत और खास क्रिस्म का स्वाद पैदा करे।



यह एक ग्राम बात है कि जो शख्स जो काम करता है उसमें कुछ-न-कुछ तरक्की जरूर करता है और उसका शौकीन बन जाता है। चुनांचे लखनऊ में खाने के शुरू के शौकीन भी वही रईस माने जाते हैं जिनके बावरचीखानों का ऊपर जिक्र आ चुका है। लोग कहते हैं कि खुद हुसैन रजा खां सरफराजउद्दौला का दस्तरख्वान बहुत विशाल था। खाना खिलाने के वह बहुत शौकीन थे और जब उनकी यह रुचि देखकर सबसे बड़ा सरकारी बावरचीखाना उनके सुपुर्द हो गया तो उन्हें अपने हुनर में नवीनता पैदा करने और आविष्कार करने का कहां तक मौका न मिला होगा ?

और इसीका नतीजा यह भी था कि यों तो इस दुनिया में खाने के शौकीन सैकड़ों रईस पैदा हो गये, मगर नवाब सालारजंग के खानदान को आखिर तक नेमतखाने की ईजाद और तरक्की में खास शोहरत हुई।

जानकार सूत्रों से मालूम हुआ है कि खुद नवाब सालारजंग का बावरची जो सिर्फ उनके लिए खाना तैयार किया करता था, बारह सौ रुपये माहवार तनखाह पाता था जो तनखाह आज भी किसी बड़े-से-बड़े हिंदुस्तानी दरबार में किसी बावरची को नहीं मिलती। खास उनके लिए वह ऐसा भारी पुलाव पकाता कि सिवाय उनके और कोई उसे हضم न कर सकता था। यहां तक कि एक दिन नवाब गुजाउद्दौला ने उनसे कहा, “तुमने कभी हमें वह पुलाव न खिलाया जो खास अपने लिए पकवाया करते हो ?” अर्ज किया, “बेहतर है, आज हाजिर करूंगा।” बावरची से कहा, “जितना पुलाव रोज पकाते हो, आज उसका दूना पकाओ।” उसने कहा, “मैं तो आपके खासे के लिए नौकर हूं, किसी और के लिए नहीं पका सकता।” कहा, “ये नवाब साहब ने फरमाइश की है। मुमकिन है मैं उनके लिए न ले जाऊं ?” उसने कहा, “कोई हो, मैं तो और किसी के लिए नहीं पका सकता।” जब सालारजंग ने ज्यादा जोर दिया तो उसने कहा, “बेहतर, मगर शर्त यह है कि हुजूर खुद लेजाकर अपने सामने खिलायें और कुछ लुकमों (ग्रास) से ज्यादा न खाने दें और एहतियातन आब-दारखाने (पानी के घड़ों आदि) का इंतजाम भी करके अपने साथ ले जायें।” सालारजंग ने ये शर्तें मान लीं। आखिर बावरची ने पुलाव तैयार किया और सालारजंग खुद लेकर पहुंचे और दस्तरख्वान पर पेश किया। गुजाउद्दौला ने खाते ही बहुत तारीफ की और बड़े शौक से खाने लगे, मगर दो-चार ही लुकमें खाये थे कि सालारजंग ने बढ़कर हाथ पकड़ लिया और कहा, “बस इससे



ज्यादा न खाइये ।” शुजाउद्दौलः ने हैरत से उनकी सूरत देखी और कहा, “इन चार लुकमों में क्या होता है ?” और यह कहकर ज़बरदस्ती दो-एक लुकमे और खा ही लिये । अब प्यास लगी । सालारजंग ने अपने आबदारखाने से जो साथ गया था पानी मंगवा-मंगवाकर पिलाना शुरू किया । बड़ी देर के बाद खुदा-खुदा करके प्यास बुझी और सालारजंग अपने घर आये ।

आजकल की रुचि को देखते हुए यह बात किसी पौष्टिक पदार्थ की विशेषता नहीं समझी जा सकती, मगर उस ज़माने में और पुरानी रुचि के खाने वालों के लिए भी अब पौष्टिक पदार्थ का असल यही स्तर है कि वे पदार्थ स्वादिष्ट हों मगर अस्तर में इतने पौष्टिक और गरिष्ठ हों कि हर मेदा उन्हें सहन न कर सके ।

दूसरा कमाल यह था कि किसी एक चीज़ को अनेक प्रकार से दिखाकर ऐसा बना दिया जाये कि दस्तरख्वान पर जाहिर में तो यह नज़र आये कि बीसियों किस्म के खाने मौजूद हैं मगर चखिये और गौर दीजिये तो वे सब एक ही चीज़ हैं । मसलन विश्वस्तसूत्रों से सुना जाता है कि दिल्ली के शाह-जादों में से मिर्जा आसमान क़दर, मिर्जा खुर्रम बख्त के बेटे, जो लखनऊ में आकर शीआ हुए और चंद रोज़ यहां ठहरने के बाद बनारस में जाकर रहने लगे, लखनऊ में अपने प्रवास के समय वाजिद अली शाह ने उनकी दावत की तो दस्तरख्वान पर एक मुरब्बा लाकर रखा गया जो देखने में बहुत ही नज़ीस, स्वादिष्ट और अच्छा मालूम होता था । मिर्जा आसमान क़दर ने उसका ग्रास खाया तो चकराये इसलिए कि वह मुरब्बा न था बल्कि गोश्त का नमकीन क़ोरमा था जिसकी सूरत रकाबदार (वेरा) ने बिल्कुल मुरब्बे की-सी बना दी थी । यों घोखा खा जाने पर उन्हें शर्मिंदगी हुई और वाजिद अली शाह खुश हुए कि दिल्ली के एक प्रतिष्ठित राजकुमार को घोखा दे दिया ।

दो-चार रोज़ बाद मिर्जा आसमान क़दर ने वाजिद अली शाह की दावत की और वाजिद अली शाह यह खयाल करके आये थे कि मुझे जरूर घोखा दिया जायेगा । मगर उस होशियारी पर भी घोखा खा गये इसलिए कि आसमान क़दर के बावरची शेख हुसैन अली ने यह कमाल किया था कि गो दस्तरख्वान पर सैकड़ों किस्म के खाने चुने हुए थे : पुलाव<sup>1</sup> था, ज़र्दा<sup>2</sup> था, विरयानी<sup>3</sup> थी, क़ोरमा<sup>4</sup> था, कबाब थे, तरकारियां थीं, चटनियां थीं, अचार थे,

<sup>1</sup> चावल और गोश्त से बना एक खाद्य पदार्थ; <sup>2</sup> मीठे चावल; <sup>3</sup> चावल और गोश्त का बना मसालेदार पदार्थ; <sup>4</sup> गोश्त की बनी तरकारी ।



रोटियां थीं, परांठे थे, शीरमालें थीं, गरज कि हर नेमत मौजूद थी। मगर जिस चीज़ को चखा शकर की बनी हुई थी—सालन था तो शकर का, चावल थे तो शकर के, अचार था तो शकर का और रोटियां थीं तो शकर की, यहां तक कि कहते हैं तमाम बर्तन, दस्तरख्वान, और सिलफ़ची, लोटा तक शकर के थे। वाजिद अली शाह धवरा-धवराकर एक-एक चीज़ पर हाथ डालते थे और घोखे पर धोखा खाते थे।

हम बयान कर आये हैं कि नवाब शुजाउद्दौला बहादुर के खासे पर छह जगहों से खाने के ख्वान आया करते थे। मगर यह उन्हीं तक सीमित न था, उनके बाद भी यह तरीका जारी रहा कि अक्सर अमीर खासकर शाही खानदान के लोगों को यह इज़्ज़त दी जाती थी कि वे खासे के लिए खास-खास क्रिस्म के खाने रोज़ाना भेजा करते थे।

चुनांचे हमारे दोस्त नवाब मुहम्मद शफ़ी खां साहब बहादुर नैशापुरी का बयान है कि उनके नाना नवाब आगा अली हसन खां साहब के घर से, जो नैशापुरियों में सबसे ज्यादा नामवर और प्रतिष्ठित थे, बादशाह के लिए रौगनी रोटी और धी जाया करता था। रौगनी रोटियां इतनी बारीक और सफ़ाई से पकायी जातीं कि मोटे कागज़ से ज्यादा मोटी न होतीं। और फिर यह मुमकिन न था कि चित्तियां पड़ें और न यह मजाल थी कि किसी जगह पर कच्ची रह जायें। मीठा धी भी एक खास चीज़ था जो बड़ी देखभाल से तैयार कराया जाता था।

दिल्ली में विरयानी का ज्यादा रिवाज है और था। मगर लखनऊ की सफ़ाई-सुथराई ने पुलाव को उस पर तरजीह दी। आम लोगों की नज़र में दोनों लगभग एक ही हैं, मगर विरयानी में मसाले की ज्यादाती से सालन मिले हुए चावलों की शान पैदा हो जाती है और पुलाव में इतना स्वाद और इतनी सफ़ाई-सुथराई थी कि विरयानी उसके सामने मलगोवा-सी मालूम होती है। इसमें शक नहीं कि मामूली क्रिस्म के पुलाव से विरयानी अच्छी मालूम होती है। वह पुलाव खुश्का<sup>1</sup> मालूम होता है जो ख़राबी विरयानी में नहीं होती। मगर बढ़िया क्रिस्म के पुलाव के मुकाबिले विरयानी नफ़ासतपसंद लोगों की नज़र में बहुत ही लड्डू और बदनूमा खाना है। बस यही फ़र्क था जिसने लखनऊ में पुलाव को ज्यादा प्रचलित कर दिया।

<sup>1</sup> उबाले हुए चावल।



पुलाव वहां कहने को तो सात तरह के मशहूर हैं, इनमें से भी गुलज़ार पुलाव, नूर पुलाव, कोको पुलाव, मोती पुलाव और चंबेली पुलाव के नाम हमें इस वक़्त याद हैं। मगर सच्चाई यह है कि यहां के ऊंचे लोगों के दस्तरख़वान पर बीसियों तरह के पुलाव हुआ करते थे। मुहम्मद अली शाह के बेटे मिर्जा अज़ीमउश्शान ने एक शादी के मौक़े पर 'समघी मिलाप' की दावत की थी जिसमें खुद नवाब वाजिद अली शाह भी शरीक थे। उस दावत में दस्तरख़वान पर नमकीन और मीठे कुल सत्तर क्रिस्म के चावल थे।

गाज़ीउद्दीन हैदर बादशाह के शासन-काल में नवाब सालारजंग के खानदान से एक रईस थे—नवाब हुसैन अली खां, उन्हें खाने का बड़ा शौक़ था खास तौर से पुलाव। उनके दस्तरख़वान पर बीसियों तरह के पुलाव हुआ करते और वे ऐसी नफ़ासत के साथ तैयार किये जाते कि शहर भर में उनकी शोहरत हो गयी। यहां तक कि रईसों और अमीरों में से कोई उनके मुक़ाबिले की ज़ुरत न कर सका। खुद बादशाह उनसे ईर्ष्या करते थे और खाने के शौकीनों में वह 'चावल वाले' मशहूर हो गये थे।

नसीरउद्दीन हैदर के शासन-काल में बाहर का एक बावरची आया जो पिस्ते और बादाम की खिचड़ी पकाता, बादाम के सुडौल और साफ़-सुथरे चावल बनाता, पिस्ते की दाल तैयार करता और इस नफ़ासत से पकाता कि मालूम होता कि बहुत ही उम्दा, नफ़ीस और फरैरी माश की खिचड़ी है मगर खाइये तो और ही लज़्ज़त थी और ऐसा जायका जिसका मज़ा ज़वान को ज़िदगी भर न भूलता।

नवाब सभ्रादत अली खां के ज़माने में एक बाकमाल बावरची सिर्फ़ चावलों की गुलत्थी पकाता, मगर ऐसी गुलत्थी जो शाही दस्तरख़वान की रौनक और तत्कालीन नवाब को बहुत ही पसंद थी। शहर के सारे रईस इसी तमन्ना में रहते थे कि उसका एक ब्रास खाने को मिल जाये। मशहूर है कि नवाब आसफ़उद्दौला के सामने एक नया बावरची पेश हुआ, पूछा गया, "क्या पकाते हो?" कहा, "सिर्फ़ माश (उड़द) पकाता हूं।" पूछा, "तनख़्वाह क्या लोगे?" कहा, "पांच सौ रुपये।" नवाब ने नौकर रख लिया। मगर उसने कहा, "मैं चंद शर्तों पर नौकरी करूंगा।" पूछा, "बो शर्त क्या हैं?" कहा, "जब हुज़ूर को मेरे हाथ की दाल का शौक़ हो एक रोज़ पहले से हुक्म हो जाये और जब इत्तला दूं कि तैयार है तो हुज़ूर उसी वक़्त खालें।" नवाब ने शर्तें भी मंज़ूर कर लीं।



चंद माह के बाद उसे दाल पकाने का हुक्म हुआ। उसने तैयार की और नवाब को खबर की। उन्होंने कहा, “अच्छा दस्तरख्वान बिछा।” मगर नवाब बातों में लगे रहे। उसने जाकर फिर इत्तला दी कि “खासा तैयार है।” नवाब को फिर आने में देर हुई। उसने तीसरी बार खबर की और इस पर भी नवाब साहब न आये तो उसने दाल की हांडी उठाकर एक सूखे पेड़ की जड़ में उड़ेल दी और इस्तीफा देकर चला गया। नवाब को अफसोस हुआ, ढूंढ़वाया मगर उसका पता न लगा। मगर चंद रोज़ बाद देखा तो जिस दरख्त के नीचे दाल फेंकी गयी थी वह हरा-भरा हो गया था। इसमें शक नहीं कि इस घटना में अत्युक्ति है जिसने इसे असंभाव्य की श्रेणी में पहुंचा दिया है, मगर इससे इतना अंदाज़ा जरूर हो जाता है कि दरवार में वावरचियों की कैसी कद्र होती थी और कोई वाकमाल वावरची आ जाता तो उसे किस उदारता के साथ रोक लिया जाता था।

अमीरों का यह शौक देखकर वावरचियों ने भी तरह-तरह की नयी चीजें ईजाद करना शुरू कर दीं : किसी ने पुलाव अनारदाना ईजाद किया, उसमें हर चावल आधा पुलक की तरह लाल और चमकदार होता और आधा सफेद, मगर उसमें भी शीशे की-सी चमक मौजूद होती। जब दस्तरख्वान पर लाकर लगाया जाता तो मालूम होता कि प्लेट में चितकवरे रंग के जवाहिरात रखे हुए हैं। एक और वावरची ने नीरत्न पुलाव पकाकर पेश किया जिसमें नीरत्न के मशहूर जवाहिरात की तरह नौ रंग के चावल मिला दिये और फिर रंगों की सफाई और आबोताब अजीब लुत्फ पैदा कर रही थी। इसी तरह की खुदा जाने कितनी ईजादे हो गयीं जो तमाम घरों और वावरचीखानों में फैल गयीं।

खाने के शौकीन पुराने रईसों में से एक नवाब मिर्जा खां नैशापुरी थे जो कहते हैं कि चौदह हजार माहवार का वसीक़ा पाते थे। अच्छा खाने के शौक में उन्होंने वह कमाल दिखाया और ऐसे अच्छे-अच्छे वावरची जमा कर लिये कि शहर में उनके दस्तरख्वान की धूम मच गयी। दूसरे मिर्जा हैदर थे। यह भी नैशापुरी और ऐसे सम्मानित रईस थे कि तमाम नैशापुरी उनको अपना सरताज और बुजुर्ग मानते थे। उनकी ज्ञान यह थी कि जिसकी दावत में जाते, उनका आबदारखाना, गिलीरियों (पान) का सामान और सो-डूढ़मौहुक्के उनके साथ जाते। उनके इस शौक से बहुत से दरम्याने दर्जे के लोगों को बड़ी



मदद मिल जाती। किसी-न-किसी तरह खुशामद करके उनसे दावत कबूल करा लेते और उनके कबूल कर लेने के ये मानी थे कि महफिल में हुक्कों, गिलौरियों और पानी का इतिजाम उनके जिम्मे हो गया और फिर कैसा इतिजाम जो किसी बड़े-से-बड़े रईस के लिए भी मुमकिन न था।

खाना तैयार करने वाले तीन गिरोह हैं : पहले देगशोर जिनका काम देगों का धोना और वावरचियों की मातहती में मजदूरी करना है; दूसरे वावरची, ये लोग खाना पकाते हैं और अक्सर बड़ी-बड़ी देगें तैयार करके उतारते हैं, तीसरे रकावदार, यही लोग अपने हुनर में माहिर होते हैं। ये लोग आमतौर पर छोटी हांडियां पकाते हैं और बड़ी देगें उतारना अपनी शान और मर्तबे से नीचा काम समझते हैं। अगर्चे अक्सर वावरची भी छोटी हांडियां पकाते हैं मगर रकावदारों का काम सिर्फ छोटी हांडियों तक सीमित था। ये लोग मेवों के फूल कतरते, खाना निकालने और लगाने में सलीका, नफ़ासत और तकल्लुफ़ ज़ाहिर करते। चोभों और क़ावों में जो पुलाव ज़्यादा निकाला जाता उस पर मेवे और दूसरे तरीक़ों से गुलकारियां करते और बेल-बूटे बनाते थे। बहुत ही नफ़ीस और स्वादिष्ट मुरब्बे और अचार तैयार करते और खानों में अपनी दिलचस्पी के कारण सैकड़ों तरह की नवीनताएं पैदा करते।

गाजीउद्दीन हैदर को जो अवध के पहले बादशाह थे, परांठे पसंद थे। उनका वावरची हर रोज़ छह परांठे पकाता और फ़ी परांठा पांच सेर के हिसाब से ३० सेर घी रोज़ लिया करता। एक दिन प्रधान मंत्री मोतमद-उद्दीला आगा मीर ने शाही वावरची को बुलाकर पूछा, “अरे भई यह तीस सेर घी बया होता है?” कहा, “हुजूर परांठे पकाता हूं।” कहा, “भला मेरे सामने तो पकाओ।” उसने कहा, “बहुत खूब।” परांठे पकाये। जितना घी खपा खपाया और जो बाक़ी बचा फेंक दिया। मोतमदउद्दीला आगा मीर ने यह देख कर हैरत से कहा, “पूरा घी तो खर्च नहीं हुआ?” उसने कहा, “अब यह घी तो बिल्कुल तेल हो गया, इस क़ाबिल थोड़े ही है कि किसी और खाने में लगाया जाय।” बज़ीर से जवाब तो न बन पड़ा मगर हुक्म दे दिया कि, “आइंदा से सिर्फ़ पांच सेर घी दिया जाया करे, फ़ी परांठा एक सेर घी बहुत है।” वावरची ने कहा, “बेहतर, मैं इतने ही घी में पका दिया करूंगा।” मगर बज़ीर की रोक-टोक से ऐसा नाराज़ हुआ कि मामूली क्रिस्म के परांठे पकाकर बादशाह के खाने पर भेज दिये। जब कई दिन यही हालत रही तो बादशाह



ने शिकायत की कि "ये परांठे अब कैसे आते हैं ?" बाबरची ने अर्ज किया, "हुजूर जैसे परांठे नवाब मोतमदउद्दौला बहादुर का हुक्म है पकाता हूँ।" बादशाह ने उसकी असल वजह पूछी तो उसने सारा हाल बयान कर दिया। फ़ौरन मोतमदउद्दौला की याद हुई। उन्होंने अर्ज किया, "जहांपनाह, ये लोग ख्वाहमख्वाह को लूटते हैं।" बादशाह ने इसके जवाब में दस-पांच थप्पड़ और घूसे रसीद किये। खूब ठोंका और कहा, "तुम नहीं लूटते हो तुम जो सारी सल्तनत और सारे मुल्क को लूट लेते हो इसका खयाल नहीं ? यह जो थोड़ा सा धी ज्यादा ले लेता है और वह भी मेरे खासे के लिए, यह तुम्हें नहीं गवार है ?" बहरहाल मोतमदउद्दौला ने तौबा की, कान अमेठे तो खिलअत आता हुआ जो इस बात की निशानी मानी जाती है कि आज जहांपनाह ने अपना स्नेह भरा हाथ फेरा है। फिर अपने घर आये। उसके बाद उन्होंने कभी उस रकाबदार पर एतराज न किया और वह उसी तरह ३० सेर धी रोज़ लेता रहा।

## [ 27 ]

नवाब अबुलकासिम खां एक शौकीन रईस थे। उनके यहां बहुत भारी पुलाव पकता। 34 सेर गोश्त की यखनी तैयार करके नiyार ली जाती और उसमें चावल दम किये जाते। और फिर इस मजे के साथ कि ग्रास मुंह में रखते ही मालूम होता कि सब चावल खुद ही धुलकर हलक़ से उतर गये। फिर उसके साथ ऐसे हल्के कि क्या मजाल जो ज़रा भी महसूस हो सके कि उसमें किसी क्रिस्म की गरिष्ठता है। इतनी ही या इससे ज्यादा ताक़त का पुलाव वाजिद अली शाह की खास महल साहिबा के लिए रोज़ तैयार हुआ करता था।

अवध के अपदस्थ नवाब वाजिद अली शाह के साथ मटिया बुर्ज में एक रईस थे जिनका 'मुंशीउस्सुलतान बहादुर' खिताब था। बड़े वज़ादार और नफ़ीस मिज़ाज शौकीनों में थे। खाने का बेहद शौक़ था और अगर्चे कई बाक़माल बाबरची मौजूद थे मगर उन्हें, जब तक दो-एक चीज़ें खुद अपने हाथ से न पका लेते, खाने में मज़ा न आता। आखिर उनके अच्छे खाने की



यहां तक ख्याति फैली कि वाजिद अली शाह कहा करते, “अच्छा तो मुंशी उस्सुलतान खाते हैं, मैं क्या अच्छा खाऊंगा।” बचपन में छह-सात बरस तक मटिया बुर्ज में उन्हीं के साथ रहा और उन्हीं के साथ दस्तरख्वान पर शरीक होता रहा। मैंने उनके दस्तरख्वान पर तीस-चालीस किस्म के पुलाव और बीसियों किस्म के सालन देखे जिनमें से वाजि ऐसे थे कि फिर कभी खाना नसीब न हुए। उन्हें हलवा सोहन का भी बड़ा शौक था जिसका जिक्र यथा स्थान किया जायेगा।

आखिर ज़माने में और ग़दर के बाद लखनऊ में हकीम बंदा मेहदी मरहूम को खाने और पहनने का बेहद शौक था और बड़े-बड़े दौलतमंद और शौकीन लोगों को यकीन है कि जैसा खाना उन्होंने खाया और जैसा कपड़ा उन्होंने पहना उस ज़माने में बहुत कम किसी को नसीब हो सका। हमारे एक बुजुर्ग दोस्त फ़रमाते हैं, “हमारे खानदान से हकीम साहब से बहुत रवत-जवत था। एक दिन हकीम साहब ने हमारे वालिद और चचा को बुला भेजा कि एक पहलवान की दावत है, आप भी आकर लुत्फ़ देखिये। वालिद तशरीफ़ ले गये और मैं भी उनके साथ गया। वहां जाकर मालूम हुआ कि वह पहलवान रोज़ सुबह को बीस सेर दूध पीता है, उस पर ढाई-तीन सेर मेवा यानी बादाम और पिस्ते खाता है और दोपहर और शाम को ढाई सेर आटे की रोटियां और एक दरम्याने दर्जे का बकरा खा जाता है। और इसी गिज़ा के मुताबिक़ उसका जिस्म भी था। वह नाश्ते के लिए बेचैन था और बार-बार तक्काज़ा कर रहा था कि खाना जल्दी मंगवाइये। मगर हकीम साहब जानबूझ कर टाल रहे थे। यहां तक कि भूख की सख्ती ने उसे बेचैन कर दिया और अब वह नाराज़ होकर उठने लगा। तब हकीम साहब खाना भेजने का वायदा करके अंदर चले गये। थोड़ी देर और टाला और जब देखा कि अब वह भूख बिल्कुल बर्दाश्त नहीं कर सकता तो मेहरी के हाथ एक ख्वान भेजा जिसकी सूरत देखते ही पहलवान साहब की जान में जान आयी मगर जब उसे खोला तो एक छोटी तश्तरी में थोड़ा-सा पुलाव था जिसकी मात्रा छटांक भर से ज्यादा न होगी। उस खाऊ मेहमान को यह चावल देख कर बड़ा तैश आया जो उसके एक ग्रास के लिए भी काफ़ी न थे। इरादा किया कि उठकर चला जाये। मगर लोगों ने समझा-बुझाकर रोका और उसने मजबूरन वह तश्तरी उठाकर मुंह में डाल ली और वगैर मुंह चलाए निगल गया। पांच मिनट के बाद उसने पानी मांगा



और उसके पांच मिनट बाद फिर पानी पिया और डकार ली। अब अंदर से खाने के ख्दान आये, दस्तरख्वान बिछा। खुद हकीम साहब भी आये, खाना चुना गया। और वहीं पुलाव जिसमें से एक ग्राम पहले भेजा था उसकी प्लेट जिसमें कोई डेढ़ पाव चावल होंगे हकीम साहब के सामने लगायी गयी। हकीम साहब ने उस प्लेट को पहलवान के सामने पेश किया और कहा, “देखिये यह वही पुलाव है या कोई और?” उसने माना कि वही है। हकीम साहब ने कहा, “तो अब खाइये। मुझे अफसोस है कि इसकी तैयारी में देर हुई और आपको तकलीफ उठानी पड़ी।” पहलवान ने कहा, “मगर अब मुझे माफ़ फ़र्माइये। मैं उसी पहले लुकमें से सेर (तृस्त) हो गया। और अब एक चावल भी नहीं खा सकता।” हजारों बार आग्रह किया मगर उसने बिल्कुल हाथ रोक लिया और कहा, “खाऊं क्योंकर? अब पेट में जगह भी हो।” हकीम साहब ने चावल लेकर सब खा लिये और उससे कहा, “बीस-बीस सेर और तीस-तीस सेर खा जाना इंसान की गिज़ा नहीं, यह तो गाय-भैंस की गिज़ा हुई। इंसान की गिज़ा यह है कि चंद लुकमें खाये मगर उनसे कूबत और तवानाई वह आये जो बीस-तीस सेर गल्ला खाने में भी न आ सके। आप इस एक लुकमें में सेर हो गये हैं, कल फिर आपकी दावत है। कल आकर बताइयेगा कि इस एक लुकमें से आपको बेंसी ही कूबत और तवानाई महसूस हुई जैसी कि बीस सेर दूध और सेरों में से और गोश्त और गल्ले से हासिल होती थी या उससे कम?” और हम सबको भी हकीम साहब ने दूसरे दिन बुलाया। दूसरे दिन उस पहलवान ने आकर बयान किया कि “मुझे ज़िदगी भर ऐसी तवानाई और चौचाली नसीब नहीं हुई जैसी कि कल से आज तक रही।”

शाही खानदान के लोगो में से अंतिम काल में नवाब मोहसिनउद्दौला और नवाब मुमताज़उद्दौला दस्तरख्वान और बावरचीखाने के शीक और कमाल में बेमिसाल माने जाते और उन्हीं का बावरची था जो हकीम बंदा मेहदी साहब के लिए यह पुलाव तैयार किया करता था। उन्हीं दिनों मल्का ज़मानिया की एक बड़ी सरकार कायम थी और उनका बावरचीखाना मशहूर था जिसमें रोज़ाना तीन सौ रुपये की पकायी होती। इसी दौर में शहज़ादा याहिया अली खां की सरकार में आलम अली नामक एक बावरची नौकर था। वह मुसल्लम मछली ऐसी बेमिसाल पकाता था कि तमाम रईसों में मशहूर थी और दूसरी सरकार के बावरचीयों ने हजार कोशिश की मगर वह बात पैदा न कर सके।



नसीरउद्दीन हैदर के जमाने में महमूद नाम के एक विलायती शख्स ने आकर फिरंगी महल में बाबरची की दुकान खोली और उसकी नहारी<sup>1</sup> की ऐसी शोहरत हुई कि बड़े-बड़े रईस और शाहजादे तक उसकी नहारी की कद्र करते। कद्रदानी ने उसका हीसला बढ़ाया और उसने शीरमाल<sup>2</sup> ईजाद की जो आज तक लखनऊ की एक विशेषता है। रोटियों की बहुत-सी किस्में मशहूर हैं और विभिन्न शहरों में उनका प्रचलन है। ईरान में मुसलमान खमीरी रोटियां खाते हुए और हिंदुस्तान की सरजमीन में तंदूर गाड़ते हुए आये थे। मगर उस समय तक भारी रोटियां थीं जिनमें घी का लगाव नहीं होता था। हिंदुओं की पूरियां तानने देखकर मुसलमानों ने तबे की रोटियों में घी का पुट देकर पगंठे ईजाद किये और फिर उनमें अनेक परतें और तहें देना शुरू कीं। फिर उभी पगंठे में पहली तबकी यह हुई कि बाकिरखानी<sup>3</sup> का रिवाज हुआ जो अमीरों के दस्तरखान की बहुत ही विशिष्ट रोटी थी। लखनऊ में महमूद ने बाकिरखानी पर बहुत तरक्की देकर शीरमाल पकायी जो मजे, वू-वास, नफासत आदि में बाकिरखानी और वैसे ही रोटियों की तमाम किस्मों से बढ़ गयी। शीरमाल आज तक सिवाय लखनऊ के और कहीं नहीं पकती और पकती भी है तो ऐसी नहीं पक सकती। चंद ही रोज में शीरमाल को ऐसी लोकप्रियता प्राप्त हुई कि वह लखनऊ की नेशनल रोटी करार पा गयी। यहां तक कि जिस दावत में शीरमाल न हो वह अधूरी समझी जाती है।

शीरमाल की ईजाद ने महमूद की ऐसी कद्र बढ़ायी कि शाही उत्सवों और समारोहों के लिए उसे कभी-कभी एक-एक लाख शीरमाल का आर्डर एक दिन में मिला और उसने भी ऐसा काफ़ी इतिजाम कर रखा था कि जितनी शीरमालें मांगी जातीं जुटा देता। महमूद का उत्तराधिकारी उन दिनों अली हुसैन था जो कई महीने हुए मर गया। मगर उसकी दुकान से आज भी जैसी उम्दा शीरमालें मिल सकती हैं और कहीं नहीं मिल सकतीं।

शीरमाल से भी ज्यादा मजेदार नान जलेबी होती है जो बड़े ध्यान से पकवाई जाती है और वही रकाबदार उसे तैयार कर सकते हैं जो इसके जान-

<sup>1</sup> एक प्रकार का शोरबेदार गोश्त जिसे मुबह नाश्ते के समय खमीरी रोटी से खाते हैं।

<sup>2</sup> एक रोगनी रोटी जो दूध में आटा गूंधकर बनाते हैं।

<sup>3</sup> शकर, दूध और मैदा मिलाकर बनी रोगनी रोटी।



कार हैं। बावरचियों को दावा है कि लखनऊ के बावरचियों से अच्छी नान जलेबी कोई नहीं पका सकता। परांठों में लखनऊ उसी दर्जे पर है जो दूसरे शहरों को हासिल है। इसमें जाहिर तौर पर कोई खास तरक्की नहीं हुई। बल्कि कहा जाता है कि दिल्ली के अच्छे नानबाई बहुत उम्दा क्रिस्म के परांठे पकाते हैं और सेर भर आटे में पूरा सेर भर घी खपा देते हैं। मगर जब मैं दिल्ली में ठहरा हुआ था मैंने कई बार मशहूर नानबाइयों से परांठ पकवाए, वेशक उन्होंने घी बहुत खर्च किया, मगर चूँकि आटे के अंदर घी नहीं दिया था इसलिए वे उसी समय तक खाने के योग्य थे जब तक कि ताज़े खा लिए जायें, ठंडे होते ही चमड़े हो गये।

रोटी को तोड़कर और उसमें घी-शकर मिलाकर मल देना एक आम और मामूली गिज़ा है जिसका अक्सर फ़ातिहा और नियाज़<sup>1</sup> में ज़्यादा रिवाज है। मगर शाही बावरचीखाने के बावरची ऐसा बढ़िया और स्वाष्टि मलीदा तैयार करते हैं जो कुछ बादशाहों को बहुत ही पसंद था और तारीफ़ यह थी कि मुंह में ग्रास लेते ही शर्बत बन जाये और मालूम हो कि चबाने या मुंह चलाने की बिल्कुल ज़रूरत नहीं।

इस रोटी के सिलसिले में यहां तक तरक्की हुई कि सिर्फ़ दूध की पूरियां पकाई जाने लगीं जिनमें आटे का बिल्कुल नाम न होता। सिर्फ़ दूध के पनीर में गुंथे हुए मैदे की शान पैदा कर ली और आखिर में यहां तक तरक्की हुई कि दूध की गिलौरियां और दूसरी तरह की चीज़ें तैयार होने लगीं। इसी तरह खालिस दूध की पंजीरी दस्तरख़ानों पर आती जो बहुत ही नफ़ीस और जो अमीरों को बहुत पसंद आती।

लेकिन मुसलमानों की नेशनल डिश यानी क़ौमी गिज़ा पुलाव और क्रोरमा है। लिहाज़ा सबसे ज़्यादा नज़ाकत और लताफ़त इन्हीं चीज़ों में दिखायी गयी। पुलाव के बारे में हम बहुत कुछ लिख चुके हैं फिर भी कुछ बातें बाक़ी रह गयीं। दौलतमंद और शौक़ीन अमीरों के लिए कस्तूरी और केसर की गोलियां खिला-खिलाकर मुर्ग़ तैयार किये जाते। यहां तक कि उनके गोश्त में इन दोनों चीज़ों की खुशबू रच-बस जाती और उनका हर रंग और रेशा मुअत्तर हो जाता। फिर उनकी यखनी निकाली जाती और उस यखनी में चावल दम दिये जाते।

<sup>1</sup> मुर्दे की बरसी या अन्य किसी अवसर पर तैयार किया जाने वाला खाना।



मोती पुलाव की यह शान थी कि मालूम होता चावलों में आबदार मोती मिले हुए हैं। उसके लिए मोतियों के तैयार करने की यह तरकीब थी कि तोला भर चांदी के वरक और माशा भर सोने के वरक अंडे की जर्दी में खूब मिला लिये जाते। फिर उसे मुर्ग के गले की नली में भर कर नली के हर जोड़ पर बारीक घागा कसकर बांध दिया जाता और उसे थोड़ा-सा उबालकर चाकू से नली की खाल फाड़ दी जाती और सुडौल, आबदार मोती निकल आते जो पुलाव में गोشت के साथ दम कर दिये जाते। बाज़ बावरची पनीर के मोती बनाते और उस पर चांदी का वरक चढ़ा देते। बहरहाल ऐसी-ऐसी नवीन-ताएं दिखायी जातीं कि और कहीं लोगों के खयाल में भी न आयी होतीं। कुछ बावरचियों ने पुलाव की तैयारी में यह विशेषता दिखाई कि गोشت की छोटी-छोटी चिड़ियां बनाकर और बड़ी सावधानी से इस तरह पकाकर कि सूरत न बिगड़ने पाये, प्लेट में बिठा दीं, चावलों की सूरत दाने की कर दी और मालूम होता कि हर मेहमान के सामने प्लेट में चिड़ियां बैठी दाना चुग रही हैं। फूले हुए समोसे जिनमें से तोड़ते ही लाल निकलकर उड़ जाते, हैदराबाद दक्खिन में शायद लखनऊ में बावरची पीर अली ने तैयार किये जो सरकारी डिनरों में मेज़ पर आये और प्रतिष्ठित अंग्रेजों और लेडियों को आनंदित किया। इसकी ईजाद सबसे पहले नसीरउद्दीन हैदर के दस्तरख्वान पर हुई थी मगर चिड़ियों वाला पुलाव जिसका जिक्र हम ऊपर कर आये हैं इससे बढ़कर था।

एक बावरची ने यह कमाल दिखाया कि दस्तरख्वान पर बड़े-बड़े सेर-सेर भर के अंडे उबले हुए और तले हुए पेश किये जिनमें सफेदी और जर्दी उसी आकार और अनुपात में क्रायम थी जो मामूली अंडों में हुआ करती है। बाज़ बावरचियों ने बादाम का सालन पकाया जो हबहू सेम के बीजों जैसा और मजे में उससे बढ़ा हुआ था। प्रधान मंत्री रौशनउद्दौला के बावरची ने कच्चे भुट्टों के लच्छे इस सफाई से काटे कि कहीं टूटने न पायें और उनका रायता ऐसा उम्दा बनाया कि जिसने चखा दंग रह गया।

हमारे 'मोज़िल रक़म' खुशनवीस मुंशी शाकिर अली साहब ने चावल पर 'कुल-ओ-अल्लाह'<sup>1</sup> लिखकर बेमिसाल कमाल दिखाया है। मगर यहां के एक बावरची ने शाही में खशखास के दानों में चारों तरफ खटमल के-से कांटे पैदा किये और उसे खास तरकीब से पकाकर दस्तरख्वान पर पेश किया था।

<sup>1</sup> क़ुरान की चार छोटी आयतें।



पीर अली लखनऊ का मशहूर बावरची हुजूर निजाम के बावरचीखाने में मुलाजिम था। एक बहुत क़ीमती और स्वादिष्ट अरहर की दाल पकाया करता जो लखनऊ के पुराने बादशाहों के बावरचीखानों में पका करती थी और सुलतानी दाल के नाम से मशहूर थी।

बाज बावरची मुसलम करेले ऐसी नफ़ासत और सफ़ाई से पकाते कि देखिये तो मालूम होता कि उन्हें भाप भी नहीं लगी है, वैसे ही हरे और कच्चे रखे हैं। मगर काट के खाइये तो बहुत ही मजेदार और स्वादिष्ट होते हैं। इसी तरह की एक घटना आजकल ही के ज़माने में हमारे दोस्त सैयद अली 'औसत' साहब को पेश आयी। उनका बयान है कि लखनऊ के मौजूदा खानदानी रईसों में से नवाब अली नकी खां ने एक दिन मुझ से कहा कि रात का खाना ज़रा इतिज़ार करके आइयेगा, मैं कुछ भेजूंगा। रात को वायदे के अनुसार खाने के वक़्त उनका आदमी एक ख़वान लेकर आया। मैंने शौक़ से ख़वान अपने सामने मंगवाकर खुलवाया तो उसमें सिर्फ़ एक प्लेट थी और उस पर एक कच्चा कद्दू रखा हुआ था। देखकर तबियत को बड़ी कोफ़्त हुई। निराश होकर मैंने मामा से कहा, "इसे लेजाकर रखो, कल पका लेना।" मगर शाहज़ादे साहब के आदमी ने हंसकर कहा, "इसे काटकर यों ही खाइए, पकाने की ज़रूरत नहीं।" अब मैंने जो उसे काटा तो बड़ी स्वादिष्ट और मजे की चीज़ नज़र आयी और ऐसा कभी नहीं खाया।

सच यह है कि बावरचियों ने इस क्रिस्म की चीज़ों में यहाँ अजीब-अजीब क़माल दिखाये थे। पीर अली रकाबदार मिठाई के अनार बनाता था ज़िम्में ऊपर का छिलका, अंदर के दाने, उनका क्रम और उनके बीज के पर्दे सब असली मालूम होते। दानों की गुठलियां बादाम की होतीं। नाशपाती के अर्क के दाने होते, दानों के बीच के पर्दे और ऊपर का छिलका दोनों शकर के होते।

आमतौर पर बावरची मुरब्बे और अचार वग़ैरा और तरह-तरह की मिठाइयां तैयार करते जिनमें सैकड़ों क्रिस्म की तरकीबें और अजीब-अजीब नफ़ासतें दिखायी जातीं। आम का मुरब्बा सवने खाया है मगर यहाँ बावरची साबित हरी कैरियों का मुरब्बा तैयार करते और उनमें वैसे ही हरे छिलके अपनी असलियत पर कायम रहते। वस यह मालूम होता कि ताज़ी कैरियां अभी नोड़कर लायी और शीरे में डाल दी गयी हैं।



ऊपर लिखे तक्ररुफों ने दावतों और हिस्सों के लिए जो खाने आमतीर पर मुकर्रर कर दिये थे उनके संग्रह का नाम 'तोरा' था जिनमें नीचे दी हुई गिजाएं अनिवार्य रूप से होती थीं : (1) पुलाव, (2) मुजाफर<sup>1</sup>, (3) मुतंजन<sup>2</sup>; (4) शीरमाल, (5) सफेदा (मीठे चावल जिनमें मुजाफर का रंग न दिया गया हो) (6) बूरानी<sup>3</sup> के प्याले, (7) शीरविरंज<sup>4</sup> के खवांचे, (8) क्रोरमा, (9) तली हुई अरबियां गोश्त में, (10) शामी कवाव, (11) मुरब्बा, (12) अचार या चटनी। अधिकतर तोरे में इनमें से कुछ चीजें कम-ज्यादा भी कर दी जातीं। मगर लखनऊ में आमतीर पर यही खाने ज्यादा प्रचलित थे और दावतों और हिस्सों में इनके सिवा और कोई चीज कम होती थी। दावतों में ये चीजें दस्तरख्वान पर हर शरूस के सामने अलग-अलग प्लेटों में चुनी जातीं और कहीं भेजना होता तभी तोरा लकड़ी के खवानों में रखकर बड़े व्यवस्थित ढंग से भेजा जाता।

अंग्रेजों में रिवाज यह है कि मेज फूलों, गुलदस्तों और तरह-तरह की चीजों से सजायी जाती है। इसका इतना नमूना यहां भी था कि अमीरों, नवाबों और शाहजादों में जो तोरे बांटे जाते उनमें खवानों के बीच में कागज के फूलों का एक गुलदस्ता भी रख दिया जाता जिसको आम जनता ने फिजूल समझकर छोड़ दिया।

जिन प्रतिष्ठित सरकारों और उच्च कोटि की ड्यूटियों में खाना जाता उनकी हैसियत और दर्जे के अनुसार तोरे में रखे जानेवाले खानों की गिनती भी बढ़ जाती। बादशाह के महल में खास जहांपनाह के लिए एक सौ एक खानों का तोरा जाता जिसकी लागत का अंदाजा पांच सौ रुपये का था। अवध के शासकों में वाजिद अली शाह के वालिद अमजदअली शाह बड़े संयमी और नमाजी-परहेजगार शासक थे। मनाही से बचते और शरीअत<sup>5</sup> की पूरी पाबंदी

<sup>1</sup> मीठा पुलाव । <sup>2</sup> पीठा पुलाव जिसमें खटाई भी डाली जाती है।

<sup>3</sup> बैंगन का रायता।

<sup>4</sup> दूध में पके हुए चावल, खीर।

<sup>5</sup> धर्मशास्त्र।



करते और कोई काम बिना अपने वाजिद की इजाजत के न करते थे। उन्होंने संयम के कारण देश का रुपया अपने ऊपर खर्च करना हराम समझा और अपने तमाम रिश्तेदारों से भी यही आशा की कि हमें दावत में बजाये खाने के तुम लोग नक़द रुपया भेज दिया करो। नतीजा यह हुआ कि लखनऊ पांच सौ रुपया भेज दिया करते। मगर उनके साथ नवाब साहब के लिए एक तोरा भी जरूर भेजा जाता जिसके लिए यह पाँच सौ रुपया न थी कि एक सौ एक ख्वान हों।

ख्वानों की शान आम सोसाइटियों में यह थी कि लखनऊ के ख्वान, उन पर रंगीन तीलियों का गुंबदनुमा भावा, उस पर एक सफ़द कपड़े का कसना जो चोटी के ऊपर बांध दिया जाता और शाही बावरचीखाने और प्रतिष्ठित अमीरों में नियम था कि उस बंधन पर लाख लगाकर मुहर भी कर दी जाती ताकि दरम्यान में किसी को उसे छेड़ने का मौका न मिले। फिर उस कसने के ऊपर बहुत ही साफ़-सुथरा रंगीन और रेशमी ख्वान होता। यह ख्वानपोश बड़ी सरकारों में अनिवार्य रूप से अतलस और कमख़्वाब या जरबपत के होते और कभी सिर्फ़ लचका टांक दिया जाता या कारचोब का काम होता।

मुमकिन है कि यह तरीका मुग़ल दरबार में जारी हो और वहीं से लखनऊ में आया हो। मगर हमने इन तकल्लुफ़ों को जिस पैमाने पर लखनऊ में देखा, दिल्ली में नहीं देखा। यहां खाने-पीने के छोटे-छोटे मामलों में भी यह तकल्लुफ़ लाजिमी और कुदरती-सा हो गया गया है। किसी मामूली शख्स के लिए भी सिर्फ़ पानी मांगा जाये तो सेवक बहुत ही साफ़-सुथरे ग्लास को थाली में रखकर और उसे ढंक कर लायेगा और बड़े आदर के साथ पेश करेगा।

इस शौक इस नफ़ासत और इन तकल्लुफ़ों ने सौ ही वरस के अंदर लखनऊ में ऐसे बाकमाल बावरची पैदा कर दिये जिनकी हिंदुस्तान के हर शहर और दरबार में शोहरत और क़द्र थी और मैंने हिंदुस्तान के तमाम मुसलमान दरबारों और रियासतों में जहां गया लखनऊ के ही बावरचीयों को पाया जिन्होंने खास अमीरों और नवाबों वगैरा के दिलों में जगह पैदा करली थी और उनकी बड़ी क़द्र होती थी। इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि अब हैदराबाद दक्खिन, भोपाल और रामपुर में बड़े-बड़े बाकमाल बावरची मौजूद हैं लेकिन अगर आप उनकी असलियत का पता लगायें, उनके खानदान का



पता लगाएं और उनकी प्रगति के इतिहास पर शोर करें तो यही साबित होगा कि वे बाबरची या तो लखनऊ के हैं या लखनऊ से आये हुए बाबरचियों की नस्ल से हैं, या किसी लखनवी बाबरची के शागिर्द हैं।

हम बाबरचीखाने का हिस्सा खत्म कर चुके, मगर अभी मिठाइयों का जिक्र बाकी है। मिठाइयों का बनाना हिंदू हलवाईयों का काम है और उन्हीं की मिठाइयों से आम पब्लिक परिचित है। लेकिन मिठाइयां तैयार करने में मुसलमान रकाबदारों का दर्जा बढ़ा हुआ है, वे जनता की जरूरतों को नहीं पूरा कर सकते, इसलिए यह हिंदू हलवाईयों का हिस्सा है। रकाबदार खास अभीरों और शौक़ीन और नफ़ासतपसंद अभीरों के लिए मिठाइयां तैयार करते हैं जो बेमिसाल और बहुत ही स्वादु होती हैं।

लखनऊ में दो तरह के हलवाई हैं—मुसलमान हलवाई और हिंदू हलवाई। मुसलमान हलवाईयों की शान यह है कि अगर आम क्रिस्म की मिठाई ली जाये तो उनकी दुकान की चीजें हिंदू हलवाईयों की दुकानों से अच्छी नहीं होतीं। लेकिन अगर फ़रमाइश करके उनसे खास क्रिस्म की मिठाई बनवाईये तो हिंदू हलवाईयों की मिठाई से बहुत ज़्यादा अच्छी और बहुत ही स्वादु होती हैं। लेकिन लखनऊ में आमतौर पर जलेबियां, इमरतियां और बालू शाही बहुत अच्छी बनती हैं।

मिठाइयों में यह फ़र्क़ करना मुश्किल है कि कौन असली हिंदुओं की है और कौन मुसलमानों के साथ हिंदुस्तान में आयी। लेकिन नामों और रुचि विशेष से यदि अनुमान लगाया जाये तो पता चलता है कि हलवा खालिस अरबी चीज़ है जो अरब, ईरान होता हुआ हिंदुस्तान में आया और अपना नाम भी साथ लेता आया। लेकिन यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें मतभेद है। तर हलवा जो आमतौर पर हलवाईयों के यहां मिलता है और पूरियों के साथ खाया जाता है वह खालिस हिंदू चीज़ है जिसे वे मोहन भोग भी कहते हैं। मगर हलवा सोहन की चार क्रिस्में पपड़ी, जूजी, हब्शी और दूधिया ये खालिस मुसलमानों की मालूम होती हैं। वर्तमान अरबी हलवे जो दक्षिण भारत में, विशेषकर मद्रास में प्रचलित हैं, उनके बारे में ठीक से नहीं कहा जा सकता कि वे कहां के हैं। अरबी हलवे वे हैं जो वास्तव में अरब से सीधे हिंदुस्तान आये हैं। बालूशाही, खुर्मे नुबितियां, गुलाबजामून, दरेबहिश्त वगैरा भी इस्लामी युग की देन हैं।



जलेबी को अरबी में जलाबिया कहते हैं और साफ़ मालूम होता है कि जलाबिया ही से बिगड़कर जलेबी शब्द बना है। इसलिए यह भी अरबी मिठाइयों में शामिल की जानी चाहिए। पेड़ा शुद्ध रूप से हिंदी मिठाई है और इमरतियां भी हिंदी हैं। मगर मुझे बताया गया है कि इमरती खास लखनऊ में ईजाद हुई। फ़िलहाल इन मिठाइयों के कारण लखनऊ की कोई विशेषता नहीं है। इस संबंध में जो नान भारत के अन्य बड़े शहरों का है कुछ वही लखनऊ का भी है बल्कि यह अजीब तमाशा नज़र आता है कि लखनऊ में तो आगरा और पंजाब के हलवाई ज्यादा मशहूर हैं और दूसरे शहरों में मुझे यह नज़र आया कि लखनऊ और उसके आसपास के हलवाईयों की अधिक प्रतिष्ठा है। दर-असल इस ख्याति या प्रतिष्ठा का संबंध किसी भी दुकान के चल जाने से है, इसलिए कि जिस हलवाई की दुकान जितनी अधिक चल जाती है उसे मिठाइयों में तरक्की करने का मौक़ा मिल जाता है।

हलवाईयों के बारे में यह निश्चित है कि हिंदू हलवाईयों का दर्जा बढ़ा हुआ है। मिठाइयों के जितने क्रद्वान हिंदू हैं, मुसलमान नहीं। मुसलमानों को शायद गोشت खाने की वजह से आमतीर से नमकीन खानों का ज्यादा शौक़ है। इसके विपरीत हिंदू मिठाइयों के ज्यादा शौकीन हैं। वे सिर्फ़ मिठाइयों से पेट भर लेते हैं जो मुसलमानों के लिए संभव नहीं। हिंदुओं के मिठाई के शौक़ के ही कारण मथुरा, बनारस और अयोध्या जो हिंदुओं के तीर्थस्थान हैं, मिठाइयों की क्रिस्मों और स्वाद की दृष्टि से दूसरे नगरों से अधिक प्रसिद्ध हैं।

मगर हलवा सोहन के बनाने में मुसलमान रकाबदारों के अलावा और बहुत से लोगों ने भी ख्याति प्राप्त की। आखिर ज़माने में यहां के मशहूर खुशनवीस मुंशी हादी अली साहब ने पपड़ी हलवा सोहन में खास नामवरी हासिल की। वह सेर भर समनक में तीस सेर घी खपा देते और उसकी टिकियों पर अजीब-अजीब तरह के खूबसूरत बेल-बूटे बनाते जिससे हलवा सोहन बन्नाने के साथ खुशनवीसी और नक्काशी के कमाल भी जाहिर होते।

उसके बाद मैंने मटिया बुर्ज में मुंशीउस्सुलतान बहादुर को जो लखनऊ के रईसजादे थे अपनी आंखों से अक्सर देखा कि छटांक भर समनक में दो-ढ़ाई सेर घी खपा देते जो फ़ी सेर चालीस सेर के करीब पड़ा। उनका पपड़ी हलवा सोहन बजाये पीले के घुले हुए कपड़े की तरह उजला और सफ़ेद होता।



बाबरचीखाने और खानों की ईजाद और तरक्की के बारे में हम काफी कुछ लिख चुके हैं, लेकिन इतना और कहना चाहते हैं कि यहां और आम एशियाई देशों में स्वादिष्टता पैदा करने के साथ इस बात को भी महत्व दिया जाता था कि स्वाद के साथ खानों में उच्च कोटि की आनंदप्रद सुगंधियां भी पैदा की जायें, रंग सुंदर और आकर्षक हों, देखने में मनोमुग्धकारी और रुचि दिलाने वाले हों। अगर्चे हिंदुस्तान के तमाम शहरों में जहां लोगों को अच्छा खाने का शौक है इन सभी बातों की कोशिश की जाती है, मगर इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि लखनऊ सब जगहों से ज्यादा कामयाब रहा है। यहां लगभग हरेक व्यक्ति में एक समुचित रुचि पैदा हो गयी। अच्छे बाबरची ही नहीं पैदा हुए बल्कि शिष्ट और सभ्रांत घरानों की स्त्रियों में रकाबदारों से ज्यादा स्वभाव में सफाई और नफासत और हर काम करने का ढंग पैदा हो गया। कोई ऐसा प्रतिष्ठित परिवार नहीं है जिसकी सम्मानित महिलाओं में से हरेक खाना पकाने में कुशलता न रखती हो और उसे किसी अच्छी गिजा के तैयार करने में दाना न हो।

खाने के पकाने से ज्यादा या उसी के बराबर जरूरत खानों के निकालने में अच्छा सलीका दिखाने और निकालने के बाद उसे सजाने की है। योरूप में आजकल प्रचलन यह है कि मेज खूब सजायी जाती है, उस पर जगह-जगह गुलदस्ते लगाये जाते हैं और बाज जगह तकल्लुफ के तौर पर कच्चे चावलों को विभिन्न रंगों में रंगकर मेज पर उनके अक्षर और बेल-बूटे बना दिये जाते हैं। बर्तन भी बहुत ही साफ-सुथरे, कीमती और अक्सर चांदी के इस्तेमाल किये जाते हैं। मगर खास खाने की सजावट का अंग्रेज बाबरचियों या खान-सामाओं को बिल्कुल खयाल नहीं होता सिवाय इसके कि शायदियों के केक जो अमीरों और लाडों के शादी के दिनरों में बड़े ढंग से बुजों या खूबसूरत इमारतों की शकल के बनाकर उस दिनर की मेज पर लगा दिये जाते हैं।

इसके खिलाफ हिंदुस्तान में दस्तरखवान की सजावट की ओर तो कम ध्यान दिया जाता है मगर खुद खाने बड़ी सफाई से निकालकर सजाये जाते हैं, उन पर चांदी सोने के बरक लगाये जाते हैं। पिस्ते और बादाम की हवा-



इयों से बेल-बूटे और रंग-विरंगे फूल बनाये जाते हैं। खोपरे के वरक काट-काटकर बड़े अच्छे तरीके से उन पर सजाये जाते हैं। इस कला में रकावदारों को विशेष दक्षता प्राप्त है बल्कि उनका काम यही है कि जिस खूबी से खानों को तैयार करें उससे अधिक कुशलता से उनको सजायें और हर प्लेट को एक गुलदस्ता बना दें।

लखनऊ में ये तकल्लुफ पेशेवर बावरचियों और रकावदारों से शुरू होकर शरीफ लोगों के ग्राम घरों में पहुंच गये और स्त्रियों को उसमें ऐसा अच्छा सलीका हो गया कि जो खूबी प्लेटों के सजाने में अक्सर वे दिखाती हैं खुद रकावदारों से भी मुमकिन नहीं हालांकि यह खास उन्हीं का हुनर है। योरुप के अनुसंधाताओं ने तय कर दिया है कि स्त्रियों को ललित कलाओं से विशेष रुचि होती है। विशेष रूप से किसी चीज को सजाने और सलीके से पेश करने में उनको स्वभावतया पुरुषों से श्रेष्ठता प्राप्त है। इसका सबूत हिंदुस्तान में लखनऊ की उन औरतों के स्वभाव से मिल सकता है जो खानों के सजाने में कमाल दिखाया करती हैं।

हिंदुस्तान के विवाह के केक जिनका जिक्र अभी हो चुका है जो ग्रामतीर से रस्म के तीर पर शादियों में दूलहा-दुलहनों के सामने लगाये जाते हैं उन्हें अक्सर घरों की औरतें ऐसी सफ़ाई और कुशलता से सजाती हैं कि जी चाहता है बैठे उन्हें देखा कीजिये।

खाने के साथ ही आबदारखाने की तरक्की का उल्लेख कर देना भी दिल-चस्पी से खाली न होगा। आबदारखाना बादशाहों और अमीरों के पानी के इतिजाम का नाम है। उन दिनों वर्षा न थी और कुछ मौसमों में ठंडा पानी मिलना बहुत ही मुश्किल होता था। इसके लिए उन दिनों खास इतिजाम किये जाते थे : पानी कोरे घड़ों में भरकर रखा जाता, नाजुक और साफ़-सुयरे मिट्टी के प्याले पीने के लिए मौजूद रहते। घड़ों और प्यालों पर सुखं कपड़ा चढ़ा दिया जाता और वह तर रखा जाता इसलिए कि हवा लगने से भीगा कपड़ा खूब ठंडा हो जाता यहां तक कि गर्म हवा और लू भी जितनी ज्यादा गर्म होती उतना ही ज्यादा कपड़े को ठंडा कर देती और कपड़े की ठंडक अंदर के पानी को ठंडा करती। अक्सर भभरियां और सुराहियां बल्कि घड़े भी मुंह पर कपड़ा बांधकर किसी पेड़ की शाखाओं में उल्टे लटका दिये जाते। हवा का अंदर प्रवेश न होने के कारण पानी न गिरता और खूब ठंडा हो जाता। बर-



सात में जब यह तदबीर भी कामयाब न होती तो अक्सर घड़ें भरकर कुंभों के अंदर लटका दिये जाते जहां उनमें खूब ठंडक पैदा हो जाती ।

इसके अलावा सबसे बड़ा इतिजाम यह था कि जस्त की नाजुक सुराहियां मौजूद रहतीं और वे नादों में शोरा और पानी डालकर उसमें फिराया जातीं । इस तरकीब से थोड़ी देर में पानी में बर्फ की-सी ठंडक बहुत ही सुखद होती । इस तरकीब को सुराहियों का भूलना कहते थे ।

बाद के जमाने में बर्फ जुटाने की भी एक अच्छी युक्ति निकाल ली गयी थी । सख्त सर्दों के दिनों में खेतों और खुले मैदानों में रात को मिट्टी की रकबियों और प्यालों में गरम-गरम पानी भरकर रख दिया जाता जो सुबह को जमा हुआ मिलता । उस बर्फ को उसी वक्त फौरन ज़मीन के अंदर गहरे खेतों में जो पहले से खुदे तैयार रहते, दबा देते और उनमें यह बर्फ जब तक दबी रहती अपनी हालत पर कायम रहती । बहरहाल इस तरकीब से इतनी बर्फ बनाकर खेतों में भर दी जाती कि साल भर के लिए काफी होती और उसी में से हर रोज़ निकाल ली जाती । मगर यह बर्फ इतनी साफ़ न होती कि पानी में मिलाई जाये बल्कि शोरे की तरह उसमें नमक और शोरा मिलाकर सुराहियां भूली जाती या बर्फ की कुलफियां जमायी जातीं ।

मगर यह इतिजाम खास बादशाहों या उन्हीं की कोटि के अमीरों तक सीमित रहता । गरीब लोग इससे फ़ायदा न उठा सकते । गरीब और मध्यम वर्ग के लोग इन्हीं युक्तियों से काम लेकर पानी ठंडा करते और यही प्रबंध इतना आम हो गया था कि थोड़ा-बहुत हर घर में रहता ।

बहरहाल लखनऊ में पानी का यह प्रबंध उन दिनों हुआ करता था और स्वभाव की स्वच्छता ने यह रूप धारण कर लिया था कि मिट्टी और जस्त की सुराहियों और ऐसे ही प्यालों पर अक्सर टूल का कपड़ा चढ़ा रहता और उस पर रुपहला गोटा खूबसूरती से लपेटकर उनमें ऐसा आकर्षण पैदा कर दिया जाता कि पीना दरकिनार उसके बर्तन देखकर आंखों में ठंडक पैदा हो जाती ।

मुझे यह नहीं मालूम कि आबदारखाने का यह इतिजाम जो मैंने बयान किया है पूरा-पूरा दिल्ली में था भी या नहीं शायद वहां जरूर होगा । और वहीं से ये सब चीज़ें लखनऊ में आयी होंगी, मगर मैंने उस इतिजाम और सामान को जितना आम लखनऊ के लोगों में देखा था, दिल्ली में नहीं देखा ।



मुमकिन है कि वहां भी ऐसा ही हो लेकिन इसमें शक नहीं किया जा सकता कि लखनऊ में आकर मिट्टी के बर्तन की नफासत और नजाकत बहुत बढ़ गयी इसलिए कि यहां की मिट्टी की अच्छाई की वजह से जैसे नाजुक और खूबसूरत मिट्टी के बर्तन लखनऊ में बन सकते हैं और कहीं नहीं बन सकते। दिल्लीवालों के पास जस्त की सुराहियां ऐसी ही होंगी मगर ऐसी मिट्टी की सुराहियां वहां किसी को नसीब नहीं हो सकीं। मिट्टी के बर्तनों का वर्णन हम आगे किसी उचित अवसर पर करेंगे।

बादशाहों के साथ जहां वे जायें बाबरचीखाना और आबदारखाना भी जाया करता था, लेकिन यहां आबदारखाने का इंतजाम दूसरे अमीरों के यहां भी इतना बढ़ गया था कि बहुत से अमीर तो ऐसे थे जो अपना आबदारखाना अपने साथ रखते थे। चुनांचे मिर्जा हैदर साहब का आबदारखाना और भिडी-खाना इसी दानशीलता के सिद्धांत पर आधारित था कि वह जिस शादी में जाते सारी महफिल को पानी और हुक्का पिलाने का इंतजाम उन्हीं के सुपुर्द हो जाता और महफिल में उनकी शिरकत बहुत से लोगों के लिए एक अप्रत्याशित वरदान साबित होती।

### [ 30 ]

अब हम उस दरबार और लखनऊ के लिबास पर बहस करना चाहते हैं जो दरअसल बहुत ही दिलचस्प बहस है।

पहले अरब मुसलमान जो यहां पहुंचे, वे हालांकि कूर्ते, तहमत और चुगे पहनते थे, मगर लिबास वगैरा में वे यहां के लोगों से कुछ श्रेष्ठतर नहीं थे। लिबास में तरक्की उस वक्त से शुरू हुई जब सासानी संस्कृति अपनाकर बगदाद के अब्बासी दरबार ने अरब के शरीफ लोगों के लिए पायजामे, चुगे और सुंदर अमामे (पगड़ी) ईजाद किये जो लिबास की पूरी तरह या ज्यादातर सासानी दरबार के अमीरों और सरदारों के लिबास की नकल था। चंद ही दिनों में यही लिबास उन तमाम मुसलमानों का हो गया जो मिश्र से सिंधु नदी के किनारे तक फैले हुए थे। और अंत में वे उसी लिबास को लिये हुए हिंदुस्तान में आये। तस्वीरों में जो लिबास प्रारंभ के मुसलमान शासकों का नज़र



आता है वह करीब-करीब वही है जो ईरानी और अब्बासी अमीरों और शासकों का था। फर्क सिर्फ इतना था कि यहां के सुल्तान और राजाओं के अनुकरण में जवाहिरात बहुत ज्यादा पहना करते थे।

दिल्ली में मुगल दरबार का आखिरी लिबास जो हमें मालूम हो सका यह था कि सिर पर पगड़ी, बदन में नीमाजामा,<sup>1</sup> टांगों में टखनों से ऊंचा तंग मोहरी का पायजामा, पांव में ऊंची एड़ी का जूता और कमर में जामे के ऊपर पटका। बस यही दिल्ली के पुराने शरीफों की भूषा थी जिसमें मुहम्मद शाह रंगीले के जमाने तक किसी तरह का रद्दोबदल नहीं हुआ था और अगर हुआ भी हो तो इतना न था कि हमें नजर आ सके।

इस लिबास में नीचे से मतलब कुहनियों तक की आधी आस्तीनों का शलूका था और सामने सीने पर उसमें घुंड़ियां लगायी जाती थीं। उसे नीचे पहनकर उसके ऊपर पायजामा पहना जाता था जो ईरानी चुंगे में तरमीम करके बनाया गया था। इसमें गरीबान न होता था बल्कि दोनों तरफ के किनारे जो पर्दा कहलाते थे तिरछे एक-दूसरे पर आकर सीने को ढंक देते। सीने का ऊपरी हिस्सा जो गले के नीचे होता है, उसी तरह खुला रहता जैसे आजकल अंग्रेजी कोटों में खुला रहता है और जिस तरह फिलहाल कमीस सीने के ऊपर वाले हिस्से को छिपाती है उसी तरह उन दिनों नीमा उसे ढंके रखता। सीने पर जामे का वह पर्दा जो बाईं तरफ से आता, नीचे रहता और दाहिने पहलू पर बंदों से बांध दिया जाता और उस पर दाहिनी तरफ का पर्दा रहता जो ऊपर बायें पहलू में बांधा जाता। फिर उसमें कमर के पास के दामन के बजाये एक स्कर्ट-सी जोड़ दी जाती जो टखनों के ऊपर तक लटकी रहती, उसमें बहुत-सी चुन्चट दी जातीं और उसका घेर बहुत बड़ा होता। जामे की आस्तीनें आधी कलाई तक बिना सिली और खुली रहतीं और वे दोनों तरफ लटका करतीं। उसके नीचे सीधी-सादी तंग मुहरियों का पायजामा होता जो अमीरों में मशरू और गुलबदन<sup>2</sup> का हुआ करता। फिर जामे के ऊपर कमर में पटका बांध लिया जाता।

दो-तीन सदी पहले हमारे बुजुर्गों और हिन्दुस्तान के अमीरों और तमाम शरीफों का यही लिबास था। टोपियों, पगड़ियों और पायजामों में जो सुधार हुए उनका ब्यौरा हम बाद में देंगे। फिलहाल हम जिस्म के दरम्यानी हिस्से

<sup>1</sup> जामे के नीचे पहनने का एक पहनावा।

<sup>2</sup> रेशमी कपड़े की क्रिस्में।



के लिबास का जिक्र करते हैं जो सच पूछिये तो असली लिबास है और उसी से इन्सान की वेषभूषा स्थिर होती है। यही उस दौर का दरबारी लिबास था और लिबास पहने हुए नवाब बुरहान-उल-मुल्क मंसूर जंग और शुजाउद्दौला दिल्ली से अवध में आये थे। जामा आमतौर पर बारीक मलमल का होता जो हिंदुस्तान के विभिन्न शहरों में बहुत नफीस, बारीक और हल्की बना करती और सारी दुनिया में मशहूर थी। ढाके की मलमल और जामदानी ऊंचे वर्ग के अमीर और बादशाह ही पहना करते थे।

उसके बाद ईरानी क़वा<sup>1</sup> के अनुकरण में बालाबर<sup>2</sup> ईजाद हुआ जिसमें गोल गरीबान बिल्कुल खुला रहता इसलिए कि सीने के ढांकने के लिए नीमा काफ़ी था जो उसके नीचे भी पहना जाता। चुन्ट और घेर उसमें से निकाल दिया गया और इस ज़रूरत से कि दामन आगे की तरफ न खुलें। दाहिने दामन में एक चौड़ी कली लगा दी जाती। यही कली उस कली का पहला रूप है जो आजकल शेरवानियों में बाईं ओर नीचे से लेजाकर बंद से बांधी या हुक से अटकाई जाती है। बालाबर भी दिल्ली की ही ईजाद है।

इसी बालाबर पर तरक्की करके दिल्ली में अंगरखा ईजाद किया गया जिसमें दरअसल जामा और बालाबर दोनों को मिलाकर एक नया लिबास तैयार किया गया। इसमें सीने पर की चोली क़वा से ली गयी, मगर सीना खुला रखने की जगह एक गोल और लंबोतरा गरीबान बढ़ाया गया जिसके ऊपर गले के नीचे एक अर्धचंद्राकार कंठा लगाया जाता और वह बाईं तरफ गर्दन के पास घुंड़ी तकमें से अटका दिया जाता, चोली नीचे रहती जिसमें पहले दाहिनी तरफ का पर्दा नीचे बग़ल में बंदों से बांधा जाता और फिर ऊपर बंद होते जिससे दोनों तरफ के पर्दे सीने के नीचे बीचों-बीच में लाकर बांध दिये जाते, उसमें बायीं ओर थोड़ा-सा सीना खुला रहता, चोली नीची रहती और नीचे दामन हालांकि क़वा के से होते मगर पुराने जामे की याद-गार में दोनों पहलुओं पर बग़लों के नीचे चुन्ट जरूर रखी जाती।

यह पुराना अंगरखा था जो दिल्ली के आखिरी दौर में रिवाज पा चुका था और वहां से सारे हिंदुस्तान में फैल गया। लखनऊ में आने के बाद इस अंगरखे में ज़्यादा चुस्ती और काट-तराश पैदा की गयी। चोली खूब गोल,

<sup>1</sup> चुगा।

<sup>2</sup> अंगरखे का एक भाग।



ऊंची और खिंची हुई चुस्त हो गयी। बगलों की चुन्नट बिल्कुल निकल गयी। दामनों में बजाये मोड़कर टांक देने की संजाफी गोट लगाई गयी। फिर उसके बाद नवावजादों और कपड़े पहनने के शौक्तीनों ने एक कमर-तोई के बदले जो चोली के नीचे बंद लगाने की जगह पर होती, प्लेटों की तरह तीन-तीन कमरतोइयां लगायीं। जगह-जगह गोट और कमरतोइयों के पास कटाव का काम बनाया।

दिल्ली में अंगरखे के बाद नीमा छूट गया था और बायीं ओर सीने का खुला रहना बुरा न था बल्कि फैशन माना जाता। लखनऊ में उसके नीचे नीमे के बजाये शलूका ईजाद हुआ जिसमें आगे की तरफ बूताम (बटन) लगाये जाते इसलिए कि अब योरुप के बूताम यहां पहुंच गये थे। शलूकों में फैशन दिखाये जाते। नाजुकमिजाज लोग जाली या बावरलेट के चुस्त शलूके पहनते जिनमें कच्चे सूत के बेल-बूटे काढ़े जाते। वाज लोग रंगीन शलूके पहनते इसलिए कि उसके बेल-बूटे और उसका रंग तंजेब के सफेद अंगरखे के नीचे से अपनी झलक दिखाकर खास भफासत पैदा करते।

दूसरा सुधार बालावर में दरवार के लखनऊ आने के बाद यह हुआ कि चिकन के नाम से एक चुस्त कंबा ईजाद हुई। इसमें वैसा ही गोल गरीबान रखा गया और उसमें अंगरखे की तरह सीने पर पर्दा भी लगाया गया, मगर वह पर्दा दाहिनी तरफ अर्ध-वृत्ताकार ढंग से बूतामों से अटककाया जाता। इसमें दाहिनी तरफ गले के पास से बूतामों का एक खूबसूरत घनुष गोलाई लेता हुआ गोद तक आता और उसकी दूसरी तरफ के अर्ध-वृत्त में असली कंबा में सी दिया जाता। इसमें भी बालावर की तरह चौड़ी कली ऊपर लगायी जाती जो बगल के नीचे बायीं तरफ बूताम या घुंडी से अटका दी जाती। यह चिकन जोशाली या किसी और भारी कपड़े की होती और जाड़ों के मौसम के लिए ज्यादा मुनासिब थी। एक जमाने में यहां दरवारी और अहलकार बगैरा की यही सम्मानित वेशभूषा थी। इसे अंग्रेजों ने भी बहुत पसंद किया और अपने नौकरों को एक मुद्दत तक वही पहनाते रहे।

सबसे बाद लखनऊ के बिल्कुल अंतिम काल में चपकन और अंगरखे दोनों को मिला देने से अचकन ईजाद हुई। इसमें अंगरखे और अचकन का-या गरीबान कायम रखा गया जो बीच से सीधा काटकर आधा-आधा दोनों तरफ सी दिया जाता और सिलाई की जगह पर संजाफी गोट के जरिये से गरीबान



की गोलाई और काट बाकी रखी जाती। बीच के चाक में, जो गले से लेकर सीधा गोद तक आता, वूताम लगा दिये जाते। वह बालावर की कली जो ऊपर लगायी जाती थी इसमें नीचे कर दी गयी ताकि दामन भी न खुले और बालावर की कली के ऊपर की तरफ लगाने से जो कुरुचि प्रकट होती थी, दूर हो जाये। अचकन का नीचे का हिस्सा बिल्कुल चपकन और अंगरखे का-सा होता। शौकीन लोग इसमें भी वैसी ही गोठ और उसी तरह की तीन कमरतोइयां और कटाव का काम बनाते।

यह आखिरी ईजाद—अचकन—लोगों को बहुत पसंद आयी। इसका रिवाज शहर से गुजरकर देहातों में शुरू हुआ और देखते-देखते सारे हिंदुस्तान में फैल गया। यही अचकन हैदराबाद पहुंचकर थोड़ी-सी तरसीम के बाद शेरवानी बन गयी। वहां इसकी आस्तीनें अंग्रेजी कोट की-सी कर दी गयीं। गरीबान जो गोठ लगाकर सीने पर रखा जाता था, निकाल डाला गया। काट-तराश में अंग्रेजी कोट की शैली दामनों वगैरा में भी अपनायी गयी और वह लिबास ईजाद हो गया जो आजकल हिंदुस्तान के हिंदु-मुसलमान तमाम लोगों की राष्ट्रीय वेशभूषा कहलाने के योग्य है। लखनऊवालों ने भी चंद रोज बाद जब अपनी पुरानी ईजाद में हैदराबाद का संशोधन देखा, जो मुनासिब भी था, तो उसे बहुत ही पसंद किया। और थोड़े ही समय में शेरवानी का रिवाज हर शहर और कस्बे की तरह लखनऊ में भी हो गया।

अंगरखे के नीचे जो शलूका पहना जाता था उसके बदले पहले ढीला और ऊंचा कुर्ता अपनाया गया और कुछ रोज बाद पश्चिमी प्रभाव ने कुर्ता छुड़ाकर अंग्रेजी कमीस को रिवाज दिया जिसमें कफ़ और कालर होते हैं। कमीस और कालर के रिवाज ने शेरवानी की बनावट और बढ़ा दी यानी यह जरूरी हो गया कि सफ़ेद कालर ऊपर निकला रहे और शेरवानी का ऊपर का सिरा अगले पर हुक से अटकाकर कमीस के उस ऊपरी वूताम के नीचे रहे जिसमें कालर लगाया जाता है। आस्तीनें इतनी रही कि कफ़ों का कुछ हिस्सा निकला रहे। शिक्षित और मध्यम वर्ग के लोगों का लिबास दूसरे शहरों की तरह फ़िलहाल लखनऊ में भी यही शेरवानी है मगर यह लखनऊ की ही विशेषता नहीं क्योंकि लखनऊ की ईजाद तो अचकन पर समाप्त हो गयी और जिसका अब क़रीब-क़रीब रिवाज ही ख़त्म हो गया है।



जिस्म के दरम्यानी हिस्से के लिबास का हाल हम वयान कर चूके हैं। लिहाजा अब लिबास के उस हिस्से की तरफ ध्यान देते हैं जिसका संबंध सिर से है और इसी लिबास की हिंदुस्तान में ज्यादा इज्जत की जाती है इसलिए कि जिस तरह सिर सारे जिस्म में प्रमुख है उसी तरह उसके लिबास को भी अधिक प्रधानता मिलनी चाहिए। प्राचीन काल से हिंदुस्तान में पगड़ी बांधने का रिवाज चला आता है। अगर्चे अरब और ईरानी भी अमामे बांधे हुए यहां आये और उनकी हुक्मत क़ायम हो जाने की वजह से यहां की पगड़ियों में बहुत-कुछ तब्दीली आ गयी लेकिन यह नहीं कह सकते कि मुसलमानों के आने से पहले यहां पगड़ी न थी।

प्रारंभिक काल के मुसलमान शासकों के अमामे बड़े-बड़े थे और इसी लिहाज से उन दिनों सभी प्रतिष्ठित लोग और सामंत तथा धनिकों की पगड़ियां भी संभवतः बड़ी-बड़ी होंगी जिनके नीचे प्राचीन तुर्की ढंग की नौकदार और शंक्वाकार टोपियां होतीं जो अफ़ग़ानिस्तान में आजकल प्रचलित हैं और उन्हीं से लेकर हमारी हिंदुस्तानी फ़ौज की वर्दियों में शामिल की गयी हैं।

मुग़ल शासन-काल में पगड़ियां रोज़-बरोज़ छोटी होने लगीं और उसकी वजह यह है कि ठंडे देशों में जिस तरह सर्दी से बचने के लिए जो-जो ज़माना गुज़रता है, लिबास वज़नी और गंदा होता जाता है, वैसे ही गरम देशों में हल्का और कम से कम होता रहता है। प्राचीन मुसलमान विजेता जैसे भारी और मोटे कपड़े पहने हुए यहां आये होंगे, उनके वज़नी होने का अंदाज़ा तो हम सिर्फ़ कल्पना से कर सकते हैं, मगर अंग्रेज़ों को अपनी आंख से देख रहे हैं कि उनका और उनकी औरतों का लिबास रोज़-बरोज़ कितना कम और हल्का होता जाता है।

इसी नियम के अनुसार यहां पगड़ियां रोज़-बरोज़ हल्की और छोटी होती गयीं और देश का यह रुझान दरबार के फैशन पर भी असर डालता गया। मुग़ल दरबार के अंतिम काल में अमीर और मंसबदारों की पगड़ियां बहुत हल्की हो गयी थीं और थोड़े लिबास की इसी प्रवृत्ति ने यह बात पैदा की कि पगड़ियों के सैकड़ों फैशन हो गये और अबसर अमीरों ने अपने लिए खास बंदिश



और खास तरह की छोटी-छोटी पगड़ियां ईजाद कर लीं ।

पगड़ियों के छोटे होने ने तुर्की टोपी को छुड़वा दिया और यह हालत हो गयी कि किसी की पगड़ी के नीचे टोपी होती ही न थी और बाज़ पहनते भी थे तो किसी बहुत ही बारीक कपड़े की ज़रा-सी टोपी जो फूंक में उड़ जाये । इन टोपियों के बारे में हमें निश्चित रूप से नहीं मालूम है कि किस फ़ैशन की होती थीं । शायद उन टोपियों की बनावट उन टोपियों की बनावट से मिलती हुई होगी जो अब शेखों और फ़कीरों के सिरों पर होती हैं यानी एक छह-सात उंगल की चौड़ी पट्टी का सिर के बराबर एक घेरा बनाया जाये और ऊपर की तरफ चून्त देकर वह समेट दिया जाये ।

लेकिन चंद रोज़ में ज़रूरत महसूस हुई कि घर में और बेतकल्लुफी की मह-फ़िलों में पगड़ी उतारकर रखदी जाया करे । लेकिन नंगे सिर रहना चूँकि बुरा समझा जाता है इसलिए किसी क्रिस्म की टोपी सिर पर ज़रूर है । इस ज़रूरत के पूरा न करने के लिए दिल्ली में ताज के आकार से लेकर एक कमरखी टोपी बनायी गयी जिसमें उस गोल घेरे के ऊपर जो सिर में पहना जाता था चार कोने निकले रहते । इस फ़ैशन की टोपी अब भी दिल्ली के कुछ अमीरों और शाहजादों के सिरों पर नज़र आ जाया करती है । यह टोपी सही मानो में चौगोशिया<sup>1</sup> कहलाती थी । चंद रोज़ के अंदर इस टोपी में भी रहोबदल शुरू हुआ और दिल्ली में ही कमरखी कोने निकालकर एक गोल क़बानुमा टोपी ईजाद हुई जिसमें चार पान ऐसी बनावट के काटकर जोड़े जाते कि एक लंबो-तरा क़बा सिर पर नज़र आता । यही टोपी पहने हुए लोग लखनऊ में आये और उस वक़्त से उसमें लखनऊ के दरबार का असर पड़ना शुरू हुआ । यहां इसमें पहली तब्दीली यह हुई कि पानों के जोड़ों पर लंबी सुराहियां बनायी गयीं और उन सुराहियों के दरम्यान सुंदर चांद बनाये गये । ये चांद और सुराहियां इस तरह बनायी जातीं कि बारीक तंज़ेब के पानों में नैनमुख की सुराहियां और चांद काटकर अंदर की तरफ टांक दिये जाते जो ऊपर दिखाई देते और टोपी में एक अच्छी सफाई और सादगी पैदा करते । यह टोपी यहां बहुत पसंद की गयी । आम लोगों ने यकायक पगड़ी बांधना छोड़ दिया और हर सम्म और शिष्ट व्यक्ति के सिर पर यही टोपी नज़र आने लगी ।

इस टोपी की लोकप्रियता के कारण इसकी बनावट में और सुधार हुआ ।

<sup>1</sup> चार तिकोने टुकड़ों की बनी हुई टोपी ।



लंबोतरापन खत्म होकर उसमें बहुत ही मुनासिब गोलाई पैदा की गयी और लकड़ी और ताँबे के साँचे ईजाद हुए ताकि उन पर खेंचकर ये चौगोशिया टोपियां (जो दिल्ली वाली पुरानी कमरखी टोपियों का नाम अपने साथ लेती आयी थीं) खूब क़वादार और गोल कर ली जायें ।

इतने में नसीरउद्दीन हैदर का ज़माना आया जबकि लखनऊ में शीआ मज़हब काफ़ी तरक्की पर था और मज़हब, राजनीति, संस्कृति, और समाज-व्यवस्था हर चीज़ में अपनी रुचि के अनुसार कर रहा था । अरब के खली-फ़ाओं के विरोध और पंजतन<sup>1</sup> के प्रेम ने लखनऊ की समाज-व्यवस्था में चार की संख्या को अप्रिय और पाँच की संख्या को प्रिय बना दिया था जिसका असर टोपी पर पड़ा कि कुछ प्रामाणिक हदीसों के आधार पर जहाँपनाह ने खुद यह हिदायत दे दी कि उस चौगोशिया टोपी में चार की बजाये पाँच पान कर दिये गये जिसकी वजह से उसमें पाँच सुराहियाँ और पाँच पान हो गये और नाम भी बजाये चौगोशिया के पंजगोशिया करार दिया गया । लेकिन असल टोपी में जो सुधार हुआ था वह ऐसा स्थायी हो गया कि चार पानों की टोपियां बिल्कुल नष्ट हो गयीं और किसी को याद भी न रहा कि कभी उनमें सिर्फ़ चार पान हुआ करते थे । मगर चौगोशिया का नाम न मिट सका । आज-तक बाकी है और ज़बानों पर वही है । हालाँकि कुछ लोग पंचगोशिया भी कहते हैं मगर ज्यादा लोग ऐसे ही हैं जो इस पाँच पानों वाली टोपी को आज तक चौगोशिया कहते हैं ।

अवध के शासक नसीरउद्दीन हैदर ने यह पाँच पानों वाली टोपी शुरू में तो ख़ास अपने लिए ईजाद की थी और उनकी ज़िदगी में रियाया में से किसी की मज़ाल न थी कि उस टोपी को पहने । मगर शहर वालों को टोपी का यह फ़ैशन ऐसा पसंद आ गया था कि उनकी आँख बंद होते ही हर छोटे-बड़े ने उसी को अपना लिया था और लखनऊ के सारे शिष्ट और सम्य लोगों के सिरों पर यही गोल क़वानुमा टोपी नज़र आती थी ।

चंद रोज़ बाद जाड़ों की ज़रूरत से इसी किस्म की बड़ी सुंदर कामदार टोपियां ईजाद हो गयीं जिनमें पाँचों पानों में ज़रबत या ज़री बूटी की ज़मीन पर दूसरे रंग की रेशमी ज़मीन देकर फ़ीतों से चांद और सुराहियां बनायी

<sup>1</sup> पाँच व्यक्ति अर्थात् हज़रत मुहम्मद, हज़रत अली, हज़रत फ़ातिमा (उनकी पत्नी) और उनके दोनों पुत्र इमाम हसन और इमाम हुसैन ।



जाती थीं और सभी फ्रैशनेबुल लोगों के सिरों पर जाड़ों के मौसम में उनके सिवा और कोई टोपी न होती थी। उसके बाद जब चिकन का रिवाज हुआ तो गर्मी के मौसम के लिए उसी काम की चौगोशिया टोपियां ऐसी उम्दा, साफ़-सुथरी और खुशनुमा बनने लगीं जो साल-साल भर की मेहनत में तैयार होतीं और दस-दस बारह-बारह रुपये तक उनकी कीमत पहुंच गयी।

उसी ज़माने में दिल्ली के एक शाहज़ादे लखनऊ आये जिनकी दरबार और सोसाइटी ने बड़ी इज़्जत की। वे दुपलड़ी टोपी पहना करते थे जिसमें सिर के लंबान के अनुरूप दो लंबे पल्ले अंडाकार आकृति में काटकर जोड़ दिये जाते थे। उनकी यह सादी टोपी अक्सर लोगों को पसंद आयी इसलिए कि वह दूसरी टोपियों की बनिस्बत ज़्यादा सादी और तैयारी की दृष्टि से आसान थी। बहुत से लोगों ने यह टोपी अपना ली और जनता में इसका ऐसा रिवाज हो गया कि अज यही 'दुपलड़ी टोपी वाले शाहज़ादे' मशहूर हो गये और करोड़ों लोगों के सिरों पर आजकल इस काट-तराश की टोपियां देखी जा सकती हैं। यहां तक कि शाही के आखिरी दौर में इसी दुपलड़ी से लेकर यहां एक बहुत छोटी पतली टोपी ईजाद हुई जिसमें आगे-पीछे दोनों तरफ दो नोकें निकली होतीं। यह नुक्केदार टोपी कहलाती थी और इस क्रिस्म की भारी काम की टोपियां खास शाहज़ादे, रईस, शाही रिश्तेदार और ऊंचे दर्जे के नवाबज़ादे ही इस्तेमाल करते थे।

ग़दर के ज़माने तक लखनऊवासियों में दो ही तरह की टोपियों का रिवाज था—एक तो चौगोशिया जिसे मुहज़्ज़ब और पढ़े-लिखे लोग पहनते थे और दूसरी दुपलड़ी जिसका शाहज़ादों से लेकर निचले वर्ग के लोगों तक थोड़ी बहुत तब्दीली के साथ रिवाज था और जो आज ग्राम लिबास है।

संभवतः गाज़ीउद्दीन हैदर या नसीरउद्दीन हैदर के ज़माने ही से एक गोल टोपी का भी खास लोगों में रिवाज हो गया जो 'मिदील' कहलाती। इसकी बनावट डफली की-सी होती और अक्सर कारचोब के काम की पसंद की जाती। दौलतमंदों और कुछ नवाबज़ादों ने इसको ज़्यादा शानदार समझकर अपनाया और उसको इतना महत्व दिया गया कि बादशाह और शाहज़ादों के सामने बिना पगड़ी बांधे या कारचोब की मिदील पहने कोई शख्स न जा सकता था। गरज़ मिदील को दरबार में जगह दे दी गयी। इसी मिदील पर आधारित वह गोल टोपी थी जिसके ऊपर के कोने ज़रा गोलाई लिये हुए होते



और 'जज़ीली टोपी' कहलाती। यह ग्रामतौर पर काले मखमल की होती और इस पर सच्चे सुनहरे कलाबतून का सच्चा काम होता। असल में यह टोपी अंग्रेज सरकार की फ़ौज में गोरों को दी गयी थी और जाहिर में इसमें वर्दी की शान भी थी, मगर अंग्रेजों के अनुकरण का संभवतः पहला नमूना यही था कि यह फ़ौजी और जज़ीली टोपी शाहजादों और खानदानी अमीरों के लिबास में दाखिल हो गयी।

अवध के अंतिम शासक वाजिद अली शाह ने अपने दरबार के ऐसे सदस्यों के लिए जिन्हें खिताब मिले हुए थे, एक नयी और अजीब क्रिस्म की दरबारी टोपी ईजाद की। इसमें कागज़ का पुट्ठा देकर एक गोल घेरा सादे अतलस या कारचोबी का काम बनाया जाता जो माथे पर ज़्यादा ऊंचा होता। इसमें ऊपर की तंजेब, ग्रंट या जाली की एक बड़ी-सी भोली बनाकर जोड़ दी जाती और पहनने में वह भूल पीछे गुद्दी तक लटकती और सिर के पिछले हिस्से पर पड़ी रहती। इस दरबारी टोपी का नाम बादशाह ने 'आलम पसंद' रखा था और अक्सर लोग उसे 'भूला' कहते। मगर यह इतनी अप्रिय और नापसंद थी कि वाजिद अली शाह की ज़िंदगी में भी उनके दरबार के बाहर उन लोगों के सिरों पर भी नज़र न आ सकती थी जिनको वह प्रदान की गयी थी। और उनके बाद तो ऐसी मिट गयी कि आजकल के लोगों ने शायद इसे देखा भी न होगा।

ग़दर के बाद लखनऊ में टोपियों की दुनिया में सहसा एक इक़लाब आ गया। चंद रोज़ तक तो चौगोशिया, दुपलड़ी और मिंदीलों या पगड़ियों के सिवा सिर का कोई लिबास न था। उसके बाद यकायक चौगोशिया टोपी का रिवाज छूटना शुरू हुआ यहां तक कि अब उसके लिए चंद पुराने फ़ैशन को पसंद करने वाले सिर रह गये हैं। इन टोपियों से जो सिर खाली हो गये उनमें से ज़्यादातर ने दुपलड़ी टोपी अपनायी लेकिन कुछ ऐसे थे जो उसमें भी नयापन पैदा करने लगे। चंद रोज़ तक मेरठ की सिली हुई मिंदीलनुमा टोपियों का दौर रहा, उसके बाद अंग्रेजों का नाइट कैप या कश्मीर की ऊनी, लंबी चंदवेदार टोपियां प्रचलित हुयीं। फिर उन्हीं की बनावट के अनुरूप ग्रंट या साटन की पतली-पतली टोपियां इख़्तियार की गयीं जो छोटी होते-होते दुपलड़ी के करीब पहुंच गयी थीं। अब अंग्रेजी दौर के फ़ैशन शुरू हुए और सिर के लिए उनके लिबास से मिलता-जुलता लिबास ढूंढा जाने लगा। बाज़ बुजुर्गों ने तो हर तरफ से



आंखें बंद करके बिना भिन्नक के हैट या अंग्रेजों की नाइट कैप पहनना शुरू कर दीं।

लेकिन अब तुर्की टोपी का दौर शुरू हो गया था। इस टोपी को सर सैयद एहमद खां ने अपनाया था और मुसलमान जैटलमैन के लिए कोट-पतलून में उसका जोड़ लगाया था इस वजह से शुरू में यह टोपी बहुत ही नफरत की निगाह से देखी गयी। उसका नाम 'नेचरियों की टोपी' पड़ गया<sup>1</sup>। अखबारों में उस पर हज़ारों फव्वियां कही गयीं, मगर सर सैयद की दृढ़ता ने उसे प्रचलित करके ही छोड़ा। उनकी जिंदगी में ही लाखों आदमी इसे पहनने लगे, यहां तक कि लखनऊ में भी आ पहुंची। बहुतों ने विरोधियों की होड़ में यहां भी इसे पहनना शुरू कर दिया, लेकिन अंदर-ही-अंदर इसकी तरफ लोगों का रुझान इतना बढ़ा कि अब सारे हिंदुस्तान में अक्सर पढ़े-लिखे और सभ्य मुसलमान इसी टोपी का इस्तेमाल कर रहे हैं।

लखनऊ में प्रतिष्ठित, सुशिक्षित और शिष्ट शीआ हिंदुस्तान के तमाम शहरों से ज्यादा हैं और उनमें इस बात का विचार सुन्नियों की अपेक्षा अधिक है कि हर बात में अपने को सुन्नियों से अलग करें और अपना आचार-व्यवहार भी उनसे भिन्न रखें। इसके साथ ही यह भी है कि जिस तरह सुन्नी लोग पश्चिमी तुर्की के शासन के पक्षपाती हैं, शीआ ईरान के कांचर वंश के शासन के समर्थक और अनुयायी हैं। लिहाजा जब लखनऊ में तुर्की टोपी का रिवाज बढ़ना शुरू हुआ तो जो तुर्कों की टोपी है तो फ़ैशनेबुल शीआओं को खयाल हुआ कि बजाये तुर्की टोपी के ईरानी दरबार की कुलाहे-पापाख (काली टोपी) को अपने लिए पसंद करें। यह प्रवृत्ति अपना काम कर गयी और अब यह हालत है कि जो मुसलमान अपनी पुरानी टोपियों को छोड़कर नयी टोपी अपनाते हैं वे अगर सुन्नी हैं तो तुर्की टोपी पहनने लगते हैं और अगर शीआ हैं तो ईरान की पश्चिमी कैप ही इस्तिस्नान करते हैं। लेकिन इन दोनों गिरोहों में बाज़ ऐसे रौशन खयाल भी मौजूद हैं जो मुसलमानों के अंदरूनी मतभेद को मिटाना चाहते हैं और सुन्नी होने के बावजूद ईरानी या बावजू शीआ होने के तुर्की टोपी पहनते हैं, मगर ऐसे लोग कम हैं। शहर के मुसलमानों के आधुनिक रुचि

<sup>1</sup> सर सैयद एहमद खां के क्रांतिकारी सुधारों के विरोध में मौलवियों ने उन्हें दहरिया (नास्तिक) नेचरी (भौतिकवादी) आदि नामों से अभिहित किया था।



के लोगों का आम चलन यही है कि शीआ ईरानी और सुन्नी तुर्की टोपी पहनते हैं ।

मुसलमानों का यह आपसी बैर देखकर हिंदू शिक्षित लोगों ने आमतौर पर गोल मिदीलनुमा फ्लैट कैप इस्तिहार कर ली । इसे कुछ मुसलमान भी पहनते हैं । मगर हिंदू अंग्रेजी दोनों के फ़ैशन में चूँकि इसका दखल हो गया था इसलिए अंग्रेजों ने इसका नाम 'बाबूज कैप' रख दिया है । मगर आम जनता चाहे हिंदू हो या मुसलमान, शीआ हो या सुन्नी दुपलड़ी ही पहनते हैं ।

गदर के बाद जो ज़माना गुजरा वह लखनऊ की सोसाइटी के लिए उपद्रव का ज़माना था । आचार-व्यवहार और स्वभाव के साथ लोगों की वेश-भूषा और रहन-सहन में भी परिवर्तन होने लगा और शिक्षित समाज में ऐसे लोग खासी बड़ी संख्या में पैदा हो गये जिन्होंने अपने रहन-सहन के साथ अपनी वेशभूषा भी बिल्कुल छोड़ दी । न उनकी टांगों में पायजामा रहा, पिंडे पर अंगरखा, न पांव में चढ़ीवा जूता रहा, न सिर पर टोपी या पगड़ी, बल्कि एक ही छलांग में वे सातों समुद्र फांदकर हिंदुस्तान से इंग्लिस्तान में कूद पड़े और कोट-पतलून, बूट और हैट उनका लिबास हो गया । लेकिन आबादी के अधिकांश लोगों ने अपना चलन वाक़ी रखना चाहा, लेकिन इसके बावजूद उन्हें चाहे महसूस हुआ हो या नहीं, उनकी वेशभूषा में भी परिवर्तन आया और अंगरखे की बजाये शेरवानी उनका क़ौमी लिबास बन गयी । लेकिन सिर के लिए मालूम होता है कि जैसे अभी तक कोई ऐसी टोपी नहीं चुनी जा सकी जिसे सभी निस्संकोच अपना लें ।

इस भगड़े-फ़साद और रद्दोबदल के ज़माने में लखनऊ में वीसियों टोपियां पैदा हुईं जो खुद यहीं की ईजाद थीं या किसी और जाति या स्थान से ली गयी थीं । उनमें से जो चंद रोज़ तक ठहर सकीं उनमें लखनऊवालों ने अपनी रुचि के अनुसार बहुत कुछ परिवर्तन भी किया लेकिन धीरे-धीरे वे समाप्त हो गयीं । लखनऊवालों की स्वाभाविक वृत्ति इस ओर है कि हर चीज़ जहाँ तक मुमकिन हो सके नाज़ुक, नफ़ीस, छोटी, चुस्त और हल्की हो । हर किस्म के तौर-तरीके और वेशभूषा में उन्होंने इसी प्रकार की तब्दीली की और अधिकांश टोपियों में भी इसी प्रकार का परिवर्तन हुआ मगर तुर्की टोपी, ईरानी टोपी और हैट के आकार-प्रकार में ये लोग कोई तब्दीली न ला सके । इसकी वजह यह है कि ये टोपियां दूसरों से बनी-बनायी ली जाती हैं और बाहर से



आती हैं तब्दीली न हो सकने की वजह से हमारा खयाल है कि इन टोपियों में से एक भी यहां का क़ौमी लिबास न बन सकेगी क्योंकि इनका रिवाज तो यहां बहुत हुआ मगर ये लखनऊ की रुचि से बिल्कुल भिन्न हैं। यही कारण है कि टोपी के मसले पर लिबास के बनाने वाले अब तक ग़ौर कर रहे हैं।

## [ 32 ]

अगर्चे हिंदुस्तान में और खासतौर से लखनऊ में सिर का लिबास टोपी है, मगर यह न समझना चाहिए कि यहां की नज़ाकत-पसंदी ने पगड़ी को मिटा दिया। दरबार में तो आमतौर पर पगड़ियों का रिवाज था। दिल्ली की वे सम्मानित सामंती पगड़ियां तो बेशक यहां नहीं रहीं और अमीर तथा शाही खानदानवालों के सिरों पर सिर्फ़ टोपियां ही रह गयीं। मगर दरबार के लिए आखिरी दौर तक पगड़ियां ज़रूर थीं और आम नौकरों का यह नैतिक कर्त्तव्य था, और अब भी बहुत हद तक है, कि आक्रा के सामने जायें तो सिर पर पगड़ी बांधकर जायें।

खुद शासकों के सिरों पर पुरानी पगड़ी नवाब सम्राट अली खां के ज़माने तक रही। नवाब बुरहान-उल-मुल्क नवाब शुजाउद्दौला और नवाब आसफ़-उद्दौला के सिरों पर वही दिल्ली के सरकारी ओहदेदारों की-सी सफ़ेद पगड़ी हुआ करती जिस पर बड़े दरबारों के अवसर पर जवाहिरात की कलगियां, सजे-धजे जींगे और सफ़ेद होती थीं। मगर नवाब सम्राट अली खां के सिर पर हमें एक नयी किस्म की पगड़ी नज़र आती है जिसे लखनऊवासी अपनी जवान में 'शमला' कहते थे। यह शमला यहां इस तरह बनाया जाता कि भराव में कपड़े का एक चौड़ा और पतला ग़लरदार घेरा सिर की नाप के बराबर बनाया जाता जो बीच में खाली और खुला रहता। फिर किसी नफ़ीस रेशमी या शाली कपड़े की पतली-पतली, बहुत लंबी बत्ती बनाकर उसके बीसों पेच उस कपड़े के घेरे पर नीचे और ऊपर बराबर-बराबर लपेटकर टांक दिये जाते। उस घेरे में ऊपर की तरफ एक चौड़ी पट्टी वैसे ही रेशमी या शाली कपड़े की जोड़ दी जाती ताकि वह उस घेरे को नीचे उतारने से रोके रहे। मगर इससे पूरी चांदिया ढंक न पाती थी इसलिए उसके नीचे कोई मामूली दुपलड़ी



या चौगोशिया टोपी जरूर रहती। यह था लखनऊ का असली शमला जिसको पहले-पहल नवाब सम्राट अली खां ने पहना और शायद वह मध्य भारत के हिंदू और मुसलमान दरबारों की उन पगड़ियों को देखकर बनाया गया था जो किसी बारीक रंगीन कपड़े की सैकड़ों गज की बत्तियों को खास-खास क्रम से लपेटकर बनाई जाती थीं। नवाब सम्राट अली खां ने इस शमले को खुद ही नहीं पहना बल्कि दरबार के प्रतिष्ठित सदस्यों और वज्जियों आदि को भी वही दिया गया।

गाजीउद्दीन हैदर को अंग्रेज सरकार ने बादशाह बना कर ताज पहना दिया जो दरअसल हिंदुस्तान और एशिया का शाही ताज न था बल्कि एक क्रिस्म का योरुप का ताज था। उस वक्त से लखनऊ के शासकों ने शमले या दस्तार को बिल्कुल छोड़ दिया और उनके साथ तमाम शाहजादों और शहर के प्रतिष्ठित लोगों ने भी पगड़ी से विदा ली। शाहजादे खास मौकों पर तो ताज पहनते मगर आमतौर पर मसालेदार भारी काम की नुबकेदार टोपियां पहनते और उन्हीं का अनुकरण शहर के दूसरे सम्मानित लोग भी करते। लेकिन सल्तनत के ओहदेदारों, वज्जियों और दीगर कर्मचारियों को हुक्म था कि शमला पहनकर सुल्तानों और वज्जियों के दरबार में आयें। गाजीउद्दीन हैदर के जमाने से अमजद अली शाह के शासन-काल तक तमाम ओहदेदारों के सिर पर वही शमला रहा करता था जिसकी शाब्दिक तस्वीर अपने पाठकों को हम दिखा चुके हैं। वाजिद अली शाह ने जब अपने दरबार की खास टोपी 'आलम पसंद' (भूला) ईजाद की तो यह नियम बन गया कि जिन लोगों को दरबार से ज्यादा घनिष्टता होती और 'दौला' का खिताब मिल जाता उनको 'आलम पसंद' भी प्रदान की जाती। उनका फ़र्ज था कि 'आलम पसंद' पहनकर दरबार में आयें। उनसे नीचे दर्जे के लोग जिनकी दरबार तक पहुंच होती और जो किसी कारखाने या महक्मे के दारोगा होते उनको दारोगा के खिताब के साथ शमला दिया जाता और वही पुराना शमला पहनकर हाजिर होते जो पहले-पहल नवाब सम्राट अली खां के सिर पर लोगों को नज़र आया था। बाक़ी तमाम लोगों को हुक्म था कि किसी क्रिस्म की पगड़ी बांधकर दरबार में आयें और पगड़ी न हो तो टोपी उतार लें। अहलकारों के जिम शमले का हमने जिक्र किया है उसी क्रिस्म का शमला संभवतः मुर्शिदाबाद के दरबार में भी था और उसी का असर था कि आज से पचास बरस पहले हम कलकत्ता हाई कोर्ट



के बंगाली वकीलों को उसी तरह का शमला पहनते देखते थे लेकिन वह शमला अवध के दरबार के शमलों से हल्का और हमारी नज़र में ज़रा ओछा होता।

अब पगड़ी को सिवा ओहदेदारों के तमाम शौकीन लोगों और शहर के प्रतिष्ठित लोगों ने त्याग दिया था, लेकिन इस पर भी दरबार में और ग्राम जनता में पगड़ी की जो इज़्ज़त दिलों में क़ायम थी और है, उसका सबूत इससे ज़्यादा क्या होगा कि शादियों के मौक़े पर हर निचले वर्ग में दूल्हा के सिर पर पगड़ी हुआ करती है और लखनऊ के शरीफ़ लोगों में तो आमतौर पर भारी कम-स्वाब के शमले का रिवाज है।

यहां के दरबार ने ऊपर बताई गयी पगड़ियों के अलावा कर्मचारियों के विभिन्न वर्गों के लिए अलग-अलग ढंग की पगड़ियां भी नियत कर दी थीं। मुहरिरो के लिए उसी उपरिलिखित शमले की-सी सफ़ेद मलमल की पगड़ी निश्चित थी। दरबार के हरकारे और चौवदार भी उसी बनावट की पगड़ियां पहनते (इसलिए कि वे पगड़ियां बांधी नहीं बल्कि टोपी की तरह पहनी जाती थीं) फ़र्क़ यह था कि हरकारों की पगड़ियां सुर्ख़ होतीं और चौवदारों की सफ़ेद बुर्राक़ जिन पर आगे दाहिनी तरफ़ मुक़ैश का एक फूल भी टंका होता। हरकारों की पगड़ियों से मिलती-जुलती पगड़ियां कहारों की होतीं। उनकी पगड़ियों में दाहिनी ओर की कोर पर चांदी की मछलियां टंकी होतीं और जिस्म पर सुर्ख़ बानात के ढीले-ढाले चुंगे होते थे।

इनके अलावा तमाम फ़ौजों और प्रतिष्ठित लोगों के सेवकों में भी पगड़ियों का रिवाज था जो अपने-अपने ढंग की अलग होती थीं।

सबसे ज़्यादा आदर-सम्मान विद्वानों के अग्रामों का होता था और मुनासिव मालूम होता है कि इस मौक़े पर पगड़ियों के सिलसिले में हम विद्वानों का ज़िक्र करें। लखनऊ में मुसलमानों के दो संप्रदायों के विद्वान हैं : एक सुन्नियों के उलमा और दूसरे शीअों के मुज्ताहिद। इन दोनों का आचार-व्यवहार भिन्न है। सुन्नियों को अरबवालों की वेशभूषा में धार्मिक पवित्रता और श्रेष्ठता नज़र आती है और शीअों को फ़ारस के उलमा के लिबास में और इसी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार ही दोनों संप्रदायों के विद्वानों का लिबास भी है।

आहज़रत सल्लम (हज़रत मुहम्मद साहब) के काल में अरबों का अग्रामा केवल इतना होता था कि कोई छोटा-सा कपड़ा सिर पर लपेट दिया जाये



जिसमें न कोई काट-तराश होती थी और न कोई फैशन । मगर जब अब्बासी खलीफ़ाओं के काल में इराक़ खिलाफ़त का केंद्र निश्चित हुआ तो ईरानी और सासानी लिबास का प्रचलन अरब के नेताओं और प्रतिष्ठित लोगों में शुरू हो गया । बहरहाल जो बड़े-बड़े शानदार अमामे और तैलिसान<sup>1</sup> वगैरा अरब के खिलाफ़त के जमाने के विद्वानों ने अपनाये उनको अरबी लिबास मुश्किल से कहा जा सकता है । हिंदुस्तान के सुन्नियों के उलमा ने पुराने जमाने में अरबी लिबास छोड़कर दिल्ली का दरबारी चलन अपना लिया था और ऐसी निष्ठा से वहां के लिबास को निबाहा कि आज हिंदुस्तान के सभी लोगों ने इसे छोड़ दिया मगर वे अभी तक उसी को अपनाये हुए हैं ।

चुनांचे आज तक फ़िरंगी महल के उलमा की असली वेशभूषा यह है कि एक सीधा गोल अमामा बांधते हैं जिसकी बंदिश में इसकी बिल्कुल कोशिश नहीं की जाती कि पेशानी पर मेहराब की-सी आकृति बन जाये । जिस्म में पुराने जमाने का जामा होता है जो सब जगह बिल्कुल सपना बन गया । पांवों में चौड़े अर्ज़ के पांयचों का टखनों से ऊंचा पायजामा होता है और गले में एक पतला-सा दुपट्टा पड़ा होता है । इसी लिबास में हमारे फ़िरंगी महल के दो-एक बुजुर्ग आज भी जुमे की नमाज़ पढ़ाने को आते हैं । मगर घरों में वे मामूली सादी दुपलड़ी या चौगोशिया टोपी, लंबा कुर्ता जिसमें गरीबान का चाक बीच में हो या अंगरखा और अर्ज़ के पांयचों का पायजामा पहनते हैं । फिलहाल फ़िरंगी महल के उलमा ने अब इस लिबास को छोड़कर हरमैन के उलमा और शाम तथा मिश्र के नेताओं की वेशभूषा अपनाना शुरू कर दी है जिसे आखिर में मौलाना शिब्ली नोमानी ने भी क़ौमी और सरकारी दरबारों के लिए नियत किया था । इन बुजुर्गों का जूता भी उन दिनों गठीला था, मगर अब या तो ज़ेरपाइयां हैं और या लखनऊ या दिल्ली का चढ़ावां जूता ।

शीआ उलमा का लिबास इससे बिल्कुल भिन्न है । वे पहले तो सिर पर दुपलड़ी टोपी पहनते हैं, मगर आम लोगों के खिलाफ़ उसकी सीवन बजाये आगे से पीछे की तरफ़ रहने के आड़ी यानी एक कान से दूसरे कान तक रहती है । उस पर बुलंद ऊंचे कुब्बे का अमामा ईरानी अमामे की बंदिश से मिलता होता है । बदन में लंबा कुर्ता मगर उसके गरीबान का चाक बजाये इसके कि सीने के

<sup>1</sup> चादर या दुपट्टा जो व्याख्यानदाता व्याख्यान देते समय कंधे पर डाल लेते हैं ।



बीच में हो, वायें कंधे के पास होता है। पुराने जमाने में शीश्यों के उलमा के कुतों में गरीबान की जगह दोनों कंधों पर हुआ करती थी, मगर वह बनावट अब छोड़ दी गयी है। जो उलमा ईरान और कर्बला हो आये हैं वे कुतों के ऊपर अगली तैलसान पहनते हैं जो यहां कबा कहलाती है, पावों में चौड़े पांचवे का पायाजामा होता है और आमतौर पर जूतियां पहनते हैं जिनका जिक्र जूतों के बयान में आयेगा।

## [ 33 ]

सिर और जिस्म के दरम्यानी हिस्से के लिबास का हाल हम पूरे विवरण के साथ बयान कर चुके, अब जिस्म के निचले हिस्से की ओर आते हैं फिर उसके बाद अन्य अतिरिक्त वेश और विभिन्न गिरोहों के खास-खास लिबासों का और उसके बाद औरतों के लिबास का उल्लेख करेंगे।

जिस्म के नीचे के हिस्से के लिए अरबों में सिवाय तहमत के कुछ न था। अरबी तहमत और हिंदुओं की धोती दोनों बिना सी हुई पतली चादरें होती हैं। फर्क यह है कि तहमत सिर्फ कमर में लपेटकर अटका लिया जाता है। धोती हिंदुस्तान की विभिन्न जातियों में खास-खास तरीके से बांधी जाती है। इसका एक सिरा नीचे से फेर देकर पीठ के नीचे घूरस लिया जाता है और दूसरे को बाज लोग कमर में लपेट लेते हैं। अरबों के तहमत ने बाद के जमाने में यह तरक्की की कि उसके दोनों सिरों को सी कर एक घेरा बना लिया जाता है और उसमें दोनों पांव डालकर और कमर के पास उसे समेटकर बांध दिया जाता है।

इस्लाम के प्रादुर्भाव के समय और उससे मुद्तों पहले अरबों का नीचे का क्रीमी लिबास यही था। अमीर-गरीब, बादशाह-वजीर सब तहमत बांधते, फर्क सिर्फ इतना था कि अरब के अमीर और बड़े-बड़े लोग अपने गर्व और दंभ को इस प्रकार प्रकट करते कि यह तहमत बहुत नीचा और जमीन से मिला हुआ होता जिसमें सारे पांव छिप जाते और उसके दोनों सिरों जमीन पर लोटते और रगड़ते हुए चलते। चूंकि इस लिबास से दंभ की गंध आती थी और जो शरूस ऐसा तहमत बांधकर निकलता दूसरों को अपने सामने हेय और घृणित



समझता इस वजह से इस्लाम ते इस लिबास को निषिद्ध कर दिया और हुक्म दे दिया कि इज़ार (तहमत) टखनों से नीची न रहे। उलमा ने इसी हुक्म के आधार पर फ़िलहाल यह फ़तवा दे रखा है कि पायजामा या टांगों का कोई लिबास टखनों से नीचा न हो, हालांकि पायजामा न उन दिनों था और न इस हुक्म में शामिल हो सकता है इसलिए कि नीची और ज़मीन पर लोटती हुई इज़ार बांधने से जिस घमंड का खयाल अरब के अमीरों में पैदा होता था हिंदुस्तान के नीचे पायजामे पहननेवालों में हरगिज नहीं होता।

हज़रत मुहम्मद साहब के ज़माने में ही पायजामा दूसरे मुल्कों से अरब में पहुंच गया था और बाद के ज़माने में बग़दाद के दरबार का, और उन अरबों का जो अरब से निकलकर दूसरे देशों में जा बसे थे, क़ौमी लिबास बन गया। हिंदुस्तान में मुसलमानों से पहले घोती के सिवा पायजामा न था। मुसलमान विजेता उसे अपने साथ हिंदुस्तान में लाये जिनमें मिले हुए चंद ऐसे संयमी, भक्त और धार्मिक नेता थे जो हज़रत मुहम्मद साहब के आदेश का पालन करते थे और तहमत बांधे हुए इस भूमि पर आ गये। तहमत चूँकि सुन्नत<sup>1</sup> थी इसलिए एक खालिस मज़हबी लिबास था और यह निस्वार्थ और धर्मपरायण मुसलमानों या विद्यार्थियों के ही लिए नियत था। मगर पायजामा यहां की सोसाइटी में इतना आम हो गया कि मुसलमान तो दूर हिंदुओं और यहां की दूसरी जातिओं में भी इसका रिवाज हो गया।

लेकिन ग़ौर करने की यह बात है कि मुसलमानों का पहला और असली पायजामा किस काट-तराश का था। संभवतः वह तंग मोहरी का उटंगा पायजामा, जो शरई पायजामा कहलाता है और सुन्नियों में प्रचलित है, मुसलमानों का पहला पायजामा है। यही बग़दाद में प्रचलित था और इसी का रिवाज ईरान और तुर्किस्तान में हुआ और इसी को पहने हुए मुसलमान हिंदुस्तान आये।

हिंदुस्तान के अंतिम काल में इसकी बनावट में इतना परिवर्तन हुआ कि पांचवे या मोहरी पिंडली से लिपटी रहती। मगर ऊपर का घेर क़रीब-क़रीब उतना ही होता जितना कि पुराने शरई पायजामे का था। चंद रोज़ बाद मोहरी कुछ लंबी और नीची हो गयी मगर टखनों से आगे नहीं बढ़ी। दिल्ली

<sup>1</sup> वह तरीका जिस पर हज़रत मुहम्मद साहब और उनके साथियों ने अमल किया हो।



के आखिरी दौर तक वहां और सारे हिंदुस्तान में मुसलमानों का यही पायजामा था। अगर्चे निचले वर्ग के मुसलमान हिंदुओं के साथ मेलजोल के कारण धोतियां बांधते थे और प्रतिष्ठित वर्ग के हिंदू अपने घरों में चाहे धोतियां बांधे रहें मगर शिष्ट मंडली में आते तो पायजामा पहन कर आते।

उन्हीं दिनों काबुल और कंदहार में दो भिन्न प्रकार के पायजामे प्रचलित थे। काबुलवालों का पायजामा नीचे मोहरी के पास तंग और ऊपर घेर के पास इतना ढीला होता कि नीचे का जिस्म एक बहुत बड़े भूलदार गुब्बारे में गायब हो जाता और एक-एक पायजामे में एक-एक और दो-दो थान खर्च हो जाते। यह आज भी अफ़ग़ानियों की टांगों में नजर आ सकता है। इसके विपरीत कंदहारवाले ऐसा पायजामा पहनते जिसके ऊपर का घेर तो ज्यादा न होता मगर दोनों पांयचे कलियां जोड़-जोड़ कर इतने बड़े और इतने घेर के बना लिये जाते कि जब तक इंसान उनको घुरस न ले या हाथ से संभाले न रहे, चलना दुश्वार था।

दिल्ली दरबार में कंदहारी भारी संख्या में आ-आकर फ़ौज में नौकर हुए। वे लोग चूंकि बड़े बहादुर समझे जाते इसलिए यहां के आम फ़ौजियों में उनका रहन-सहन, लिबास और उनकी आदतें वग़ैरा रिवाज पाने लगे और यह उन्हीं की बरकत और उन्हीं की सोहबत का असर था कि दिल्ली में बांके बड़े-बड़े कलियोंदार पांयचों के पायजामे पहनते, दिल्ली के आखिरी दौर में बांकों की वज़ादारी और बहादुरी इतनी पसंद की गयी कि सैकड़ों शरीफ़-जादों ने बांकों में दाखिल होकर उनका फ़ैशन अपना लिया और शरीफ़ लोग जिनमें अधिकतर अपनी असली रीति पर चल रहे थे और बहुत से बांके बने हुए थे लखनऊ में आये।

लखनऊ में आकर यकायक एक ढीले अर्ज के पांयचों का पायजामा पैदा हो गया। शुजाउद्दौला, आसफ़उद्दौला और सआदत अली खां के ज़माने तक तो इसका पता नहीं चलता, मगर मालूम होता है गाज़ीउद्दीन हैदर या उनके पुत्र नसीरउद्दीन हैदर के ज़मानों में जबकि यहां लिबास और आचार-व्यवहार में परिवर्तन हो रहा था बांकों के इसी कलियोंदार पायजामे से छोटा करके यह पायजामा बना लिया गया जो न इतना ढीला था कि एक-एक थान खर्च हो जाये और न तंग और न चुस्त मोहरी वाले पुराने पायजामे की तरह इतना तंग कि पांयचे ऊपर चढ़ाना नामुमकिन हो। यह नया पायजामा हल्का-फुलका और हिंदुस्तान की गर्मियों



में बहुत ही आरामदेह था। चंद ही रोज में अमीरों और सभ्य लोगों में इतना लोकप्रिय हुआ कि सिवा उन लोगों के जो बांकपन का दावा रखते थे सभी विद्वान, संयमी और सदाचारी तथा कुलीनों और सामंतों के लिवास में यही पायजामा शामिल था।

अब लखनऊ में सिर्फ दो पायजामे थे : एक तो वही बांकों का कलियोंदार पायजामा, दूसरा अर्ज के पांचों का पायजामा जो सारे शहर के शिष्टजनों की वेशभूषा बन गया था और इस शान के साथ कि अधिकतर सभ्य और शिक्षित लोग भी गुलबदन और मशरूम का सिलवाते और उसके पांचों में चौड़ी गोटी लगायी जाती। बांकों वाले पहले पायजामे को खुद नसीरउद्दीन हैदर ने अपनी वेशभूषा में शामिल कर लिया। उन्हें अंग्रेजी लिवास का भी शौक था इसलिए या कोट-पतलून पहनते या कलियोंदार पायजामा जिसको फ़िलहाल पंजाबवाले शरारेदार पायजामा कहते हैं। नसीरउद्दीन हैदर को यह पायजामा इतना प्रिय था कि अंग्रेजों के गाउन के समान देखकर उसे उन्होंने अपने महल की बेगमों को पहनाना शुरू किया और महल के लिवास में शामिल हो जाने का यह असर हुआ कि शहर की तमाम औरतें उसी को पहनने लगीं जिसका जिक्र औरतों के लिवास के संबंध में किया जायेगा।

शाही में अवध की फ़ौज पंजाब-विजय के मौके पर अंग्रेजों के साथ जाकर सिखों से लड़ी थी। सिख लोग एक नयी तरह का औरेवी तिरछी काट का तंग और चुस्त पायजामा पहनते थे जो घुटन्ना कहलाता है। बहुतसे पंजाब जाने वालों ने इस काट को बहुत पसंद किया और घरों में वापस आये तो वही आड़ी काट के घुटन्ने पहने थे। यहां के अक्सर लोगों ने यह पायजामा बहुत पसंद किया और यकायक ऐसा रिवाज हुआ कि लखनऊ के तमाम बांके-तिरछे शौकीन और अमीरजादे घुटन्ना पहनने लगे जो खूब चुस्त और खूब खिचा होता और गट्टे पर उसकी शिकनों की बहुत-सी चूड़ियां रखी जातीं।

लखनऊ में यही तीन पायजामे थे कि अंग्रेजी हुकूमत हो गयी। बड़े पांचों का कलियोंदार पायजामा तो बांकों और हथियारों के साथ मर्दों में से फ़ना हो गया। नसीरउद्दीन हैदर की कृपा से सिर्फ औरतों में बाक़ी है। मर्दों में केवल दो पायजामे थे यानी अर्ज का पायजामा और घुटन्ना या सुन्नी धर्मपरायण लोगों में से बाज्र पुराना शरई पायजामा पहन लिया करते। अंग्रेजी दौर ने पहला असर यह किया कि पायजामों की काट-तराश तो वही रही मगर अतलस,



गुलबदन और मशरूफ के या रंगीन सूती पायजामे मदों से बिल्कुल छूट गये । चंद रोज़ वाद अलीगढ़ कालेज के सोशल स्कूल से अंग्रेजी पतलून की नक़ल के पायजामे ईजाद हुए जो न इतने तंग होते हैं कि पिंडली से लिपटे रहें और न इतने ढीले कि पांयचा ऊपर तक चढ़ा लिया जा सके । अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने वालों और सारे हिंदुस्तान के अक्सर शरीफ़जादों में अब इसी पायजामे का रिवाज बढ़ता जाता है । हालांकि अधिकतर शिक्षित लोग जो आधुनिक सभ्यता की चरम सीमा तक पहुंच गये हैं, अपना सारा लिबास छोड़कर कोट-पतलून पहनने लगे हैं, लेकिन लखनऊ में आज भी बाज़ गिनती के ऐसे प्रतिष्ठित लोग नज़र आ सकते हैं जो पुरानी बनावट के अर्ज़ के पायजामे पहनते हैं और अपना चलन नहीं छोड़ते ।

## [ 34 ]

अंगरखे या चपकन बगैरा के ऊपर पुराने ज़माने में दुशाले का रिवाज ज़्यादा नज़र आता है और यही शाही दरबारों से खिलअत के रूप में मिला करता था । उसके साथ शाही रूमाल ओढ़ने का भी एक मामूली हद तक रिवाज था । यही दोनों चीज़ें दिल्ली से लखनऊ आयीं, मगर लखनऊ में ज़्यादा रिवाज रूमाल ओढ़ने का था । जाड़ों में अक्सर शाली रूमाल और सर्दी के वक़्त दुशाला ओढ़ा जाता । लखनऊ में दरबार कायम होने के बाद जब गर्मियों के लिए लिबास में सफ़ाई, आरामदेही और हल्कापन पसंद किया जाने लगा तो बाबरलेट और लिंकन के रूमाल ईजाद हुए और तमाम सफ़ेदपोश शरीफ़ों का यह लिबास हो गया कि सिर पर क़ालिब चढ़ी चिकन की चौगोशिया टोपी, बदन में अंगरखा, पांव में अर्ज़ के पांयचों का पायजामा और कंधे पर हल्का चिकन या जाली का रूमाल लखनऊ के शरीफ़ों की यह पहली सामान्य वेश-भूषा थी जिसे 'मीर' अनीस का खानदान इन्हीं तकल्लुफ़ों की वजह से आज तक निबाह रहा है ।

लिबास में सबसे आखिरी और बड़ी महत्वपूर्ण चीज़ जूता है । मुसलमानों के आने से पहले हिंदुस्तान में जूते का बिल्कुल रिवाज न था इसलिए कि चमड़े के इस्तेमाल से हिंदू लोग धार्मिक दृष्टि से बचते थे, बल्कि जूते के बदले



यहां लकड़ी की खड़ावे पहनी जाती थीं जो आजकल के कुछ फ़कीरों और ऋषियों के अलावा प्राचीन राजाओं में भी प्रचलित थीं। मुसलमान अपने साथ यहां सिले हुए लिबास के साथ चमड़े के जूते भी लाये।

मुसलमानों का पहला जूता अरबों में सिर्फ एक चमड़े का तला था जो पट्टे या बंधनों के जरिये से पांव में अटका लिया जाता। ईरानियों और रोमियों का चमड़े का मौज़ा जूते से पहले अरब में पहुंच गया था। फिर अब अरबी दरबार शाम और इराक़ यानी रोम की छत्रछाया में कायम हुए तो चमड़े के जूतों का रिवाज शुरू हुआ। मगर ये पहले जूते सीधी-सादी जूतियां मात्र थे। उन्हीं को पहने हुए मुसलमान हिंदुस्तान में आये।

दिल्ली के अमीर और बादशाह पुराने ज़माने में अपनी तसवीरों में ऊंची एड़ी की जूतियां पहने नज़र आते हैं। दिल्ली के अंतिम काल में चढ़ावा जूता ईजाद हुआ जिसकी शुरू में बनावट यह थी कि आधा पंजा और गट्टे से नीचे तक पांव उसमें छिप जाता। उसके सिरे पर चौड़ी नोक पंजे पर झुकाकर बिठा दी जाती। यह पहला दिल्लीवाला जूता था जिसका पचास साल पहले ज़्यादा रिवाज़ था। उसके बाद सलीमशाही जूता निकला जो शायद जहांगीर के ज़माने में ईजाद हुआ। उसकी नोक आगे निकली और उठी हुई होती और नोक का थोड़ा-सा बारीक सिरा ऊपर मोड़ दिया जाता। ईजाद के बाद उस पर कलाबतू का मज़बूत काम बनने लगा जो बिल्कुल सच्चा और कीमती होता। अगर्चे यह काम दिल्लीवाल और सलीमशाही दोनों किस्म के जूतों पर बनाया जाता, मगर सलीमशाही जूते का बहुत ज़्यादा रिवाज़ हुआ और उसने चंद रोज़ में पुराने दिल्लीवाल को मिटा दिया और उसकी सबसे बड़ी खूबी यह है कि अब जबकि अंग्रेज़ी फ़ैशन ने हमारे सारे लिबास और हमारी तमाम चीज़ों को मिटा दिया वह आज तक बाक़ी और सबसे लोकप्रिय है और अधिकतर हिंदुस्तानी फ़ैशन पसंद करने वाले भारी से भारी लिबास पर उसी को पहनते हैं और फ़िलहाल लखनऊ में भी बहुत से लोग उसको पहनते हैं।

मगर लखनऊ में शाही दौर में एक नयी बनावट का छोटी नोक का जूता ईजाद हुआ जिसको यहां के फ़ैशनपसंदों ने शुरू में बहुत पसंद किया था। उसमें नोक दिल्लीवाल और सलीमशाही में ऊपर निकाली जाती, उसमें सीने के बाद उलटकर अंदर कर दी जाती। नोक के पास सिर्फ एक ज़रा-सा उभार रहता। ये जूते लाल नरी के बहुत ही हल्के और साफ़ बनाये जाते और पुरानी रुचि



ने इसे इतना हल्का बना दिया कि बाज़ मोचियों के हाथ का जोड़ा चार-पांच पैसों भर से ज्यादा न होता। अगर्चे आम जनता और देहातियों के लिए इसी बनावट के चमरीघे जूते इतने भारी होते कि सेर-सेर, डेढ़-डेढ़ सेर से कम न होते और फिर कड़वा तेल पिला-पिलाकर और भारी कर लिये जाते।

थोड़े दिनों बाद लखनऊ में इस छोटी नोक के जूते की सजावट की तरफ ध्यान दिया गया। पहले जाड़े-गर्मियों के सूखे मौसम के लिए काशानी मखमल के और बरसात के लिए कीमुस्त के बनना शुरू हुए और इसमें कोई शक नहीं कि वानात का जूता बहुत ही बढ़िया, सादा, हल्का और सुंदर होता। कीमुस्त हरे रंग का होता जो धोड़े या गधे की खाल से बनता और उसमें कटहल के कांटों की तरह दाने उभारकर पैदा किये जाते और तारीफ यह थी कि बरसात में चाहे कितना ही भीगे उसके रंग-रूप में फर्क न आता। खुद कीमुस्त के बनाने का हुनर हालांकि बाहर से आया था मगर लखनऊ में इसके बहुत से कारखाने जारी हो गये और सब जगहों से अच्छा बनने लगा।

चंद दिन बाद जूतों की सजावट में और तरक्की हुई और सलमे-सितारे के कारचोवी काम के जूते बनने शुरू हुए। जिनमें मुक़ैश के फुंदने लगाकर अजब चमक-दमक और आव-ताव पैदा कर दी जाती। उसके बाद जब छोटा सलमा और कलाबत्तू आया तो भूठे काम के चढ़ावें जूते बनने लगे जो बहुत सस्ते दामों में अजब बहार दिखा दिया करते थे।

लेकिन चढ़ावों के साथ-ही-साथ यहां घीतला जूता प्रचलित था जो दर-असल पुराने जूतों से बनाया गया था और बड़े-बड़े अमीरों और ऊंचे वर्ग के शरीफों में आमतौर पर पहना जाता था। दरअसल यही हिंदुस्तान का पुराना क्रौमी जूता था और इसी की यादगार हैदराबाद की चप्पल और दूसरे स्थानों के देसी जूते हैं और यही पुराने दरबारियों और दूसरे बुजुर्गों के पांव में नज़र आता है। घीतले में इतनी तरक्की हुई कि उसकी नोक बजाये छोटी-छोटी रहने के हाथी की सूंड की तरह बहुत बढ़ाकर और फैलाकर पंजे के ऊपर एक बड़े घेरे की सूरत में लपेट दी गयी। यह जूता अवघ के पिछले बादशाहों और वज़ीरों तथा अमीरों सबके पांव की शोभा हुआ करता था। चढ़ावें जूते ने ईजाद होने के बाद उसकी जगह लेना शुरू की। यहां तक कि ग़दर होते-होते घीतला सिर्फ औरतों के पांव में रह गया जिनके नाजूक पांव का वह आम लिबास था और मर्दों की पोशाक से वह बिल्कुल खारिज



हो गया, लेकिन जूतियां अपनी असली सूरत पर आज तक बाकी हैं और शीआ धर्मगुरुओं तथा विद्वानों के लिए आज भी नियत हैं।

घीतले जूतों, जूतियों और उन पर जो कारचोवी का काम बनाया जाता है उसने लखनऊ के मुसलमानों में दो खास पेशे पैदा कर लिये जिन पर बहुतेसे लोगों की जीविका का दारोमदार हो गया। पहले तो मुसलमान मोची जिनकी यहां एक स्थायी जाति और विरादरी है ये लोग सिवा घीतले जूते बनाने के और किसी प्रकार का जूता बनाना अपनी शराफत के खिलाफ जानते हैं। लखनऊ में उन लोगों के बहुतेसे घर थे और सब सच्चे मुसलमान, सफ़ेदपोश और दूसरे निचले वर्ग के लोगों की वनिस्वत ज्यादा प्रतिष्ठित थे और उन दिनों बड़ी खुशहाली के साथ जिंदगी बिताते थे। लेकिन अब पुरानी रीति और लिबास बदलने का नतीजा यह हुआ कि मर्दों के बाद औरतों ने भी घीतला जूता बिल्कुल छोड़ दिया और बाज़ार जो उम्दा किस्म के घीतले जूतों से भरा रहता था, उसमें अब अगर किसी दुकान पर उस किस्म का एकाध जोड़ा मिल भी जाता है तो बहुत ही घटिया और पुराना पड़ा हुआ और मैला-कुचैला होता है। नतीजा यह हुआ कि मुसलमान मोचियों का गिरोह बिल्कुल तबाह हो गया, उनके वीसियों घर उजड़ गये और जो बाक़ी हैं विनाश के कगार पर खड़े हैं। लेकिन उन लोगों की दृढ़ता की प्रशंसा करनी चाहिए कि लुट गये और तबाह हो गये मगर यह बर्दाश्त न किया कि घीतले जूतों के बजाये स्लीपर या बूट बनायें और ज़माने की रफ़्तार का साथ देकर पहले से ज्यादा तरक्की करें।

दूसरा गिरोह शिल्पकारों का जो उनकी जूतियों के सडके में पैदा हुआ, जूतों की भूठी औधियां बनाने वालों का है। औधी कारचोवी काम के उन विभिन्न प्रकार के टुकड़ों को कहते हैं जो जनाने या मर्दाने जूतों पर लगाये जाते हैं। औधियां यहां बहुत ही सुंदर और चमकीली और ऐसी ऊंचे दर्जे की नक़ीस बनती थीं जैसी कहीं न बन सकती थीं और उनकी मांग ऐसी बढ़ी हुई थी कि आबादी का एक बड़ा हिस्सा उन्हीं की तैयारी पर जिंदगी बसर कर रहा था।

बहरहाल घीतले जूतों का रिवाज खत्म हो जाने से इन दोनों गिरोहों को नुकसान पहुंचा। अब घीतले के बजाये औरतों में आमतीर पर स्लीपरो के और खास घरानों या खास मौकों के लिए तमाम शरीफ़ बीवियों में बढ़िया



किस्म के पंप शूज़ का रिवाज है। दौलतमंद घरानों में घीतला जूता छोड़कर टाट बाफ़ी (यानी कारचोवी काम के) बूट पहनना शुरू किये थे। उनके चंद ही रोज़ वाद चमड़े के बूट जो बिना खोले पांव से उतर सकें, पहने जाने लगे और अब तो आमतौर से पंप शूज़ और जिन लोगों ने पूरा अंग्रेज़ी चलन अपना लिया है, उनकी बेगमें तो हर तरह के लैडीज़ शूज़ पहनने लगी हैं।

मुनासिव मालूम होता है कि इसी सिलसिले में औरतों के ग्राम लिबास को भी बयान करके हम रहन-सहन और वेषभूषा की चर्चा समाप्त कर दें।

हिंदुस्तान में औरतों का पुराना लिबास सिर्फ एक बिना सी हुई लंबी चादर थी जो आधी कमर से लपेट कर बांध ली जाती और आधी कंधे या सिर पर डाल कर ओढ़ ली जाती। उसके साथ सीने का एक लिबास भी हिंदुओं में पुराने ज़माने से चला जाता है जो उत्तर भारत में अंगिया और दक्षिण भारत में चोली कहलाता है। यह लिबास श्रीकृष्णजी के ज़माने में भी मालूम होता है कि मौजूद था। आखिर ज़माने में चोली और अंगिया में फ़र्क इसलिए हुआ कि दक्खिन में एक भूलदार पट्टी से पीछे से आगे की तरफ ला कर दोनों छातियों के दरम्यान में गिरह देकर या बूताम लगाकर कस दी जाती है और दोनों छातियां इस भूल में कुछ उभार के साथ दबी और कसी रहती हैं, यही दक्खिन की चोली है। इसके बरखिलाफ़ उत्तर भारत में अंगिया यों बनती है कि उरोजों के नाप के कपड़े की दो कटोरियां बनायी जाती हैं जो दो-तीन अंगुल तक सी कर एक-दूसरे से जोड़ दी जाती हैं और उनके ऊपरी कोनों पर जाली की दो छोटी-छोटी आस्तीनें लगा दी जाती हैं और इन आस्तीनों के नीचे दोनों पहलुओं पर दो-दो बंद लगा दिये जाते हैं। इस तरह तैयार करके और दोनों हाथों की आस्तीनों में डालकर यह अंगिया पहन ली जाती है। आस्तीनें बहुत ही छोटी, आधे बाजुओं से भी कम रहती हैं और छातियों की कटोरियों में डालकर पीठ पर बंद खींचकर नीचे-ऊपर दो गांठें लगा दी जाती हैं। चोली के विपरीत अंगिया छातियों को असल से ज्यादा उभार कर स्पष्ट कर देती है।

बहरहाल यह पुराना हिंदू लिबास है और हम नहीं जानत कि गुजरे हुए ज़माने से इसमें क्या सुधार या उन्नति हुई। वैसे देखने में अंगिया अधिक प्रगतिशील और बाद की मालूम होती है।



उसके बाद हिंदू ज़माने में औरतों का और कोई लिबास नहीं मालूम होता। सिये हुए कपड़े और कुर्ता-पायजामा मुसलमान अपने साथ लाये। मुसलमानों की औरतें ईरान से अर्ज के ढीले पांयचों के पायजामे पहने हुए यहां आयीं जो टखनों पर चुन्नट देकर बांध दिये जाते थे। चंद रोज़ बाद वे पायजामे तंग मोहरी के घुटने हो गये जिनका घेर ऊपर से ढीला-ढाला होता। रफ़ता-रफ़ता उसमें खिंचाव का शौक बढ़ता गया यहां तक कि ऊपर का घेर भी कम हो गया और पांयचों की मोहरियां तो इतनी तंग हो गयीं कि पहनने के बाद कसकर सी ली जातीं और उतारते वक़्त मोहरी के टांके तोड़ने की ज़रूरत पेश आती जैसे पायजामे आज भी बहुत से शहरों में प्रचलित हैं।

लखनऊ में मुसलमान बेगमों का लिबास शुरू में तो यही तंग मोहरी का खिंचा हुआ पायजामा, सीने पर छोटी और तंग आस्तीनों की खिंची हुई अंगिया और पेट और पीठ छिपाने के लिए एक अजीब-सी कुर्ती जो आगे की तरफ इस हद तक काट दी जाती जहां तक जिस्म पर अंगिया रहती। इसमें न आस्तीनें होतीं और न सीने पर उसका कोई हिस्सा रहता। दो लंबे बंदों के जरिये से जो कंधों पर से होकर आते पेट और पीठ पर लटकी रहती। उसके ऊपर तीन गज़ का चुना हुआ बारीक दुपट्टा जो सिर से ओढ़ा जाता लेकिन आखिर में सिर्फ कंधों पर पड़ा रहने लगा।

हिंदुस्तान के मौसम और यहां के लोगों के स्वभाव की कोमलता ने अंगिया और दुपट्टे सबको रोज़-बरोज़ हल्का करना शुरू किया, यहां तक कि काही की अंगिया और क़ैब के दुपट्टे फ़ैशनेबुल अमीरज़ादों में दाखिल हो गये। नसीरउद्दीन हैदर बादशाह के ज़माने से घुटने रुसत हो गये और उनकी जगह बड़े-बड़े घेरदार पांयचों के कलियोंदार पायजामे, जो कमर के पास बहुत ही तंग होते और चोर कली यानी म्यानी खूब खिंची रहती, आमतौर से रिवाज पाकर औरतों का खास लिबास करार पा गये। ये पांयचे आगे की तरफ बड़ी खूबसूरती के साथ नाभि के नीचे घुरस लिये जाते ताकि चलने-फिरने में ज़मीन पर लोटकर खराब न हों। ग़दर के आसपास के ज़माने या शाही के अंतिम काल में बारीक कपड़ों और आधी आस्तीनों के तंग शलूकों का रिवाज हो गया जो कुर्ती के बजाये पहले तो अंगिया के ऊपर पहने जाने लगे और चंद रोज़ बाद उन्होंने अंगिया की ज़रूरत भी उड़ा दी। मगर अब



भी बहुत ही बारीक कपड़ों के इस्तेमाल किये जाने की वजह से यह लिबास नंगा मालूम होता, खासतौर से इसलिए कि बाहें बिल्कुल नंगी रहतीं। नतीजा यह हुआ कि शलूकों की जगह कुछ-कुछ ढीले कुर्तों का रिवाज होने लगा। लेकिन अब यकायक कुर्तों की जगह अंग्रेजी जाकेट और बाडिस पहने जाने लगे।

अब हर सूवे और हर शहर की वेशभूषा की तुलना उसके साथ परस्पर मेलजोल से की जाती है। कुछ मुसलमानों या खुद महिलाओं को साड़ी ज्यादा सुंदर दिखायी देने लगी जिसकी वजह से लखनऊ की औरतें आधे के करीब पुरानी वेशभूषा छोड़कर साड़ियां बांधने लगी हैं। और कहा जाता है कि इसमें ज्यादा सादगी है। मैं हालांकि इसके खिलाफ नहीं हूं कि औरतें अपनी सुंदरता में नयापन और ताजगी पैदा करने के लिए विभिन्न वस्त्र पहनें और नयी-नयी धर्जों से अपने पतियों को आकृष्ट करें, लेकिन मैं इसके सख्त खिलाफ हूं कि अपना राष्ट्रीय रहन-सहन या वेशभूषा बिल्कुल छोड़ दी जाये और अपनी सांस्कृतिक विशेषताएं बिल्कुल नष्ट कर दी जायें। साड़ी एक बिना सिला कपड़ा और मानव-सभ्यता के प्रारंभिक काल की यादगार है। सादगी वेशक बड़ी दिलकश चीज है मगर बहुत-सी सीमाओं और विशेषताओं के साथ, वर्ना पूरी सादगी तो नग्नता में है। खुद लिबास इंसान के स्वभाव को अपनी रुचि का कपड़ा पहनाता है इसलिए मेरी समझ में नहीं आता कि साड़ी में क्या खास खूबसूरती है।

जिस तरह पुरुष के स्वभाव की यह विशेषता है कि अपनी सुंदरतम विवाहिता पत्नी से ऊबकर दूसरी जवान औरतों की तरफ प्रवृत्त होता है उसी तरह हमारे नौजवान अपनी बीवियों के लिबास से उक्ताकर दूसरी जातियों की स्त्रियों के लिबास पर मोहित हो जाते हैं। मगर खूब याद रखिये कि जिस तरह आप उनके लिबास से आकृष्ट हुए हैं उसी तरह दूसरी जातियों के पुरुष आपकी स्त्रियों की प्रगतिशील वेशभूषा पर मोहित हो सकते हैं। यह कामवासना मात्र है जो फिलहाल आपकी दृष्टि में अपनी स्त्रियों की वेशभूषा को दोषपूर्ण साबित करके बार-बार देश में यह बहस पैदा कराती है कि हिंदुस्तानी मुसलमानों की स्त्रियों के लिए उचित क्या है।

हम इस मसले पर अच्छी तरह बहस करते अगर हमें विश्वास होता कि यह समस्या सिर्फ स्त्रियों के नैतिक और सामाजिक सुधार के उद्देश्य से पैदा



हुई है। दरअसल यह मसला उनके स्वभाव की अस्थिरता से पैदा हुआ है जिसने नवयुवकों को कोट-पतलून पहनाया, हैट से उनके सिरों की शोभा बढ़ाई और सिवा रंगत के उनमें कोई चीज़ अपनी नहीं बाँकी रखी। लिहाज़ा हमको यक़ीन है कि यह मसला सिर्फ़ इस जोश में पैदा हुआ कि मर्दों की तरह औरतें भी अंग्रेज़ी वेशभूषा अपना लें। हम खूब जानते हैं कि इस बारे में लिखना-पढ़ना और कहना-सुनना सब बेकार है इसलिए कि जब तक अंग्रेज़ी साए और स्कर्ट और बानेट पहनने का फैसला न कर दिया जायेगा हमारे समाज सुधारकों और नज़्काल फ़ेशननिर्माताओं को चैन न आयेगा। इसके सिवा चाहे और कैसा ही अच्छा सुधार किया जायेगा उनको संतोष न होगा।

ग़रज़ इस नतीजे को सोचकर इस बारे में अखबारों और पत्रिकाओं के पन्ने काले करने का कोई फ़ायदा नहीं।

## [ 35 ]

लिबास के बारे में लखनऊ में काट-तराश और कपड़ों की बनावट में रोज़-बरोज़ तरक्की होती रही। गर्म देश होने की वजह से हिंदुस्तान के निचले वर्गवाले सिवा शरीर ढकने के अपना सारा पिंडा नंगा रखते हैं। ऐसा सिर्फ़ उनकी गरीबी या देशवासियों की निर्धनता के कारण नहीं बल्कि मौसम और आबो-हवा के कारण है। इसी का असर दिल्ली में भी यह था कि बजाये मोटे और भारी कपड़ों के हल्के और नाज़ुक कपड़े अपनाये गये। यहां इससे भी बढ़कर तरक्की हुई और चूँकि अब सिपहगरी और लड़ाई की बहुत ही कम ज़रूरत बाँकी थी, ऐशपरस्ती और औरतों की संगत बहुत बढ़ती जाती थी, इसलिए कि मर्दों पर औरतों के लिबास का असर पड़ने लगा जो हृद से बढ़ गया और जिस तरह की बनावट और शृंगार स्त्रियों के लिए उचित है पुरुषों ने भी उसी का अनुकरण करना शुरू कर दिया।

खासतौर से उस ज़माने से जबकि यहां के शासकों ने अपने नवाब का शब्द छोड़कर बादशाह की उपाधि ग्रहण की। नैशापुरी और सालारजंगी खानदान के लोग जो उस समय बज़ीफ़े और पेंशनें पाते थे बिल्कुल मुअत्तल कर दिये गये तो उन्हें सिवा औरतों के किसी की सोहबत ही नसीब न होती



थी। इसका लाज़िमी नतीजा था कि उनके रहन-सहन और लिबास में ही जनानापन नहीं पैदा हुआ बल्कि उनकी ज़बान भी औरतों की-सी हो गयी और चूँकि वही शहर के रईस और प्रतिष्ठित लोग माने जाते थे लिहाज़ा अक्सर जनता ने भी उनका अनुकरण शुरू कर दिया और दूसरे स्थानों के रईसों के विपरीत यहां लखनऊ में यह आम चलन हो गया कि सिर पर मांग, उस पर भाले की कामदार टोपी, कानों तक बाल जिनकी कंधी करने में माथे पर दोनों ओर पट्टियां जमायी जातीं, मुंह में पान, होठों पर लाखा, पिंडे पर तीन-तीन कमरतोइयों का चुस्त अंगरखा, उसके नीचे गुलबदन का रेशमी खिंचा हुआ घुटन्ना, हाथों में मेहंदी, पांव में टाटवाफ़ी या कामदार बूट, जाड़ों में अंगरखे की जगह नीले, पीले, या हरे और लाल अतलस या ग्रंट का रुईदार दगला।

जाड़ों में यहां के कुछ प्रतिष्ठित लोग आमतौर पर शाल की क़बाएं पहनते, मगर दुशाले और शाली रूमाल को सब पसंद करते। इसी का नतीजा था कि जैसा शाल लखनऊ वालों में अब भी कहीं-कहीं निकल आता है वैसा शाल हिंदुस्तान क्या मानी शायद खुद कश्मीर में भी अब नसीब न हो सकेगा।

शाल का शौक यहां तक बढ़ा कि बहुत से शाल बुनने वाले और हज़ारों रफ़ूगर और शाल के धोनेवाले कश्मीरी अपना वतन छोड़-छोड़कर लखनऊ में आ बसे जिनका पिछले पचास साल में अब नामोनिशान भी बाक़ी न रहा। उनमें से कोई बचा भी तो उसने कोई और पेशा इस्तिथार कर लिया।

मुहर्रम चूंकि लखनऊ में एक बड़ी महत्वपूर्ण चीज़ और मातमदारी का ज़माना था इसलिए सौगवारी और नफ़ासत और नज़ाकत का लिहाज़ रखकर यहां मुहर्रम के लिए खास लिबास और खास ज़ेवर ईजाद हो गये। सियाह और नीले रंग ग़म और सौगवारी के रंग समझे गये और हरा रंग इसलिए कि अब्बासियों के काल में उनके सियाह रंग के मुक़ाबिले में बनी फ़ातिमा का रंग हरा था। चुनांचे आज भी ईरान और हिंदुस्तान के बाज़ फ़ातिमी अपने हरे अमामों से सैयदों की इस पुरानी रीत का सबूत दे दिया करते हैं। बहरहाल मुहर्रम में लाल रंग निषिद्ध कर दिया गया। हरा, नीला और काला रंग और उनके साथ पीला रंग भी उस मौसम के लिए मुनासिब समझे गये। चुनांचे यहां मुहर्रम में तमाम औरतों का लिबास इन्हीं ऊपर लिखे रंगों से मिलाकर चुना जाता। सारा ज़ेवर बढ़ा दिया जाता, यहां तक कि चूड़ियां भी उतार दी



जातीं जिनके बदले कलाईयों के लिए रेशम की काली और हरी पहुंचियां और कानों के लिए काले और पीले रेशम के करनफूल ईजाद हुए जो सोने-चांदी के ज़ेवर से भी ज्यादा नफ़ासत के साथ उनके श्रृंगार को बढ़ा दिया करते हैं।

मुहर्रम तो बहुत ही महत्वपूर्ण महीना था। यहां हर मौसम और हर ज़माने के अनुसार ऐसी-ऐसी ईजादें औरतों के लिबास में रोज़ होती रहती थीं जिनको सारा हिंदुस्तान ताज्जुब की निगाहों से देखता था। और सच यह है कि आज से पचास साल पहले लखनऊ में औरतों के लिबास की काट-तराश और रोज़-रोज़ की नवीनताओं को जो देखता वह फ्रांस और लंदन के फैशन-परिवर्तन को भूल जाता और इसी कारण से अधिकतर ज़वानों पर जारी हो गया कि लखनऊ पूर्व का पेरिस है। आज बहुत से सादगीपसंद और प्रगतिशील समाज-व्यवस्था से वंचित लोग इन बातों पर एतराज करते हैं और यह नहीं देखते कि जिन दरबारों और शहरों में संस्कृति का विकास होता है वहां समाज के हर वर्ग में ऐसी ही बातें पैदा हो जाया करती हैं जो एक दार्शनिक की दृष्टि में चाहे व्यर्थ हों मगर प्रतिष्ठित लोगों की गोष्ठियों और सभ्य लोगों की महफ़िलें इन्हें बहुत ही ज़रूरी और महत्वपूर्ण समझती हैं।

मर्दों पर औरतों के लिबास के हावी आने का असर कपड़ों की नज़ाकत और तेज़ भड़कीले रंगों तक सीमित रहता तो बहुत गनीमत होता, यहां तो बहुतसे लोगों की यह हालत हो गयी कि मियां-बीबी के दगलों, दुपट्टों, दुलाइयों, रज़ाइयों और पायज़ामों में किसी क्रिस्म का फ़र्क ही नहीं रहा सिवाय इसके कि गोटा-ठप्पा और ज़ेवर औरतों के लिए नियत था। मर्द शोख रंगों के नाज़ुक रेशमी कपड़े बिना गोटे-ठप्पे के पहनते, मगर यह रुचि ग़दर के बाद अंग्रेज़ी असर के कारण घटने लगी और अब सिर्फ़ कुछ गिनती के लोगों के सिवा किसी में वाक़ी नहीं रही।

मर्द सेवकों और उनके विभिन्न वर्गों की तरह यहां औरतों के विभिन्न वर्गों की भी खास-खास वेशभूषा निश्चित हो गयी। अंग्रेज़ों के खानसामां, कोचमैन और साईस विभिन्न प्रकार की वर्दियों में रहते हैं मगर वे वर्दियां उनका असली लिबास नहीं बन सकतीं जिन्हें वे अपने घरों में भी पहन सकते। इसके विपरीत लखनऊ में जनाने और मर्दाने नौकरों और अंदर-बाहर के तमाम कर्मचारियों के लिए जो खास-खास लिबास मुकर्रर हो गये थे वही उनके असली लिबास बन गये। मिसाल के तौर पर जैसे द्यूयदियों के पहले वाले



सिपाहियों और चोबदारों, हरकारों वगैरा के खास और अलग-अलग पहनावे थे, वैसे ही जनानी महल सराओं में महलदारों, मुगलानियों<sup>1</sup> और कहारियों<sup>2</sup> के पहनावे इतने भिन्न थे कि दूर से देखते ही इंसान समझ जायेगा कि वह औसत महलदार है, यह खवास<sup>3</sup> है, यह मुगलानी है और यह कहारी है और फिर लुफ्त यह है कि उनके लिवास में वर्दी की शान नहीं पैदा होने पायी।

खिदमतगारों और उन्हीं की तरह अर्दलियों का अलबत्ता वही लिवास था जो खुद मियां-बीबियों का लिवास था। इसकी वजह यह थी कि ये दोनों गिरोह अपने मालिक या मालिकिन का उतारन यानी उनके उतरे हुए कपड़े पहना करते हैं।

लिवास के बाद औरतों के लिए सबसे महत्व की चीज जेवर है और औरतें अक्सर अपनी पूंजी और जायदाद अपने जेवर को समझती हैं जिसका लाजिमी नतीजा यह है कि भारत के अनेक प्रांतों में भारी और भद्दे जेवर का ज्यादा रिवाज है ताकि वे कीमत में ज्यादा हों। जेवर के भारी होने का शौक अवध के देहात में और आमतौर पर हिंदुस्तान के तमाम शहरों में रोज-बरोज बढ़ता जाता है। मगर लखनऊ में दिल्ली के शरीफ खानदानों की महिलाएं आयीं तो शुरू में वही जेवर जिसका सारे हिंदुस्तान में और खुद दिल्ली में रिवाज था पहने हुए थीं। मगर यहां आने के चंद रोज बाद जब यहां की उन्नत समाज-व्यवस्था स्थापित हुई तो जेवर सिर्फ शृंगार का साधन मात्र समझा जाने लगा और हर प्रकार का जेवर रोज-बरोज हल्का, नाजुक और खूबसूरत होता गया, यहां तक कि अंतिम काल में अमीरों और धनिकों के घरानों की स्त्रियों का पहनावा यह हो गया कि सादे, बिना मसाले और गोटे-ठप्पे के कपड़े पहनतीं और जेवर की क्रिस्म की दो ही एक चीजों पर जो बहुत ही नाजुक, हल्की और कीमती होतीं संतोष करतीं। और अगर गले और नाक-कान में कई चीजें पहनतीं भी तो वे बहुत ही हल्की होतीं। इसका नतीजा यह हुआ कि जैसा हल्का जेवर लखनऊ में बनने लगा, कहीं न बन सकता था।

नाक में नथ हिंदुओं के काल से बहुत ही जरूरी जेवर और सुहाग की निशानी समझी जाती थी और यही खयाल आपसी मेलजोल के कारण

<sup>1</sup> सीने-पिरोनेवाली स्त्री।

<sup>2</sup> मेहरी, बर्तन मांजनेवाली।

<sup>3</sup> खास नौकर, मुसाहिब।



मुसलमानों में भी पैदा हो गया। चुनांचे देहातवाली आज भी इसके भारी करने में यहां तक ज्यादाती करती हैं कि चार-चार पांच-पांच तोले की नथें पहन लेती हैं जिनसे अक्सर नथने फट जाते हैं और दुबारा नाक छिदवायी जाती है ताकि नाक नथ से खाली न रहे। लखनऊ की स्त्रियों ने नथ को उड़ा ही दिया और उसकी जगह सोने की कील पहनने लगीं जो बहुत ही नफ़ीस और खूबसूरत जेवर साबित हुई और नज़ाकतपसंदी ने उन कीलों को भी इतना छोटा और हल्का कर दिया कि नाक की पतली कीलें लखनऊ के सुनारों और सादाकारों के सिवा और कहीं के कारीगर नहीं बना सकते।

अब इधर पच्चीस-तीस साल से बुलाक़ का रिवाज बहुत ज्यादा बढ़ गया है, अगर्चे यह कोई बहुत पसंदीदा चीज़ नहीं मगर जेवर के थोड़े और आम लोगों को पसंद होने के कारण ही इसे इतनी तरक्की दी है कि अब बहुत कम औरतें हैं जो बुलाक़ न पहनती हों।

फ़िलहाल विभिन्न शहरों के आपसी मेलजोल से जेवर बनाने के हुनर में हर तरह तरक्की हो रही है और खास-खास जेवरों के लिए खास-खास शहर मशहूर हो गये हैं। मगर ग़दर से पहले जब रेलवे ने हिंदुस्तान के शहरों में यह परस्पर मैत्री और एकरूपता पैदा नहीं की थी, लखनऊ से अच्छे सुनार और कारीगर कहीं न मिल सकते थे। लेकिन अब बहुतसे शहर इस हुनर में लखनऊ से बढ़ते जाते हैं, खासतौर से दिल्ली शहर अशुद्ध चांदी के हल्के जेवर बनाने में हिंदुस्तान के तमाम शहरों से आगे बढ़ गया है। मगर फिर भी बहुत-सी ऐसी जगहें हैं जहां के नफ़ासतपसंद घराने लखनऊ ही के बने हुए जेवर और यहां के चांदी के बर्तनों को ज्यादा पसंद करते हैं। यह बहस लखनऊ के उद्योगों में हमें बार-बार छेड़ना पड़ेगी इसलिए यहां इतने पर ही संतोष करते हैं।

### [ 36 ]

खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने की बहस ख़त्म करके अब हम उन चीज़ों की तरफ़ आते हैं जिनका सोसाइटी और मेलजोल से संबंध है और जिनमें उचित तथा अपनी रुचि के अनुसार परिवर्तन करके लखनऊ ने उन्हें अपना लिया।



दुनिया के हर देश में मेलजोल और रहन-सहन का एक तरीका कायम हो जाता है जिसमें रहन-सहन, पहनावा, आचार-व्यवहार, स्वभाव, शिष्टाचार, बोलचाल के ढंग, रुचि, मकान और फर्नीचर आदि का बड़ा महत्व होता है। इन बातों के बाद ज़िंदगी के इस जरूरी सामान को जिसकी इस सोसाइटी को जरूरत हो स्वाभाविक रूप से ये चीजें हर गिरोह, हर वर्ग और हर शहर तथा कस्बे में पैदा हो जाती हैं और आज भी दुनिया में घूमकर देखिये तो हर जगह समाज का एक खास रूप और उसकी विशेषताएं नज़र आ जायेंगी। मगर जिन स्थानों में कोई सम्मानित दरबार कायम हो जाता है और शिक्षा की उन्नति होती है वहां का समाज देश के एक बड़े भाग को अपने वश में करके उसके हर शहर और गांव की संस्कृति और सभ्यता का केंद्र बन जाता है।

हिंदुस्तान में सभ्यता और संस्कृति तथा समाज के नियमों का मूल केंद्र निश्चित रूप से दिल्ली थी, इसलिए कि कई सदियों तक वह हिंदुस्तान का शासन-केंद्र और विधाओं का आसन रह चुकी है। सारा हिंदुस्तान उसके अधीन था और तमाम सूबों के हाकिम और अदब सिखाने वाले वहां के वातावरण में फले-बढ़े होते थे। उसके मुक्ताविले में लखनऊ की न तो कोई विशेषता है और न ही उसे कोई प्रतिष्ठा मिल सकती है। मगर इस मौके पर लखनऊ के नाम लिये जाने की अगर कोई वजह हो सकती है तो यह है कि जमाने के इत्तिफाक से पिछली सदी में वही दिल्ली की संस्कृति पूरी-पूरी लखनऊ में आ गयी और वहीं के अमीर और शरीफ, विद्वान लोग और कवि, धर्मपरायण लोग और सुधारक सब-के-सब लखनऊ चले आये। और जो भी दिल्ली दरबार में उजड़ता था लखनऊ में आकर जमा हो जाता था, इसलिए वहां के तमाम प्रतिष्ठित लोग एक-एक करके सब यहीं चले आये और यहां चूंकि उन्हें संतोष प्राप्त हुआ इसलिए उन्होंने अपनी उन्नत संस्कृति का और भी विकास करना शुरू कर दिया। इसमें मझे की बात यह है कि दिल्ली वालों की जो संस्कृति अवध में आकर स्थापित हुई थी उसमें सिवा दिल्ली वालों के कोई और व्यक्ति न था। यहां तक कि लखनऊ के पुराने वाशियों को भी इसमें विलकुल जगह नहीं मिली।

लिहाजा लखनऊ की संस्कृति दरअसल दिल्ली की संस्कृति और वहीं के उन्नत समाज का अंतिम नमूना है। इस पिछली सदी में दिल्ली की प्राचीन



संस्कृति के वो स्कूल हो गये थे: एक वह जो खास दिल्ली में मौजूद था और दूसरा वह जो लखनऊ में आ गया था। लेकिन इसमें शक नहीं की पतन से पहले की आखिरी सदी में इस स्कूल के लिए, जो दिल्ली में था, मुगल दरबार के कमजोर पड़ जाने और घनिकता के मिट जाने के कारण प्रगति-पथ पर आगे बढ़ने का वैसा मौका नहीं मिला जैसा कि लखनऊवाले दिल्ली स्कूल को हासिल था और यही वजह हुई कि उस जमाने में लखनऊ की संस्कृति प्रगति कर रही थी और दिल्ली की प्राचीन संस्कृति की प्रगति रुक गयी थी। कहना चाहिए कि यही प्रगति लखनऊ के समाज की विशेषता है। गौर करने से यह नज़र आता है कि दिल्ली की संस्कृति का जो विकास हुआ उसमें शाही दरबार का संरक्षण प्राप्त था लेकिन पिछले दौर में चूँकि जाहिल व्यापारी वर्ग का समाज में बाहुल्य हो गया था और पुराने खानदानों शरीफ लोग दूसरे शहरों में जा बसे थे या घरों में बंद हो गये थे इसलिए वह संस्कृति भी नष्ट हो गयी और सच यह है कि अवध के शाही दरबार के टूट जाने के बाद से बाहर के लोगों में मेल-जोल और पुराने सम्य परिवारों और उनके प्रभाव के मिट जाने से जो संस्कृति लखनऊ में पैदा हुई थी वह भी रोज-वरोज खत्म होती जाती है।

मगर हमें उस बदतमीज़ी की सोसाइटी और विद्रोहपूर्ण शिष्टाचार से बहस नहीं जो ग़दर के बाद से लखनऊ में पैदा होना शुरू हुआ और तरक्की करता जाता है। हमारा उद्देश्य सिर्फ उस संस्कृति के बारे में बताना है जो लखनऊ के शाही दरबार के संरक्षण में प्रगति करके यहां के समाज में फैल गयी थी।

यहां की संस्कृति के बारे में अपने इस लेख में हम नीचे लीखी बातें बयान करना चाहते हैं (1) मकान, (2) फर्नीचर, (3) वेशभूषा, (4) शिष्टाचार, (5) शालीनता, (6) अभिवादन, (7) संबोधन और कुबाल-क्षेम पूछना, (8) हास्य का ढंग, (9) शादी-नामी की महफ़िलें, (10) मजलिसें (11) मौलूद शरीफ<sup>1</sup> की महफ़िलें। फिर इनके बाद हम उन चीज़ों का बयान करेंगे जो समाज के लिए अनिवार्य हैं।

### 1-मकान

दिल्ली और लखनऊ में मकानों के बारे में पुरानी रचि यह थी कि बाह्य प्रदर्शन और शानदारी सिर्फ शाही महलों और प्रासादों तक

<sup>1</sup> वह समाज में हज़रत मुहम्मद साहब के जीवन और उनके कार्यों का वर्णन किया जाता है।



ही सीमित थी। अमीर और व्यापारी अपने रहने के लिए जो मकान बनवाते वे अंदर-अंदर से चाहे कैसे ही विशाल और बढ़िया हों मगर उनकी जाहिरि हालत बिल्कुल मामूली मकान की-सी होती और उसमें रहस्य यह था कि जो मकान जाहिर में शानदार होते अक्सर बादशाहों को पसंद आ जाते और बनवानेवालों को उनमें रहना बहुत कम नसीब होता। साथ ही यह भी था कि रियाया में से किसी का मकान बनवाने में शाही ठाट-वाट दिखाना विद्रोह समझा जाता और उसे अमन चैन से ज़िंदगी बिताना मुश्किल हो जाता।

इसी वजह से आपको दिल्ली में मक़बिरों के अलावा पुराने ज़माने की एक भी ऐसी इमारत नज़र न आयेगी जो अलीशान हो और रियाया में से उच्च-कोटि के सामंत या धनी व्यापारी की बनवाई हुई हो। लखनऊ में भी शुरू-शुरू में यही हाल था। नवाब आसफ़ उद्दौला और नवाब सआदत अली खां के ज़मानों में धनिक फ्रांसीसी व्यापारी मोसियो मार्टिन ने दो-एक अलीशान इमारतें बनवायीं मगर उनके बनवाने में असली मक़सद यह था कि शासक को वे पसंद आ जायें और उसके हाथ बेच डाली जायें। इन्हीं इमारतों में ला मार्टिन कालेज है जिस पर नवाब सआदत अली खां की कंजूसी की वजह से स्टेट का क़ब्ज़ा न हो सका। यह वही कोठी है जो फ़िलहाल जनता में 'मारकीन साहब की कोठी' के नाम से मशहूर है।

उसके बाद यहां के एक वज़ीर रौशनउद्दौला ने अपने रहने के लिए एक बढ़िया इमारत बनवायी थी जिसका अंजाम यह हुआ कि सल्तनत के हुक़म से ज़ब्त कर ली गयी और सल्तनत के समाप्त होने के समय उसकी गिनती शाही इमारतों में होती थी। चुनांचे अंग्रेज़ी दौर में वह सरकारी जायदाद होने के कारण गवर्नमेंट के क़ब्ज़े में आ गयी और रौशनउद्दौला के वारिसों को नहीं दी गयी, मगर वह आज तक रौशनउद्दौला ही की कोठी कहलाती है गो कि उसमें साहब डिप्टी कमिश्नर बहादुर और उनके असिस्टेंट इज़लास करते हैं।

रियाया के आम मकानों की बनावट यहां योरुप के कोठीनुमा मकानों से बिल्कुल अलग होती है। योरुप में मकान के अंदर सहन की ज़रूरत नहीं है इसलिए कि मर्दों की तरह औरतें भी पर्दा न करने की वजह से बाहर जाकर खुले वातावरण में हवा खा लेती हैं। लिहाज़ा वहां के ख़िलाफ़ यहां ज़रूरत है कि मकान के अंदर सहन हुआ करे ताकि औरतें घर के अंदर ही खुली हवा का लुत्फ़ उठा सकें।



इस ज़रूरत और यहां के रहन-सहन की दूसरी आवश्यकताओं ने यहां के मकानों की आम बनावट यह कर दी है कि बीच में आंगन, उसके गिर्द इमारत, उस इमारत में एक रख सदर करार दे दिया जाता है और उधर ईंट-चूने के खंभों पर कम से कम तीन और कभी इससे ज्यादा मेहराबदार दर बनाये जाते हैं। मेहराबें आमतौर पर शाहजहानी मेहराबों के नमूने की होती हैं, यानी उनमें घनुषाकार मेहराबों को जोड़कर बड़ी मेहराब बनायी जाती है। सदर में अक्सर ऐसी मेहराबों के दोहरे-तिहरे हाल हुआ करते हैं। पिछला हाल कभी दरवाजे लगा कर एक बड़ा कमरा बना दिया जाता है और अक्सर यह भी होता है कि लगभग कमर-कमर तक उसकी कुर्सी ऊंची करके वह चबूतरा बना दिया जाता है।

इन बड़े हालों के दोनों पहलुओं पर कमरे होते हैं और हाल की छत इतनी ऊंची होती है कि पहलू में तले-ऊपर दो कमरे हाल की छत के अंदर आ जाते हैं।

अब सहन के दोनों पहलुओं पर उसकी लंबाई के अनुसार दालान, कमरे और कोठरियां बना दी जाती हैं जिनमें बावरचीखाना, पाखाना, मोदीखाना, जीना, कुआं और नौकरानियों के रहने के स्थान होते हैं। सदर दालान के सामने की ओर भी अगर ज़रूरत मालूम हुई या गुंजाइस हुई तो वैसे ही अलीशान दालान उधर भी बना दिये जाते हैं जैसे की सदर की तरफ होते हैं। दरवाजा अक्सर पहलू में यानी उन दिशाओं में होता है जिधर बावरचीखाना और नौकरों के रहने के कमरे होते हैं। जिसके सामने अंदर के रख पर सामने और एक पहलू में आदमक़द से ज़रा ऊंची एक दीवार बना दी जाती है ताकि दरवाजे से अंदर का सामना न रहे।

ग़रीबों और औसत दर्जे वालों के मकानों में अक्सर पक्की मेहराबों की बजाये इसी तरह के लकड़ी के तीन दरे कायम करके दालान बना दिये जाते हैं जिनमें सदर में और कभी उसके सामने की तरफ दालान-दर-दालान होते हैं। इस क्रिस्म के जो मकान ज्यादा मुकम्मल होते हैं उनमें चारों तरफ तीन दरे और दालान होते हैं और उनके पहलुओं में एक-एक दरवाजे की कोठरियां निकलती हैं जो विभिन्न ज़रूरतें पूरी करती हैं और उन्हीं में से किसी में बाहर का दरवाजा होता है।

यह यहां के मकानों का एक आम खाका था मगर इसी रचना को बाक़ी



रखकर अक्सर मकानों में नीचे और हर जगह ऐसी तरकीब और खूबसूरती से एक दर वाले कमरे और कोठरियां निकाली जाती हैं कि ताज्जुब होता है कि इतनी थोड़ी-सी जगह में इतनी ज्यादा इमारत कैसे बन गयी।

भवन-निर्माण कला के इतिहास पर दृष्टि डालिये तो मालूम होगा कि शुरू-शुरू में नीची इमारतें बनती थीं। फिर ऊंची और मज़बूत मगर सादी इमारतें बनने लगीं। उसके बाद सजावट के लिए बेल-बूटे बनने लगे, पच्चीकारी की ईजाद हुई और अजीब-गरीब तरीक़े से रंग भरे जाने लगे। लेकिन इन सब कमालों के बावजूद अब तक बड़े-बड़े चौड़े आसारों की दीवारें होतीं और उनमें बड़े-बड़े हाल और दीवानखाने बना दिये जाते।

सबसे बाद का कमाल हिंदुस्तानी इमारत में यह था कि दर्जों की सी कतर-ब्योंत करके थोड़ी-सी ज़मीन में बहुत ज्यादा इमारत बना ली जाती। इमारत का यह कमाल खास दिल्ली में शुरू हुआ, वहीं उसने बड़ी तरक्की की, वहीं से सब जगह फैला और लखनऊ में उसने दूसरी जगहों से बढ़कर तरक्की की।

आजकल बड़े-बड़े उस्ताद इंजीनियर मौजूद हैं जिन्होंने बड़ी-बड़ी अलीशान इमारतें बनवायी हैं। वे नुमाइशी तौर पर इमारत की एक बहुत ही खूबसूरत और शानदार शकल बना देंगे। लेकिन यह काम सिर्फ पुराने कारीगरों से ही मुमकिन है कि ज़मीन के एक छोटे टुकड़े पर अलीशान इमारत बनाकर खड़ी कर दें। और उसमें वास्तु कला के चमत्कार से इतने दालान, कमरे, कोठरियां और सहनचियां निकाल दें कि देखनेवाले की अकल चक्कर में आ जाये। अंदरूनी पदों की दीवारें इतनी पतली, नाजुक और उनके साथ मज़बूत हों कि मालूम हो ईंट-बूने की दीवारें नहीं लकड़ी की स्त्रीयें हैं।

इमारत में यह कमाल अब मिटता जाता है कि क्योंकि इसकी क़द्र नहीं रही। पुराने कारीगर फ़ना हो गये और जो दो-एक बाक़ी हैं उनकी क़द्र नहीं।

मगर पुराने ही जमाने से हिंदू-मुसलमानों के मकानों में एक साफ फ़र्क़ चला आता है जो आज तक मौजूद है। हिंदू अपने मकानों में सहन बहुत छोटा और तंग रखते हैं और इस बात का खयाल किये बिना कि हवा और रौशनी का गुज़र होगा या नहीं इमारत बढ़ाते चले जाते हैं। इसके बरखिलाफ़ मुसलमान खुले हवादार मकान चाहते हैं और उसकी इमारत इतनी बढ़ाते हैं जहां तक की हवादारी और रौशनी रहने में फ़र्क़ न आये। लेकिन मुसलमानों की



इस रुचि के बावजूद पुराने कारीगरों ने उनके हवादार मकानों में भी इतनी इमारत बना ली है कि देखनेवाले हैरान रह जाते हैं।

इसके अलावा उस जमाने के वाकमाल इमारत बनवानेवाले दरवाजों और कमरों की मेहराबों और दालानों और कमरों की दीवारों पर विभिन्न रंगों से ऐसे सुंदर बेल-बूटे बनाते थे जैसे अब मुश्किल से बन सकते हैं और आजकल चित्रकला बहुत प्रगति कर चुकी है लेकिन राज जैसी नक्काशी दर और दीवार पर किया करते थे वह मिट गयी और आधुनिक युग की सादगी पसंदी की वजह से रोज-बरोज मिटती जाती है। फिर भी यहां इस काम के बाज उस्ताद राज ऐसे पड़े हैं कि उनकी-सी नक्काशी शायद किसी शहर के राज न कर सकेंगे। बेल-बूटे ही नहीं वे छतों और दीवारों पर उच्च कोटि के चित्र भी बना सकते हैं।

सिर्फ राजों पर ही निर्भर नहीं, उस समय के बड़इयों को भी यही कमाल हासिल था। वे चाहे ऊंची क्रिस्म की मेजें, कुर्सियां और आल्मारियां या रेलवे ट्रेन की गाड़ियां न बना सकें मगर खंभों, मेहराबों और दरवाजों के चौखट बाजुओं पर ऐसे सुंदर बेल-बूटे खोदकर बना दिया करते थे जैसे आज मुश्किल से बन सकेंगे।

## [ 37 ]

### 2-फर्नीचर

संस्कृति में दूसरी चीज मकानों का फर्नीचर यानी वह सामान है जिससे मकान सजाये जाते हैं। उन दिनों आजकल की-सी मेज-कुर्सियां न थीं बल्कि खास हिंदुस्तानी और इस्लामी रुचि का सामान था। मकानों में तख्तों के चौके होते, पलंग होते या तख्तों के ऊपर बिछाने के लिए नाजूक और खुश-नुमा पलंगड़ियां होतीं। गरीब और मध्यम वर्ग के लोगों के यहां बानों के पलंग होते और अमीरों के घरों में आमतौर पर निवाड़ के पलंग हुआ करते।

सफ़ाईपसंद लोगों के घरों की यह शान होती कि भाड़ू दी हुई है, दीवारों पर सफ़ेदी फिरी है, छत पर उजली सफ़ेद छतगीरी खिंची हुई है जिसके चारों तरफ चुन्नट दी हुई भालर लटक रही है। बालान, कमरे या सहन में तख्तों



का चौका है उस पर दरी है और दरी पर बिल्कुल सफेद चांदनी जो इस सफाई से खींचकर बिछाई गयी है कि सिलवट का कहीं नाम नहीं। चारों कोनों पर संगमरमर के गुंबदनुमा मीरफ़र्श (भारी पत्थर) फ़र्श के कोनों को दबाये हुए हैं ताकि हवा में चांदनी उड़ने न पाये या उसमें सिलवटें न पड़ें।

ऊपर उजला फ़र्शी पंखा है, उसका भी वाद के जमाने में रिवाज हुआ वर्ना दरअसल उन मकानों की शोभा हाथ के पंखों से होती जो अपनी-अपनी हैसियत और दर्जे के अनुसार बड़े तकल्लुफ़ और अच्छे ढंग से बनाये जाते और उनका हाल हम आइंदा किसी मौक़े पर बयान करेंगे। उस चौके और फ़र्श पर चाहे वह कमरे के अंदर हो या बाहर एक तरफ़ जो सदर मुक़ाम बना दिया जाता वहां निवाड़ का साफ़-सुथरा और खूबसूरत पलंग बिछा होता। पलंग के ऊपर गर्मियों में दरी और जाड़ों में तोशक होती और उसके ऊपर एक उजली चादर बिछी रहती। पलंग की चादर में शाही महलों या उन्हीं के स्तर की महलसराओं में एक नीची ज़मीन के करीब तक की चुन्नटदार भालर चारों तरफ़ टंकी होती जो पलंग में एक खास शान पैदा कर देती। चारों पायों पर बिछौने के चारों कोने रेशम की रंगीन डोरियों से बांध दिये जाते ताकि लेटने और करवटें बदलने में बिछौना खिंचने और अपनी जगह से सरकने और हटने न पाये।

सरहाने पलंग की चौड़ाई के बराबर चौकोर पतले-पतले चार नर्म तकिये होते। ये तकिये अक्सर टूल के होते और उन पर तंज़ेब या पतील नैनसुख के सफ़ेद ग़िलाफ़ चढ़े होते जिनमें टूल की सुखी अपनी भलक दिखाती और वे परांठों की परतों की तरह तले-ऊपर रखे जाते। फिर उनके ऊपर इधर-उधर उसी कपड़े के दो नन्हें-नन्हें गलतकिये होते ताकि करवट से लेटने में गालों के नीचे दबे रहें। ये गलतकिये हाथ की हथेली से ज़्यादा बड़े न होते। उसके बाद बिछौने पर दोनों तरफ़ पट्टियों की ओर दो गोल तक़ीनियां रहतीं जिनको करवट लेते वक़्त रानों के नीचे दबा लेने में आराम मिलता। पायंती दुलाई, रज़ाई या लिहाफ़ मौसम के अनुसार लगा दिये जाते और दिन को जब कोई लेटनेवाला न होता, सारे पलंग पर एक पलंगपोश पड़ा रहता।

चौके पर पलंग के आगे बीच में बैठने के लिए फ़र्श के ऊपर एक क़ालीन मसनद के आकार का बिछा दिया जाता और क़ालीन पर पलंग से मिला हुआ गाव होता जिस पर रोज़ के इस्तेमाल के लिए तो सफ़ेद ग़िलाफ़ रहता मगर



बड़े समारोहों के अवसर पर बहुत ही कीमती रेशमी और अक्सर कारखोबी काम के गिलाफ़ चढ़ा दिये जाते ।

और अगर चौके पर पलंग न होता तो उसके किसी एक रुख पर जो मुनासिब मालूम हो मसनद-तकिया होता और उस पर गद्दी होती ।

दीवारों पर अगरचें कभी-कभी तसवीरें होतीं मगर तसवीरों का जितना रिवाज अब है उन दिनों न था । बल्कि तसवीरों के बजाये बढ़िया क़िए (पद), जिन पर बड़ी सफ़ाई से बेल-बूटे बनाये जाते फ्रेम में जड़कर दीवारों पर लगा दिये जाते । उन क़िओं का उस समय रईसों को ऐसा शौक था कि उन्हीं के लिखने और तैयार करने पर खुशनवीसों की ज़िदगी बसर होती और सच यह है कि इसी शौक ने उस ज़माने में ऐसे नामी और बाकमाल खुशनवीस पैदा कर दिये जो सिवा क़िए लिखने के किताबत को अपने लिए अपमानजनक और मामूली शागिदों का काम समझते ।

तख़्तों के अलावा सहन ड्यौड़ी और दरवाजे के बाहर की बैठक के लिए मूढ़े होते जो अगरचें अब भी कहीं-कहीं नज़र आ जाते हैं मगर उन दिनों शरीफ़ों का कोई घर उनसे खाली न था । ये सेंटों और बानों से बनाये जाते और जिन घरों में इनका ज़्यादा खयाल रखा जाता उनमें इन मूढ़ों पर बकरी की सूखी खाल जिसमें बाल मौजूद होते चढ़ा दी जाती या मज़बूती के लिए वही बालदार चमड़ा सिर्फ उनके किनारों पर चढ़ा होता । ये मूढ़े उन दिनों बड़े कारामद चीज़ थे ।

अमीरों के अलावा जो जनाने और मदनि मकान रखते थे, आम जनता और अधिकतर मध्यम वर्ग के लोग सिर्फ एक ही मकान पर ज़िदगी बसर करते । अब आमतौर पर कोशिश की जाती है कि हर मकान में दरवाजे के पास कोई बाहरी कमरा जरूर मौजूद हो । उन दिनों इसका कोई खयाल न था, बल्कि ड्यौड़ी में और उसमें गुंजाइश न होती तो दरवाजे के बाहर यही मूढ़े डालकर लोग दोस्तों से मिलते और उसमें कोई बुराई न समझी जाती ।

कमरों और दालानों के अंदर अधिकतर ताक़ों पर खूबसूरती और सजावट के लिए कागज़ के गुलदस्ते रख दिये जाते ।

दालानों की मेहराबों के लिए आमतौर से पर्दे जरूरी समझे जाते । मगर आजकल सेंटों, सिरकियों या टाट के पर्दों का रिवाज है, उन दिनों न था बल्कि इस क्रिस्म के पर्दे बुरे समझे जाते थे और उनकी जगह तूल या जाब्रम के



रूईदार पर्दे तैयार कराये जाते जो अक्सर बंधे रहते, सिर्फ जरूरत के वक़्त में खोल कर लटका दिये जाते। जनानी महलसराओं के बाहरी दरवाजों पर भी इसी तरह के पर्दे होते जिसके पास कोई नौकरानी या कहारी अक्सर खड़ी नज़र आती।

### 3-वेषभूषा

इसका ज़िक्र लिबास के सिलसिले में आ चुका है। मगर इस मौक़े पर हमें यह बताना है कि उन दिनों शरीफ़ लोगों में अपने घर पर या बाहर पूरे कपड़े पहनने की जरूरत नहीं समझी जाती थी। बल्कि सिर से पांव तक नंगा रहना और सिर्फ़ एक तूल की शर्की यानी एक छोटी-सी लुंगी बांधे रहना बुरा न था। यह शर्की इस ढंग की होती कि जांघिए की तरह सिवाय अंग-विशेष को ढंकने के टांगें भी नंगी रहतीं। फ़िलहाल हमारे यहां के शरीफ़ लोग अपने घर पर भी अंदर या बाहर बनियाइन, कुर्ता और पायजामा पहने रहना लाज़िमी समझते हैं। मगर जिस युग का हम ज़िक्र कर रहे हैं उन दिनों बज़ाहिर हर घर में इतने कपड़े पहने रहना उस समय के चलन के खिलाफ़ था। उस समय बहुत से ऐसे लोग थे जो सिर्फ़ घर से निकलते वक़्त अंगरखा और पायजामा पहन लेते और इस तरीक़े से एक जोड़े को महीनों तक निबाह ले जाते और कपड़ों की यह हालत होती कि मालूम होता कि आज ही धोकर आये हैं। आमतौर से यह होता कि घोड़ी के वहां से आया हुआ अंगरखा पहना तो उसकी दामन, गोद और आस्तीनें चुनी जातीं, उस चुनावट के निशान महीनों उसी तरह बरकरार रहते।

हां, औरतों के लिबास में अलबत्ता कोई फ़र्क़ न आता, वे अपने घरों में उतने ही कपड़े पहने रहतीं जितने कहीं मेहमान जाने में पहनतीं। यह और बात है कि आने-जाने का जोड़ा भारी और कीमती होता और घर में पहनने का मामूली। किसी के यहां मेहमान जाने की सूरत में मर्द और औरत दोनों उम्दा, साफ़-सुथरी और भारी पोशाकें पहनकर जाते और कपड़ों के बढ़िया होने की वजह से मर्दानी और जनानी महफ़िलें बहुत साफ़-सुथरी और बारीक़ रहतीं।



मर्दों की पोशाक पुराने ज़माने से यह चली आती थी कि सिर पर बाल, कतरी हुई मूँछें और दाढ़ी गोल और लंबी। मजहबी लोग, विद्वान, संयमी आदि दाढ़ी को हज़रत मुहम्मद साहब के आदेशानुसार बिल्कुल छोड़ दिया करते थे और मूँछों के काटने में कभी इतनी अत्युक्ति करते कि मुंडा डालते। लेकिन अमीरों और शरीफों का यह चलन था कि दाढ़ी के लिए नीचे गले के पास और ऊपर गालों पर हट्टे कायम की जातीं और जो बाल ज्यादा बढ़ जाते उनको काटकर दाढ़ी में गोलाई पैदा करके उसकी लंबाई की एक हद मुक़रर कर दी जाती। सबसे पहले शहंशाह अकबर ने दाढ़ी मुंडवाई और उसके बाद जहांगीर के मुंह पर भी दाढ़ी न थी। अकबर और जहांगीर के दरबारियों पर इसका चाहे किसी हद तक असर पड़ गया हो मगर मुसलमान अमीरों का आम चलन वही रहा जो पहले से चला आता था।

लखनऊ में दरबार कायम होने के बाद दाढ़ी में कमी शुरू हुई और होते-होते अक्सर लोगों के मुंहों पर से दाढ़ियां गायब हो गयीं। शायद इसका कारण यह हो कि एक ही मजहब के होने से यहां के दरबारों पर ईरानियों का असर पड़ रहा था और वहां सफ़विया वंश के बादशाहों के काल से बादशाहों और अमीरों में दाढ़ी का वह महत्व नहीं रहा था जो इस्लाम के प्रादुर्भाव के समय से चली जाती थी। या तो मुसलमानों में किसी की दाढ़ी मुंड देना सज़ा देने या उसका अपमान करने के लिए था, या ईरान में दाढ़ी न रखना अमीरों की शान में दाखिल हो गया। लखनऊ के नैशापुरी खानदान के पहले संस्थापक नवाब बुरहान-उल-मुल्क के मुंह पर लंबी दाढ़ी थी, शुजाउद्दौला ने दाढ़ी मुंडवायी और उसके बाद से यहां के तमाम अमीर और बादशाह दाढ़ियां मुंडाते रहे। इसका लाज़िमी नतीजा यह था कि आम शीश्यों से दाढ़ी का रिवाज उठ गया, फिर बाद के ज़माने में बहुत से सुन्नियों ने भी दाढ़ियां कतरवाई या मुंडवा डालीं। दाढ़ी मुंडाने का शीश्रु पैदा होने के बाद तरह-तरह के फ़ैशन निकलने लगे। किसी ने कानों के नीचे छोटी-छोटी कलमें निकालीं, किसी ने ठेके रखवाये, किसी ने बड़े-बड़े गलमुच्छे रखे, लखनऊ के आसपास के क़स्बों के रहनेवालों और बाज़ शहर के सुन्नियों ने भी यह फ़ैशन



अपनाया कि दाढ़ी रखते मगर राजपूतों और हिंदी पठानों की रुचि के अनुसार दाढ़ी के बीच में ठुड़ी के पास मांग निकाल कर दोनों तरफ के बालों को कानों की तरफ चढ़ाते और दाढ़ी को इसी फ्रैशन में बनाये रखने के लिए घंटों ढांटा बांधे रहते, फिर उस चढ़ी हुई दाढ़ी के साथ मूँछें भी कंधी करके और बांध-बांध कर ऊपर के रख पर चढ़ायी जातीं। चुनांचे यही फ्रैशन यहां और सारे हिंदुस्तान में सिपहगरी और बहादुरी का प्रतीक समझा जाता था।

सिर के बारे में हज़रत मुहम्मद साहब के काल में आम दस्तूर था कि सिर पर बड़े-बड़े बाल होते जो हज के ज़माने में मुंडवाये या कटवा दिये जाते।

मगर अरब ही में इस्लाम के आगमन के कुछ रोज़ बाद सिर मुंडाने का आम रिवाज हो गया और यही रिवाज ईरान में मालूम होता है। और मुसलमान शुरू में जब हिंदुस्तान में आये हैं उस वक़्त उनका आम चलन यही था कि मुंडे हुए सिर और उन पर अमामें। हिंदुओं में मुसलमानों के आने के वक़्त सिर पर बाल रखने का रिवाज था। यही चलन यहां के मुसलमानों को पसंद आया, चुनांचे उस युग के अंत में विद्वान, धर्मपरायण शेखों और सूफियों के अलावा दिल्ली के शरीफों और अमीरों का आम चलन यह था कि सिर पर बाल होते जो कानों तक रहा करते सिवाय बांकों के जो नयी-नयी घर्जें निकाला करते।

इसी लिबास और ढब में दिल्ली के शरीफ लोग लखनऊ में आये। यहां आकर नाजुक मिजाजियां बढीं, अपने को सजाने के शौक में तरक्की हुई और बड़ी नज़ाकत और सफाई से कंधी करके माथे पर औरतों की तरह पट्टियां जमायी जाने लगीं और ऐसी धज पैदा हो गयी कि नौजवान लड़कों में औरतों की-सी दिलकशी पैदा हो गयी। फिर चंद रोज़ के बाद जब अंग्रेज़ों से सीखकर औरतों ने माथा खूब खोलकर बाल उलटना शुरू किये तो यह ढब भी कुछ-कुछ मर्दों ने अपना लिया।

अब ग़दर के बाद जब अंग्रेज़ी चलन अपनाया जाने लगा तो सारे हिंदुस्तान के लोगों की तरह यहां भी बाल कटकर अंग्रेज़ी फ्रैशन के हो गये और जितने मुंहों पर दाढ़ियां बाक़ी रह गयीं थीं वे भी तशरीफ ले गयीं।

औरतों के बालों का ढब शायद लखनऊ में वही होगा जो दिल्ली में था, लेकिन यहां शाही में दुलहनों और बनाव सिंगार करने वाली औरतों की चोटियों



में बड़े-बड़े रंगीन दुपट्टों के सूवाफ़<sup>1</sup> होते जो खूब पेच देकर सिर से कमर तक बट कर लटका दिये जाते और ज्यादा तकल्लुफ़ के वक्त उनमें चौड़ा लचका लपेट दिया जाता और मालूम होता कि बड़ी भारी मोटी चोटी सिर से पैर तक चांदी की है, माथे पर मेहराबदार पट्टियां जमाई जातीं और उनके बीच में चांद टीकी के गिर्द सुनहरा या रुपहला सिंदूर और सितारों के नक्श-निगार बनाये जाते ।

हाथ-पांव में मेंहदी औरतों के लिए लाजिमी थी, मगर उनके साथ रंगीन-मिजाज मर्दों ने भी अधिकतर मेंहदी लगाना शुरू कर दी थी जिसको देख कर बाहर वाले लखनऊ के मर्दों में जनानापन पाते और नाम रखते ।

#### 4-शिष्टाचार

संस्कृति में चौथी चीज़ शिष्टाचार और स्वभाव है । इस बात में लखनऊ-वालों ने खास शौहरत हासिल की । यही चीज़ लखनऊ में खास महत्व रखती है और इस का जिक्र करना बहुत जरूरी है । दरअसल लखनऊ में एशियाई सभ्यता का बहुत विकास हुआ और दूसरे किसी शहर के लोगों में संस्कृति के उन सिद्धांतों का पालन नहीं किया जाता जिनके लखनऊवाले आदी हो गये हैं ।

सभ्यता या तहजीब दरअसल उस औपचारिकता का नाम है जिसे कोई भी राष्ट्र कुलीनता का प्रतीक समझने लगे । आजकल हम अक्सर लोगों को यह कहते देखते हैं कि मिलने-जुलने में ऐसा और वैसा और संस्कृति की औपचारिकता बेकार का दिखावा और पाखंड है । मगर यह उनकी गलती है, वैसे तो लिबास और रहन-सहन का इतिजाम भी एक व्यर्थ का पाखंड है और पशुओं की-सी ज़िदगी छोड़कर इंसानियत की ज़िदगी इस्तियार करने की सभी बातें पाखंड कही जा सकती हैं । असल यह है कि जिन लोगों को इंसानी तहजीब नहीं आती और सभ्य लोगों से मिलने का सलीका नहीं होता, उन्होंने अपनी आपत्ति का आधार इस बात को बना लिया है कि हमें शहरवालों या सभ्य लोगों की ऐसी दिखावे की बातें नहीं आतीं, मगर गौर करो तो इंसानियत ही दिखावा है । अच्छा पहनना, अच्छी जीवन-सामग्री रखना, अच्छा खाना और हर काम में सफाई का खयाल करना सब दिखावा है ।

शिष्टाचार का पहला सिद्धांत यह है कि मेल-जोल में दूसरे को हर प्रकार

<sup>1</sup> चोटी बांधने का फीता ।



की सुख-सुविधा की बात में अपने ऊपर तरजीह दी जाये और आपको उसके पीछे और उससे निचले स्तर पर रखा जाये। किसी के सम्मान में उठ खड़ा होना, उसके लिए प्रमुख स्थान खाली करना और उसे वहाँ बिठाना, उसके सामने घुटने मोड़ कर बैठना, उसकी बातों को ध्यान से सुनना और नम्रता के स्वर में जवाब देना—ये सब बातें दूसरे को अपने से बढ़कर और श्रेष्ठ मानने की हैं और इनका लखनऊ के शरीफों में जितना रिवाज था लखनऊ के स्वर्ण युग में और कहीं न था।

ये तो वे बातें हैं जिनका संबंध मिलने-जुलने की प्रक्रिया से है। मगर यही चीजें जब शिष्टाचार और स्वभाव में पूरी तरह पैदा हो जाती हैं तो इंसान में त्याग और बलिदान का भाव पैदा हो जाता है और वह इस बात के लिए तैयार रहता है कि दोस्तों के साथ हर तरह के व्यवहार में स्नेह और सहानुभूति दिखाये। शाही युग में यह चीज लखनऊवालों में पूरे कमाल के साथ पैदा हो गयी थी और इसी का नतीजा है कि यहाँ भारी संख्या में ऐसे लोग पैदा हो गये थे जिनका ज़ाहिर में जीविका का कोई साधन नहीं था, लेकिन उनके मित्र ऐसे गुप्त ढंग से उनका भरण-पोषण करते कि किसी को कभी पता भी न चल सकता और जीविका के साधन गुप्त रहने की वजह से वे सफेद-पोशी और अमीरों के-से ठाठ-वाट के साथ बड़े-बड़े अमीरों की गोष्ठियों में जाते और किसी के सामने उनकी आंख नीची न होती। लखनऊ ऐसे लोगों से भरा हुआ था कि सल्तनत का तख्ता उलट गया और यकायक उनके जीविका के साधन समाप्त हो गये।

अमीरों के त्याग या परमार्थ की इस शान ने यहाँ शराफ़त का यही मान-दंड बना दिया था और दूसरों के साथ ऐसी शिष्टता से पेश आयें और उनके आतिथ्य-सत्कार में ऐसी उदारता दिखाएं जिसमें उन पर एहसान रखने का नाम को भी संदेह न हो। दुनिया के तमाम बड़े शहरों में बड़े-बड़े व्यापारी और धनी मौजूद हैं जो लाखों रुपये ज़रूरतमंदों को दे डालते हैं, मगर उनके रंग-ढंग से ज़ाहिर होता है कि एक पैसा भी उन्होंने निःस्वार्थ भाव से खर्च नहीं किया। इसके बरखिलाफ़ लखनऊवालों की दोस्तपरवरी और शरीफों के साथ उदारता का व्यवहार ऐसा था कि दुनिया को देने और लेने वाले में कोई फ़र्क़ नज़र न आता।

इसमें शक नहीं कि जब सल्तनत खत्म होने के बाद बड़े-बड़े अमीर ग़रीब



हो गये और वह गिरोह जो गुप्त जीविका के साधनों से अपनी ज़िंदगी गुज़ार रहा था, फ़ाँके करने लगा तो अमीरों में इतनी ताक़त न रही कि वे अपने स्वार्थ-त्याग और दानशीलता का परिचय दे सकते। मगर ज़ाहिर में उनका शिष्टाचार जो उनकी प्रकृति का एक अंग बन गया था, वैसा ही बाक़ी रहा और इसका नतीजा यह हुआ कि बहुत से लोगों की यह हालत हो गयी कि अपनी बातों से तो बड़े ऊँचे अतिथि-सत्कार की उम्मीद दिलाते हैं, मगर उनके मेहमान हूँजिए तो उनका अमल कुछ और ही होता है। इसी को अधिकतर लोगों ने पाखंड और भूठा शिष्टाचार समझ रखा है। मगर अफ़सोस यह पाखंड या दिखावा नहीं बल्कि हौसलामंदी है जिसकी उनमें सामर्थ्य नहीं। ऐसे लोगों पर एतराज न कीजिये बल्कि उनकी हालत पर तरस खाइये।

लेकिन इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि दौलतमंदी के ज़माने में चूँकि शहर की आबादी का ज़्यादा हिस्सा अमीरों, शरीफ़ों और दोस्तों की गुप्त सहायता पर बसर कर रहा था इसकी वजह से मेहनत, कष्ट-सहन और समय का मूल्य जानने का भाव लखनऊवालों में आमतौर से नष्ट हो गया और जो गतिविधियाँ उन्होंने अपनायीं वे उन्हें राष्ट्रीय प्रगति के पथ से रोज़-बरोज़ दूर करती गयीं। उनकी दिलचस्पी सिवाय भोग-विलास के कुछ न थी। बेफ़िक़्री और जीविका की चिंता से मुक्त होने के कारण उन्हें कबूतर-बाज़ी, बटेरबाज़ी, चौसर, गंजफ़े और शतरंज का चस्का लगा और इन्हीं कामों पर वे आमदनी का ज़्यादातर हिस्सा खर्च करने लगे। 'कल की चिंता' शब्द से सारी आबादी अपरिचित थी, कोई अमीर न था जो इन बाह्यतात कामों में से किसी एक का शौक़ीन न हो और उसके शौक़ ने और बहुतों को भी इस शौक़ में न लगाया हो।

ऐयाशी और तमाशबीनी से दुनिया का कोई शहर खाली नहीं। खास तौर से योरोप की बदतमीज़ी और फूहड़ ऐयाशी खुदा न करे कि हमारे शहरों में पैदा हो। लेकिन लखनऊ में शुजाउद्दौला के ज़माने में रंडियों से संबंध बनाने की जो बुनियाद पड़ी तो उसमें रोज़-बरोज़ तरक्की ही होती गयी। अमीरों के रहन-सहन की यह विशेषता हो गयी कि वे अपना शौक़ पूरा करने या अपनी शान दिखाने के लिए किसी-न-किसी बाज़ारी वेश्या से संबंध ज़रूर रखते। हकीम मेहदी जैसा क़ाबिल, होशियार सम्य और शिष्ट व्यक्ति जो



प्रधान मंत्री के पद तक पहुंच गया था उसकी तरक्की की बुनियाद प्याज़ू नामक एक बेइया से पड़ी जिसने धरोहर की रकम अपने पास से अदा करके उसे एक सूबे की निज़ामत का ओहदा दिलवाया था। इन उच्छृंखलताओं का एक छोटा कमाल यह था कि लखनऊ में मशहूर था कि 'जब तक इंसान को रंडियों की सोहबत न नसीब हो, आदमी नहीं बनता।' आखिर लोगों की नैतिक अवस्था बिगड़ी और हमारे ज़माने तक लखनऊ में बाज़ ऐसी रंडियां मौजूद थीं जिनके घर में खुल्लमखुल्ला और बेधड़क चला जाना और उनके साथ रहना बुरा न समझा जाता। बहरहाल इस चीज़ ने एक बड़ी हद तक उनकी आदतें बिगाड़ दीं गो कि उसके नतीजे में उन्हें उठने-बैठने का सलीका भी आ गया।

रहा औरतों का शिष्टाचार और स्वभावादि तो इस वारे में हमारा आम दावा है कि जिन लोगों में व्यभिचार का शौक हो उनकी स्त्रियां सच्चरित्रा नहीं रह सकतीं। फिर भी इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि लखनऊ में स्त्रियों का आचरण इतना खराब नहीं हुआ जितना की मर्दों का खराब हुआ था। मिलनसारी और अपने मिलनेवालों के साथ आदर-सम्मान से मिलना औरतों में भी वैसा ही था जैसा कि मर्दों में था।

किसी ज़माने में चर्खा कातना शरीफ औरतों का शरीफ़ाना शुगल समझा जाता था अब अगर्चे सूत की कलों ने इस शुगल को बिल्कुल बेकार और बेनतीजा कर दिया, मगर शौकीनी और अमीरी ने इससे पहले ही यह काम यहां की औरतों से छुड़वा दिया था। यहां इसके बदले औरतों को सीने-पिरोने, काढ़ने, घरों की सफ़ाई का इंतज़ाम करने, मामाओं, बाबूचिन लौंडियों और अर्दलियों से काम लेने और बनने-संवरने का ज़्यादा शौक था और बीवियों को घर के कामों और पति और बच्चों के कपड़ों से फ़ुसंत न मिलती थी कि जिन व्यभिचार के कामों में पुरुष फंस गये थे उनमें वे भी फंसतीं। दरअसल उस दौर में मर्द घरों में बैठे खेला करते थे, घरबार और दुनिया का सारा कारख़ाना सिर्फ औरतों के दम से चल रहा था।

मगर अमीरों के महलों में जब सारा कारोवार मामाओं, मुग़लानियों, अर्दलियों और दायाओं के हाथ में आ गया तो प्रतिष्ठित बेगमों के सामने मुजरा करने के लिए डोमनियों की मंडलियां नौकर हुईं और जिन महलों में स्थायी रूप से डोमनियां नौकर न थीं वहां शहर की आम डोमनियों का



जल्दी-जल्दी आना-जाना रहता और आये दिन तबला-सारंगी लिये ड्योढ़ी पर खड़ी ही रहतीं इसलिए उनके सैकड़ों गिरोह शहर में मौजूद थे। डोमनियों की रुचि जहां तक मुझे मालूम है बहुत ही अश्लील और भौंडी होती है और उनकी संगति औरतों पर कोई अच्छा असर नहीं डाल सकती है। चुनांचे जिस तरह मर्दों के अनैतिक आचरण का कारण वेश्याएं थीं उसी तरह औरतों का आचरण बिगाड़ने का कारण डोमनियां हो गयीं।

लेकिन शरीफों के खानदान इन डोमनियों की संगति से बचे हुए थे और इसलिए औरतें इस नुकसान से बची रहीं और बढ़िया आचार-व्यवहार का आदर्श बनी रहीं। लखनऊ की औरतों का कैरेक्टर है कि वे पति पर अपनी हर चीज को क़ुरबान करने को तैयार रहती हैं। अपनी हस्ती को पति की हस्ती का एक अंश समझती हैं और कुछ दूसरे शहरों की औरतों की तरह जो घर-गृहस्थी के सलीक़े में लखनऊवालियों से कहीं आगे होती हैं यहां की औरतों को कभी यह खयाल नहीं पैदा हुआ कि अपना रुपया पति से छिपाकर अलग जमा करें और पति की बीमारी में भी अपना धन खर्च करने में संकोच करें। लखनऊ की औरतें वहां की औरतों की-सी हुनरमंद नहीं और घर-गृहस्थी के काम में उनके मुक्काबिले में फूहड़ हैं, हृद दर्जों की खर्चीली हैं, चटोरी हैं, मगर पति का साथ देने और उस पर अपनी जान न्यौछावर कर देने में सबसे आगे हैं।

[ 39 ]

### 5-शालीनता

संस्कृति में पांचवीं चीज सभा-समाज में उठने-बैठने का ढंग या शालीनता है। हर सुसंस्कृत जाति में शालीनता के कुछ खास नियम निश्चित हुआ करते हैं और उन्हीं से उस जाति की सभ्यता और उसकी प्रगति-शीलता का स्तर जांचा जाता है। अगर आप ईसाइयों के सुसंस्कृत नगरों पेरिस, लंदन और बर्लिन में या मुसलमानों के सुसभ्य नगर कुस्तुन-तुनिया, तेहरान, और शीराज में जाइये और वहां के सभ्य लोगों की गोष्ठी में शामिल होइये तो नज़र आयेगा कि उनमें शिष्टाचार के नियमों का कितनी



सस्ती से पालन आवश्यक होता है। मगर हिंदुस्तान के बड़े व्यापारिक नगरों में आप जायें और वहां के धनिकों और प्रतिष्ठित लोगों से मिलें तो आपको शिष्टाचार के नियमों का बिल्कुल पता न चलेगा। मगर उन शहरों में जहां कोई खास दरबार कायम है या रह चुका है मिसाल के तौर पर हैदराबाद दक्खिन, भोपाल और रामपुर वगैरा—प्रतिष्ठित देशी दरबारों के स्थापित होने के कारण आम जनता और खास लोगों में सभी में बड़े-छोटे के लिहाज के नियम मिल जायेंगे। इनके विपरीत व्यापारी नगरों में तमीजदारी, अदब और छोटे-बड़े के लिहाज का नाम-निशान भी न होगा।

निश्चय ही दिल्ली में पुराने जमाने में ये आचार सिद्धांत दूसरी जगहों से कहीं ज्यादा बड़े हुए होंगे इसलिए कि वहां का दरबार सबसे बड़ा था और सदियों से कायम था। मगर वहां चूंकि व्यापारी लोग सोसाइटी पर छा गये इसलिए आने वाली सारी संस्कृति धूल में मिल गयी। शालीनता की बुनियाद अमीरी, रईसी और हुकूमत से पड़ी है। हुकूमत और रियासत बताती है कि छोटों को बड़ों से और बड़ों को छोटों से किस तरह मिलना चाहिए और बराबर वालों से कैसा बर्ताव करना चाहिए। मगर व्यापारी वर्ग को अमीरी के इन चोचलों और आचार-संबंधी कष्टों से दुश्मनी है। व्यापार तो लेन-देन और स्वार्थपरता के बल पर बनपता है और सेल्फ-सेक्रिफ़ाईस यानी अपने वक्त और अपने रुपये, अपने हुनर और अपनी दौलत का अकारण ही किसी और पर न्यौछावर कर देने को मूर्खता बताता है। इसके विपरीत रईसी की विशेषता यह है कि निःस्वार्थता के साथ अपने तरफदार या योग्य लोगों को सुख-सुविधाएं दी जायें और उसका यह लाजिमी नतीजा है कि जहां व्यापार की प्रगति होगी और व्यापारियों की संस्कृति समृद्ध सामंतों और अभिजात वर्ग की संस्कृति पर हावी आ जायेगी वहां कोई नैतिक सिद्धांत बाक़ी नहीं रह सकता। चुनांचे इस चीज़ ने दिल्ली के प्राचीन शानदार दरबारों की सारी आनबान मिटा कर रख दी और वह बात बाक़ी रही जो उसकी ऐतिहासिक स्याति के अनुकूल थी।

दिल्ली की संस्कृति को जब पूंजीपतियों के गिरोह ने तबाह किया तो उसने अपनी प्राचीन जन्मभूमि से भागकर लखनऊ के छोटे दरबार में शरण ली जो अगर्चे छोटा था मगर उसकी सीमा में दाखिल होने के बाद किसी को नज़र न आ सकता था कि दुनिया में यहां से बड़ा कोई और दरबार भी है।



फिर यहां आज़ादी से बैठकर दिल्ली के शरीफ लोगों ने अपने शालीनता के नियमों का पालन करना शुरू किया तो कुछ ही दिन में यह हालत हो गयी कि अकेला लखनऊ ही सारे हिंदुस्तान में तहजीब और शिष्टता और शालीनता का केंद्र बन गया। तमाम शहरों के सम्य लोग लखनऊवालों का अनुसरण कर रहे थे। इन नियमों का बनाना कि किस व्यक्ति का स्वागत दरवाजे तक आकर करना चाहिए, किसके लिए सिर्फ खड़े हो जाने की जरूरत है, किसके लिए आधा खड़े होकर और किसके लिए अपनी जगह पर बैठे ही बैठे “आइए, तशरीफ लाइये” कह देना काफ़ी है, ज्यादातर अपने ऐच्छिक निर्णय और विवेक पर निर्भर है और इस विवेक में जितने बड़े-चढ़े लखनऊ के सम्य और शिष्ट लोग हैं वैसे कहीं और के न होंगे।

यहां कोई बराबर वाला आयेगा तो खड़े होकर उसका सत्कार करेंगे, उसके लिए सबसे अच्छी जगह खाली करेंगे और जब तक वह बैठ न जायेगा खुद न बैठेंगे। उसके सामने अदब और तमीज़दारी से बैठेंगे, चेहरा प्रफुल्ल रखेंगे ताकि उसे बुरा न महसूस हो। जब वह कोई चीज़ देगा आदर-भाव से स्वीकार कर लेंगे। इसका पूरा खयाल रखेंगे कि हमारी कोई हरकत उसे नागवार न हो और उसके साथ बैठे हुए किसी और जरूरी काम की तरफ ध्यान देंगे तो उससे क्षमा मांग कर वह काम करेंगे। कहीं उठकर जाने की जरूरत पेश आयेगी तो उससे इजाज़त लेकर जायेंगे। अगर उसके साथ जाने की नौबत आये तो रास्ते में उसके पीछे रहेंगे और उसे आगे बढ़ायेंगे। शिष्टाचार के नियमानुसार वह भी आग्रह करेगा कि “पहले आप तशरीफ ले चलें।” लेकिन इधर से बार-बार यही कहा जायेगा कि “जनाब आगे तशरीफ ले चलें, मैं किस काबिल हूं।” और अगर वह किसी तरह न माने और मजबूर ही कर दे तो उसका शुक्रिया अदा करते हुए उसे भुक्कर सलाम करेंगे और आगे कदम बढ़ायेंगे भी तो इस अंदाज़ से कि उसकी तरफ पीठ न हो।

अक्सर लोग इस प्रकार के शिष्टाचार का मज़ाक उड़ाते हैं और यह कहा-वत मशहूर होगी कि चंद लखनऊवाले ‘पहले आप, पहले आप’ कहते रहे और रेल छूट गयी, चुनौचे दोनों स्टेशन पर पड़ें रह गये। इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि हर चीज़ का मर्यादा से बढ़ जाना अशोभन और हानिकार हो जाता है। मगर क्या इससे यह साबित नहीं होता कि सम्यता के नियमों का पालन



लखनऊवालों के शिष्टाचार का ऐसा अंग बन गया है कि उनके बरतने में उन्हें नुकसान पहुंचने का भी खयाल नहीं रहता। जो लोग तहजीब और शिष्टता से विहीन हैं वे जो चाहें आपत्ति करें, लेकिन एक शिष्ट और सम्य व्यक्ति इन बातों को बजाये दुर्गुण के शिष्टाचार का गुण मानेगा।

अब तो सब शहरों की तरह यहां भी मेज़-कुर्सियों और अंग्रेजी फर्नीचर का रिवाज हो गया है, मगर पहले फ़र्श पर बैठने का ही रिवाज था और वह फ़र्श हर व्यक्ति की अपनी हैसियत और दौलत के मुताबिक़ कीमती और पुरतकल्लुफ़ हुआ करता था। अगर कोई बराबर के दर्जे का अपरिचित या बुजुर्ग और आदरणीय व्यक्ति आ जाता तो उसे गांव (तकिये) के आगे बिठा कर सब लोग वहां उपस्थित लोगों की संख्या के अनुसार छोटा या बड़ा दायरा बांध कर अदब से और घुटने मोड़ कर बैठ जाते। जिस किसी से वह बात करता वह शल्स हाथ जोड़कर बड़ी ही विनम्रता से जवाब देता और उसके सामने ज्यादा बातें करना या अपनी आवाज़ को उसकी आवाज़ से ऊंची करना नैतिक अपराध समझता।

लेकिन अगर सब बराबरवाले परस्पर मित्र और समान रुचि वाले होते तो बैठक में बेतकल्लुफी रहती और इसके बावजूद कि हैसियत और उम्र में एक दूसरे के बराबर होते, बेतकल्लुफी भी होती लेकिन फिर भी सब एक-दूसरे का आदर करते। इसका खयाल रहता कि किसी की तरफ पीठ न हो और कोई बात ऐसी न होने पाये जिससे किसी का अपमान हो या ऐसा महसूस हो कि उसकी कम इज़्जत है। नौकर या खिदमतगार पास या उस फ़र्श पर न बैठ सकते जिस पर मित्र-मंडली बैठी होती। वे हुक्म की तामील के लिए सामने अदब से खड़े होते या नज़र से ग़ायब करीब ही किसी ऐसी जगह पर ठहरते जहां तक आवाज़ पहुंच जाये और उनका हर वक़्त खड़ा रहना या ज्यादा बातें करना बदतमीजी समझा जाता।

वे खासदान या हुक्का लाकर लगाते तो मेज़बान अपने हाथ से दोस्तों के सामने बढ़ाता और वे उठकर और तसलीम (प्रणाम) करके लेते। बेतकल्लुफी की महफ़िलों में छोटों का बेज़रूरत आना नामुनासिब था। अगर कभी वे ज़रूरत से आ जाते तो वाप के आगे दोस्तों को बहुत ही अदब से झुककर आदाब बजा लाते और उनके आते ही बुजुर्गों की सोहबत बेतकल्लुफ़ से शिष्ट और शालीन बन जाती और जिस तरह वह छोटा सबके बड़प्पन का अदब



करता उसी तरह बुजुर्ग उसके छुटपन का खयाल करके अपनी बेतकल्लुफ़ियां छोड़ देते ।

यहां की दोस्ती में रोज़ के मिलनेवालों में हाथ मिलाने या गले मिलने का रिवाज न था । हाथ मिलाना सिर्फ़ नेताओं या प्रतिष्ठित लोगों के हाथ चूमने तक सीमित था और आलिगन सिर्फ़ उन दोस्तों के लिए था जो किसी यात्रा से लौट कर आये या मुद्त के बाद मिलें ।

जनाने में मर्द जाते तो औरतों का आदर करते, उनके सामने मुमकिन न था कि वे ज्यादा बेतकल्लुफ़ी बरतें या उनमें ज्यादा उठे-बैठें । मियां-बीवी में बेतकल्लुफ़ी लाज़िमी थी लेकिन घर की बुजुर्ग औरतों के सामने वे भी हरगिज़ बेतकल्लुफ़ न होते । देहात के शरीफ़ों में आम रिवाज था कि नयी दुलहन जब तक चार-पांच बच्चों की मां न हो जाये घर की तमाम औरतों के सामने पति से पर्दा करती और मज़ाल न थी कि कोई रिश्तेदार मर्द या औरत उसे पति के पास या पति को उसके पास जाते देख ले । यह सख्ती शहर के शरीफ़ों में न थी । शहर के खानदानों में पति-पत्नी शुरू ही से एक दस्तरख्वान पर खाना खाते, मगर यह अशोभन था कि मामाओं और नौकरानियों के सामने भी आपस में बेतकल्लुफ़ी बरतने लगे ।

औरतों की आपसी मुलाकात सिवाय बड़े-बड़े अमीर घरानों के कुछ ज्यादा बेतकल्लुफ़ रहती । उनमें मेहमान आनेवाली औरतों के साथ एक मुना-सिव हद तक तकल्लुफ़ रहता मगर उस तकल्लुफ़ के साथ निष्ठा और एकता का भी प्रदर्शन होता ।

[ 40 ]

शालीनता के ही सिलसिले में हमें यह भी बता देना चाहिए कि योरुप या अरब और ईरान की तरह हिंदुस्तान में आपस में मिलने-जुलने और संगति-लाभ करने के लिए क्लबों और सोसाइटियों का रिवाज न था । योरुप में हर जगह ऐसे क्लब या ऐसी सोसाइटियां कायम हैं जिनमें जाकर लोग अपने मित्रों और समान रुचिवाले लोगों से मिलते और उनकी संगति में आनंद उठाते हैं । अरबों, ईरानियों और तुर्कों में चायखाने या क़हवाखाने मेलजोल और विचार



विनिमय का साधन बन गये हैं। जिस तरह आप देखते हैं कि जिस जगह दो-चार अंग्रेज होते हैं वहां अपना एक क्लब कायम कर लेते हैं और फुर्सत के समय वहां जाकर अखबार पढ़ते और दोस्तों से मिलते हैं। उसी तरह जिस शहर में ईरानियों और अरबों की काफ़ी तादाद होती है वहां उनका कोई चायखाना या क़हवाखाना खुल जाता है और उसमें जिस वक़्त देखिये उनका कोई-न-कोई ग़िरोह ज़रूर मौजूद होता है जो वहां चाय और हुक्का पीते, खाना खाते और साथ बैठकर गप्पें मारते हैं।

इसके बरखिलाफ़ हिंदुस्तान में कभी इस किस्म के क्लबों या चायखानों का रिवाज न था और न आज तक है। अंग्रेज सरकार ने शहरों में जगह-जगह यह रुचि पैदा करने की कोशिश की, बड़े-बड़े खर्चों का बोझ उठाकर चाय-खाने खुलवाये मगर कामयाबी न हुई। आज से तीस-पैंतीस साल पहले खास लखनऊ के चौक में मीर मुहम्मद हुसैन साहब, डायरेक्टर कृषि और व्यापार, ने निज़ाम हैदराबाद जाने से पहले गवर्नमेंट की मदद से एक चायखाना खुलवाया था जिसमें फ़र्नीचर भी अच्छा था और सिवा नाजायज़ चीज़ों के हर तरह के पेय तैयार रहते थे मगर किसी ने ध्यान न दिया और आखिर मीर साहब को नुक़सान उठाकर उसे बंद कर देना पड़ा।

यहां का पुराना रिवाज यह है कि हर मुहल्ले में या आबादी के हर हलके में कोई खुशहाल या दौलतमंद शख्स अपने घर में लोगों के आने और उठने-बैठने का प्रबंध करता है। दोस्तों की खातिर के लिए हुक्का, पान वगैरा ज़रूरी चीज़ों को वह अपने खर्च से मुहैया करता है और उसके साथी-संगी रोज़ाना पाबंदी से आते हैं। देर तक बैठक जमती है, चुटकले सुनाये जाते हैं और आपस में नोक-भोंक होती है और जब तक बैठक रहे हुक्का और पान चलता रहता है और फिर दोस्तों के अनुसार उनकी महफ़िलों का रंग भी बदलता जाता है। अगर महफ़िल के लोग शेर-ओ-शादरी में दिलचस्पी रखते हैं तो शादरी और अन्य साहित्यिक बातों की चर्चा होती है। अगर वह विद्वानों की मंडली है तो वहां शास्त्रीय चर्चा होने लगती है। अगर सुसंस्कृत सामंतों या अमीरों की बैठक है तो वेशभूषा, ऐश्वर्य, खान-पान और और अन्य वस्तुओं के बरतने और विभिन्न रुचियां अपनाने आदि में बड़ी शिष्टता और सफ़ाई तथा रख-रखाव के साथ तमीज़दारी ज़ाहिर की जाती है। अगर



रंगीन स्वभाव ऐयाशों की महफिल है तो उसमें बाज़ारी सुंदरियां भी शामिल होती हैं और नाज़-नखरे दिखाती हैं। यह खयाल रखना चाहिए कि योरुप की तरह यहां, मर्दों की किसी गोष्ठी में भद्र और सच्चरित्रा स्त्रियां शामिल नहीं हो सकतीं और मित्र-मंडली में जब कोई स्त्री नज़र आ जाये तो विश्वास करिये कि वह निश्चित रूप से कोई वेश्या है। इसका नतीजा यह है कि योरुप की गोष्ठियों में भद्र और शिष्ट महिलाओं के शरीक होने के कारण बाज़ारी औरतों का दर्जा और मान सोसाइटी में इतना गिर गया कि किसी शरीफ़ खानदान का दरवाज़ा उनके लिए नहीं खुल सकता और न शरीफ़ों के क्लबों और सोसाइटियों में वे कदम रख सकती हैं। इसके विपरीत एक हद तक सारे हिंदुस्तान में और इसी तरह लखनऊ में बाज़ारी औरतों को यह दर्जा हासिल हो गया कि सभ्य और सुसंस्कृत सामंतों की गोष्ठियों में उनके साथ-साथ बैठें। और यहां इस रुचि का ऐसा विकास हुआ कि कुछ प्रतिष्ठित वेश्याओं ने अपने घरों में ऐसी ही गोष्ठियों का आयोजन किया जिनमें जाते हुए बहुत से भद्र और शिष्ट लोगों को भी शर्म नहीं आती। लखनऊ में चौधराइन वी हैदर जान और उसी स्तर की कुछ अन्य वेश्याओं के मकान अच्छे खासे क्लब थे जहां शरीफ़ लोग आतेजाते थे, जिनमें उन वी साहिबा की तरफ से हुक्के-पान की खूब खातिर की जाती। अंग्रेजी रुचि ने इसमें अब इतना सुधार किया है कि अगर्चे तरह-तरह की नयी अशिष्टताएं पैदा हो गयी हैं मगर रंडियों के घरों में खुल्लम-खुल्ला बैठकर संगति-लाभ करना कुछ बुरा समझा जाने लगा है।

बहरहाल लखनऊ के क्लब खुशहाल लोगों और अमीरों के घर थे। यहां यह तरीका बहुत ही बुरा समझा जाता था और अब तक है कि सामे की हांडी पकाई जाये या महफिल के लोग चंदा देकर और अपने-अपने दामों का हुक्का-पान या खाना-पानी एक साथ बैठकर खायें-पियें। यहां चंदे के डिनर समाज के लिए लज्जाजनक और भद्रता के प्रतिकूल थे। यहां की तमाम दावतें चाहे वे किसी खुशी के मौके पर हों या सिर्फ दोस्तों के अतिथि-सत्कार के लिए हों सिर्फ एक व्यक्ति की ओर से हुआ करतीं। दूसरा यदि समर्थ हो तो अपनी तरफ से पूरी दावत दे सकता है यह नहीं कर सकता कि अपनी दावत में मुझे खाने के पांच रुपये लेकर मुझे भी शरीक कर लीजिए।

दिल्ली के व्यापारियों में पत्ती पड़ने का रिवाज है यानी बहुत से व्यापारी



मिलकर चंदा जमा करते हैं और उस रकम से कोई दावत या नाच-गाने की महफ़िल किसी घर में या बाहर के मनोरंजन-स्थल में की जाती है। मगर हमें यकीन है कि यह तरीका वहां के पूंजीपतियों ने शासन के पतन के बाद निकाल लिया है, दिल्ली के शरीफों का यह चलन हरगिज न था इसलिए कि वहां के शरीफों में होता तो लखनऊ में भी होता जो सभ्यता में दिल्ली का ही शागिर्द और उसी की सुथरी रुचि का अनुयायी है।

### 6-अभिवादन

संस्कृति में छठी चीज जो दूसरी सब बातों से ज्यादा महत्वपूर्ण और जरूरी है सलाम करना और जिससे मिलें उससे कुशल-क्षेम पूछना। इस्लाम का पुराना मजहबी और सीधा-सादा सलाम 'अस्सलाम अलैक' और बहुत से लोग हों तो 'अस्सलाम अलैकुम' है। इसके साथ ही वे लोग इस सलाम के बाद हर मिलने वाले से सुबह को मिलें तो 'सुब्हकुम अल्ला बिलखैर' यानी अल्लाह तुम्हारी सुबह खैरियत से गुजारे। और शाम को मिलें तो 'मस्साकुम अल्ला बिलखैर' कहा करते थे। यही सलाम और मिजाजपुरसी अरबों की थी जिसकी शिक्षा देते हुए वे पश्चिम में स्पेन तक चले गये और पूर्व में हिंदुस्तान तक चले आये। योरुप में अभिवादन का यही तरीका अंग्रेजों ने सीखा और पूर्व में ईरानियों, तूरानियों और हिंदुस्तानियों ने सीखा। चुनांचे योरुप में असली सलाम जो इस्लाम की विशेषता थी वह तो गायब हो गया सिर्फ इस्लाम के बाद वाली दुआएं 'सुब्हकुम अल्ला बिलखैर' और 'मस्साकुम अल्ला बिलखैर' बाकी रह गयीं। इन्हीं का तर्जुमा 'गुड मॉर्निंग और गुड ईर्विनिंग' आज तक हम अभिवादन के लिए अंग्रेजों की जवान से सुनते हैं। फ्रांसीसी में 'बां मतिएन', 'बां जूर' और 'बां स्वार' यानी तुम्हारी सुबह दिन और शाम अच्छी हो कहा जाता है। इसमें कोई शक नहीं कि इन पाश्चात्य जातियों को अभिवादन का यह पाठ स्पेन के अरब विजेताओं से मिला है।

हिंदुस्तान और ईरान में चूंकि पूर्वजों की पूजा रिवाज था और यह चीज इन पूर्वी लोगों के जीवन का अंग बन गयी थी, इसलिए खाली-खुली 'अस्सलाम अलैकुम' के शब्द जो व्यक्ति और समष्टि के साम्य को जारी रखे थे: धनवानों को अपने धमंड और वड़प्पन के जोश में बहुत फीके और अपनी शान से कम नज़र आये, खासतौर से जब यहां शाहंशाही दरबार कायम हुआ और बाद-शाहों ने अपना आदर सम्मान कराने में सारे इस्लामी शिष्टाचार को मिटा



दिया। दरबारियों को अपने सामने इसी तरह हाथ बांधकर खड़े होने और अपने सम्मान में झुकने का हुक्म दिया जिस तरह कि बंदे खुदा के सामने हाथ बांध कर खड़े होकर रूकूअ<sup>1</sup> और सजदे करते हैं तो शाही दरबारों के अनुसरण में आम अमीरों और धनिकों ने भी वजाये 'अस्सलाम अलैकुम' के और ही सम्मान सूचक शब्द सलाम के लिए निश्चित किये : जैसे 'तसलीम', 'कोरनिश', 'आदाव', 'बंदगी' और आत्मश्लाघी और खुदा से विमुख मुसलमान अमीरों की कोशिश से फ़िलहाल ये सभी शब्द हमारे सलाम हैं। अरब में 'अस्सलाम अलैकुम' कहने के साथ सिवाय मुख की प्रफुल्लता के और कोई हरकतें नहीं की जाती थीं। सलाम के बाद एक हाथ से हाथ मिलाया जाता, हाथ हिलाया जाता और उसी के साथ 'सुब्हकुम अल्ला विलखैर' या 'मस्साकुम अल्ला विलखैर' कहा जाता। अभिवादन के इस अरबी तरीके की यादगार में अब योरुप में सिर की एक हल्की-सी जुंविश के साथ 'गुड मॉनिंग' वगैरा कहते और हाथ को मिला कर भटका देते हैं। इसके बख़िलाफ़ हिंदुस्तान में अब पूरा सलाम यह है कि ऊपर दिये गये शब्द कहने के साथ हाथ को सिर या माथे पर रखते और झुक जाते हैं।

इतना ही नहीं बादशाहों और अमीरों के दरबारों में सलामों की तादाद मुकर्रर थी, कहीं सात सलाम किये जाते और कहीं तीन। आम बुजुर्गों और दोस्तों से मिलने में एक सलाम काफी था। लखनऊ में चूँकि शिष्टाचार और शालीनता का ज़्यादा खयाल रखा जाता था इसलिए कि छोटों का सलाम बड़ों से और बीच के दर्जेवालों का प्रतिष्ठित लोगों से यह है कि उपर्युक्त शब्दों में से किसी एक को ज़वान से अदा करने के साथ दाहिने हाथ को सीने या चेहरे के सामने तक उठाकर कई बार हिलाया जाये। छोटों के लिए आज तक यह बहुत ही उचित और आज्ञाकारिता प्रकट करने वाला अभिवादन है। यह हाथ को कई बार हिलाना अनेक सलामों का इशारा है। शायद यही वजह है कि अक्सर लोग 'तसलीम' और 'कोरनिश' को बहुवचन में इस्तेमाल करके कहते हैं : 'तसलीमात' और 'कोरनिशात'। यह भी सलाम के गिनने की यादगार है।

अब हम ऊपर दिए गये प्रचलित अभिवादन सूचक शब्दों के अर्थ और उनके उद्गम तथा विकास का अलग-अलग वर्णन करते हैं। 'तसलीम' का अर्थ अरबी में सलाम करना है। बज़ाहिर 'अस्सलाम अलैकुम' को छोड़कर

<sup>1</sup> नमाज़ पढ़ते समय सजदे में जाने से पहले झुकना।



क्रियापद के रूप में प्रयोग करना कुछ भोंडा-सा मालूम होता है मगर यहाँ की सोसाइटी में यह समझा गया कि बजाये सलाम करने के 'मैं सलाम कर रहा हूँ' कहने में आदर का पुट अधिक होता है। 'कोरनिश' तुर्की भाषा का शब्द है जिसे तुर्की विजेता यहाँ लाये। इसके मानी सलाम के लिए झुकने के हैं। लिहाजा इसमें भी झुककर जमीन छूना और चरण छूने का भाव मौजूद है। 'आदाव' 'अदव' का बहुवचन है। सलाम के समय इसके प्रयोग का उद्देश्य यह है कि आदर-सम्मान के जितने तरीके हैं उन सबको बजा लाता हूँ। जहाँ तक 'बंदगी' का संबंध है यह सलाम के सभी समानार्थी शब्दों में ज्यादा हेय और नास्तिकता का सूचक है। बंदगी का अर्थ पूजा करना है, सलाम में इसका मतलब और कोई नहीं हो सकता कि मैं आपकी इबादत करता हूँ जो मुसलमानों की आस्था की दृष्टि से सिवाय खुदा के और किसी के लिए नहीं कहा जा सकता।

इन हिंदुस्तानी सलामों के विपरीत अरब में जो शब्द 'अस्सलाम अलैकुम' कहे जाते हैं उनका शाब्दिक अर्थ यह है 'तुम पर सलामती' या साफ जवान में यों कहिये 'तुम सलामत रहो' यानी सलाम करना दरअसल हर मिलनेवाले की सलामती (सुरक्षा) की दुआ देना है। इस्लाम ने इस पर तरक्की यह की कि 'सलाम' खुदा का पयांम है जो खुदा के रसूल (मुहम्मद साहब) ने मुसलमानों को पहुंचाया और क़यामत तक आपका यह पयांम हर मुसलमान दूसरे मुसलमान को पहुंचाता रहेगा। 'अस्सलाम अलैकुम' में सलाम पर जो अलिफ (अ) और लाम (ल) लगा हुआ है उसमें साफ इशारा इसी तरह है कि वह सलाम जो हज़रत मुहम्मद साहब का पयांम है, तुमको पहुंचे।

इस्लाम के असली सलाम के इन मानों और उसके मक़सद को समझ कर हर शख्स अंदाज़ा कर सकता है कि यह सलाम राष्ट्रीय समानता का खयाल दिलाने और इस्लाम के सभी अनुयायियों में राष्ट्रीयता और एकता का भाव जगाने का साधन है। मगर अफ़सोस मुसलमानों ने इसको छोड़ दिया और हमारा व्यर्थ का दंभ हमें यह खयाल दिलाता है कि किसी मामूली मुसलमान का हमसे मिलते वक़्त 'अस्सलाम अलैकुम' कहना हमारी तोहीन करना है। हालांकि यह चीज़ बहुत अफ़सोसनाक है इसलिए कि इस्लाम तो तमाम दुनिया के लोगों के लिए समानता और भाई-चारे का संदेश लेकर आया है। इसमें एक मामूली मुसलमान तो क्या दूसरे मज़हब के मानने वालों के साथ भी उसी



उदारता और प्रसन्नचित्तता से व्यवहार करने की शिक्षा दी गयी है। और फिर यह सलामती तो एक ही ओर सीमित नहीं होती कि कहने वाले ने 'अस्सलाम अलैकुम' (तुम पर सलामती हो) कह दिया बल्कि जवाब देने वाला भी उसी तरह खुश होकर बड़ी विनम्रता के साथ जवाब देता है कि 'वअलैकुम अस्सलाम' यानी 'और तुम पर भी सलामती हो'। मैं समझता हूँ कि दुनिया की किसी कौम या किसी मजहब की सभ्यता और संस्कृति में इतना अच्छा तरीका नहीं है जितना कि इस्लाम मजहब में है।

अमीरों और रइसों की सोसाइटी में 'आदाब' और 'तसलीम' का आम रिवाज है। 'बंदगी' भी अक्सर लोग कहते हैं मगर इस शब्द का औरतों में ज्यादा रिवाज है।

लखनऊ में पुराना शिष्ट और विनम्र अभिवादन यह था कि छोटा बड़े से या गरीब अमीर से बहुत झुककर 'तसलीम' या 'आदाब' कहे। जवाब में बुजुर्ग छोटे से कहें 'जीते रहो', 'बड़े हो', 'साहब-इक़्वाल हो'। अमीर लोग गरीबों के लिए बिना झुके सिर्फ हाथ उठा दें या हाथ उठाने के साथ इन्हीं शब्दों—'तसलीम और आदाब'—को दुहराएँ या बंदगी कह दें। मगर बराबरवालों का तरीका जवाब देने में यह था कि राह चलने में साहब-सलामत हो तो उसी तरह झुक कर तसलीम या आदाब कहें। अगर किसी महफ़िल में बैठे हों तो पूरी तरह उठ खड़े हों और झुककर जवाब दें।

सलाम के बाद एक-दूसरे से कहें 'मिज़ाज शरीफ़' या 'मिज़ाजे-अक़दस' या 'मिज़ाजे-आली' या 'मिज़ाजे-मुबारक' या 'मिज़ाजे-मुअल्ला' और दूसरा हाथ जोड़ कर कहे 'दुआ करता हूँ'। लगभग सारे हिंदुस्तान में शिष्ट लोगों का अभिवादनादि का यही ढंग है। मगर लखनऊ में और चंद शहरों में जहाँ हिंदुस्तानी रियासत कायम है और कोई दरबार मौजूद है इन तरीकों के अदा करने में ज्यादा खयाल रखा जाता है और इसमें कमी होना बदतमीज़ी समझी जाती है।

मगर अब कुछ दिनों से विशेषकर लखनऊ में आम जनता, शिल्पियों और निचले वर्ग के लोगों में पुराने दरबार और उसके शिष्टाचार के मिट जाने से 'अस्सलाम अलैकुम' कहने का बहुत रिवाज हो गया है। खुदा करे अमीर लोग भी इसका अनुसरण करें और बड़े-छोटे या ऊँच-नीच का भेद बिल्कुल उठ जाये।



### 7-संबोधन और कुशल-क्षेम पूछना

संस्कृति के नियमों में सातवीं महत्वपूर्ण बात बातचीत और संभाषण का ढंग है। दुनिया में हर शख्स की शिष्टता और साहित्यिक योग्यता का पहला अंदाज़ा उसके शब्दों और उसके बातचीत के ढंग से होता है। दुनिया की हर प्रतापवान जाति सबसे पहले अपनी भाषा सुधारती है और उसका विकास करती है।

सभ्यता की मांग है कि ज़वान पर भद्दे और अश्लील शब्द न आयें। जो शब्द या विचार संबोधित व्यक्ति को नागवार गुज़रे उसके सामने ज़वान से न निकलें और अगर कभी नागवार बातों के कह देने की ज़रूरत आ भी जाये तो वे ऐसे शब्दों और ऐसे ढंग से कही जायें कि सामने वाले को बुरी न लगे और अगर बुरी लगे भी तो उनकी बुराई का अंश कुछ कम हो जाये। उसमें वे कुछ रस भी ले सकें। इस संबंध में लखनऊ और यहां के मुसंस्कृत लोगों को जो कमाल हासिल है हिंदुस्तान के और किसी शहरवालों में नज़र न आयेगा। हालांकि वर्तमान शिक्षा और सभ्यता ने एक हद तक यह खूबी हर जगह संभाषण में पैदा कर दी है मगर अंग्रेज़ी असर से अलग करके देखिये तो यही सभ्यता और विनम्रता लखनऊवालों की भाषा में ही दिखायी देगी।

बाहर के लोग इसका यहां तक लोहा माने हुए हैं कि लखनऊवालों के सामने बात करते भेंपते हैं और जो कुछ शिष्टता उनमें है उसको भी भूल जाते हैं और उसके बाद जब अपनी महफ़िलों में बैठते हैं तो यह कहकर अपनी कमज़ोरी का आरोप दूर करते हैं कि 'हम सादगी से साफ़-साफ़ बातें करते हैं और हमें लखनऊवालों की-सी चुनां-चुनीं (वैसा-ऐसा) नहीं आती।' मगर सच पूछो तो यह वहाना उस आरोप का खंडन नहीं मंडन करता है। मैंने ईरानियों को देखा कि उनके सामने हिंदुस्तानी बात करना भूल जाते हैं। इंग्लिस्तान में देखा कि फ्रांसीसियों के सामने अंग्रेज़ों की ज़वान से एक लफ़्ज़ निकलना भी मुश्किल हो जाता है। इसी तरह अरबों की वाचालता-शक्ति की भी कभी यह हालत थी कि उनके सामने विदेशियों की ज़वान न खुल सकती थी और अरब लोगों का खयाल हो गया था कि ज़वान खुदा ने सिर्फ़ हमको



दी है और सारी दुनिया हमारे मुक्काविले में गुंगी है। इसी खयाल का नतीजा था कि सिवाय अरब के तमाम दुनिया के लोगों को वे 'अजम' कहते थे जिसका शाब्दिक अर्थ है 'गुंगा'। ठीक यही हाल हिंदुस्तान में हर शहर के लोगों के मुक्काविले पर लखनऊवालों का है कि वे प्रवाहमयी भाषा और विनोद-वृत्ति के कारण सबको दबाकर महफ़िल पर छा जाते हैं और अपने सामने किसी और को ज़बान नहीं खोलने देते।

भाषा की शिष्टता में सबसे पहली चीज़ यह है कि संबोधित को किन सर्वनामों से याद किया जाये। और सब भाषाओं में संबोधित के लिए दो सर्वनाम हैं—एक एकवचन का और दूसरा बहुवचन का। और यदि संबोधित व्यक्ति सम्मानित है तो उसके लिए एकवचन के बजाये हर भाषा में बहुवचन का सर्वनाम प्रयुक्त होता है। फ़ारसी में एकवचन में संबोधित का सर्वनाम 'तू' है और बहुवचन में 'शुमा'। अरबी में एकवचन का 'क' और 'अंत' और बहुवचन का 'कुम' और 'अंतुम'। अंग्रेज़ी में 'यू' के सर्वनाम से सम्मानित व्यक्ति को संबोधित किया जाता है। इन सब भाषाओं के विपरीत उर्दू में संबोधित के लिए एकवचन का सर्वनाम 'तू' है मगर बहुवचन के दो सर्वनाम हैं: 'तुम' और 'आप' और इन तीनों सर्वनामों के लिए संबोधित की हैसियत और पद निश्चित है। एक बहुत ही निम्न व्यक्ति को 'तू' कहेंगे। निम्न वर्ग के लोगों में जो ज़रा बेहतर हो उसे और अपने छोटों को 'तुम' कहेंगे और जो बराबर के दर्जे या हैसियत का और पढ़ा-लिखा हो उसे 'आप' कहेंगे अगर्चे प्रतिष्ठित लोग कभी बेतकल्लुफी में अपने साथियों और बराबरवालों और हमउम्रों को भी 'तुम' कहने लगते हैं मगर जिन लोगों से बेतकल्लुफी न हो उनको 'तुम' कहना उर्दू में खासतौर से लखनऊवालों में नैतिक अपराध है।

उर्दू ज़बान में और खास लखनऊवालों में संबोधित के इतने दर्जे ही नहीं बल्कि इनसे भी बढ़कर बहुत से शब्द हैं जिनका शरीफ़ों और सम्मानित लोगों के लिए इस्तेमाल करना लाज़िमी है। 'जनाब', 'जनाबे-वाला', 'जनाबे-आली', 'हज़रत', 'हज़रते-वाला', 'हुज़ूर', 'हुज़ूरे-वाला', 'हुज़ूरे-आली', 'किब्ला', 'किब्ला-ओ-कावा', 'सरकार', और इसी क्रिम के कुछ और शब्द उर्दू में हैं जो संबोधित के लिए उसकी हैसियत के अनुसार प्रयुक्त होते हैं। ये सभी शब्द लखनऊवालों की ज़बान पर चढ़े हुए हैं और उनका सही इस्तेमाल जितना लखनऊवाले जानते हैं और किसी दूसरे शहर के लोग नहीं जानते।



हमारा दावा है कि संबोधन के लिए इतने आदर सूचक शब्द संसार की किसी भाषा में नहीं हैं। हिंदुस्तान में वह जमाना गुजर गया जब उर्दू यहां की तमाम भाषाओं में समृद्ध थी और अब उर्दू साहित्य की शागिर्दी से मुक्त होकर सब भाषाएं अपने-अपने वड़प्पन का डंका बजा रही हैं। बंगला, पंजाबी, गुजराती, सिंधी, मराठी, कन्नड, तेलुगू, वगैरा सबको अपनी साहित्यिक प्रगति और श्रेष्ठता का दावा है। मगर हम उपर्युक्त भारतीय भाषाओं को और उनके साथ सारी दुनिया की मशहूर भाषाओं फ़ारसी, अरबी, अंग्रेज़ी और फ़्रांसीसी को भी चैलेंज देते हैं कि अगर उनको उर्दू से ज़्यादा साहित्यिक समृद्धि का दावा है तो संबोधित के लिए अपने कोषों में इतने शब्द निकाल दें जितने कि उर्दू में मौजूद हैं। सच यह है कि अपनी कमउम्र और सीमित प्रयोग-क्षेत्र के बावजूद उर्दू कुछ ही दिनों में शिष्टता, सरसता और शिष्टाचार के नियमों की दृष्टि से इतनी प्रगति कर चुकी थी जितनी संसार की किसी और भाषा ने न की होगी। वास्तविकता यह है कि उर्दू किसी देश, किसी प्रांत, किसी वर्ग या किसी धर्म की भाषा नहीं थी बल्कि यह वह ज़बान थी जो शाही दरबार से शुरू होकर हिंदुस्तान के हर शहर में सम्य और सुसंस्कृत लोगों, प्रतिष्ठित लोगों, साहित्यकारों, कवियों और भाषा तथा साहित्य के प्रेमियों की भाषा बन गयी थी। लिहाज़ा इसकी बुनियाद ही सम्यता और शिष्टता के हाथों से पड़ी और आखिर तक सुथरी रुचिवालों और साहित्य-प्रेमियों की भाषा रही। इसी का नतीजा है कि उर्दू बोलनेवालों की मेज़ारिटी किसी सूबे में नहीं। मगर याद रखना चाहिए कि हर जगह के सम्य और सुसंस्कृत लोग इसके बोलनेवाले हैं। यह पैदा ही इसलिए हुई थी कि हिंदुस्तान में उच्चकोटि का और सारे संसार में अधिक शिष्ट समाज पैदा कर दे मगर बदनसीबी से अंग्रेज़ी दौर में जब पश्चिमी सम्यता ने जगह पकड़ी तो हिंदुस्तानियों के आपसी और पुराने स्वाभाविक पूर्वाग्रहों ने यह रंग दिखाया कि मुसलमान इसी पर गर्व करने लगे कि हमारी ज़बान है और हिंदुओं ने यह खयाल करके कि इस ज़बान में हम मुसलमानों का मुकाबिला न कर सकेंगे हमें मुसलमानों ही के सिर मारा और दामन भटक कर अलग हो गये। इससे उर्दू को नुकसान पहुंचा और रोज़-बरोज़ ज़्यादा नुकसान पहुंचेगा। मगर इसके बावजूद इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि जो रसीलापन, जो साहित्यिक गूण इसमें हैं न तो नयी पैदा की हुई हिंदी भाषा



में हैं और न हिंदुस्तान की किसी और भाषा में ।

अंग्रेज हों या अरब, अफगान हों या ईरानी जब उर्दू बोलते हैं तो संबोधित के लिए सिवा 'तुम' के और कोई शब्द उनके खयाल में नहीं आता इसलिए कि इस प्रकार का और कोई शब्द जो 'तुम' से ज्यादा शिष्ट और प्रगतिशील हो उनकी भाषा में मौजूद नहीं है ।

अंग्रेजी में संबोधन के और शब्द हैं, जैसे 'यूअर आनर', 'यूअर ऐक्सलेंसी', 'यूअर हाइनेस', 'यूअर मैजैस्टी' वगैरा मगर वे उच्चकोटि के सामंतों और बादशाहों के लिए नियत हैं उनके अलावा और किसी के लिए उनका प्रयोग नहीं किया जा सकता । इस प्रकार के विशिष्टजनों के लिए उर्दू में शब्द निश्चित हैं, मिसाल के तौर पर 'जहांपनाह', 'साहबे-आलम', 'मुशिदजादा', 'नवाब साहब', 'नवाबजादा', 'साहबजादा' । ये खासकर उंचे वर्ग के लोगों के संबोधन में जिनके साथ 'जनाब' या 'हुजूर' के शब्द जोड़कर संबोधन किया जा सकता है और शायद इस तरह के निश्चित संबोधन हर भाषा में मौजूद होंगे, लेकिन उपर्युक्त आदर सूचक शब्द जो उर्दू भाषा में हर सम्मानित और सुसंस्कृत व्यक्ति के लिए प्रयुक्त किये जा सकते हैं उर्दू के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा में नहीं नज़र आते ।

मिजाज पूछने को ही देखिये हर भाषा में इसके लिए मामूली शब्द हैं, मगर उर्दू में आदर-सम्मान प्रदर्शित करने के लिए 'मिजाजे-आली', 'मिजाजे-मुवारक', 'मिजाजे-अक़दस', 'मिजाजे-मुक़द्दस', 'मिजाजे-मुअल्ला' वगैरा कहकर सम्मानित संबोधित की कुशल-क्षेम पूछते हैं । ये शब्द हालांकि अब उर्दू की प्रगति के साथ हर जगह और हर शहर में फैल रहे हैं मगर उनके इस्तेमाल में जो कमाल लखनऊ के भद्रजनों को हासिल है और किसी जगह के लोगों को नसीब नहीं हो सकता ।

लखनऊ के अभिजात वर्ग के लोगों में एक खास बात यह है कि 'शीन-काफ़' दुरुस्त रहेगा और तमाम अरबी हरफ़ों को यथासंभव उनके अपने उच्चारण-स्थान से अदा करेंगे । फ़ारसी की तरकीबों (समस्त शब्दों) में इज़ाफ़त (कारक-चिह्न) स्पष्ट रूप से अदा की जायेगी । विद्वानों से बातें करेंगे तो अरबी और फ़ारसी शब्दों को ज्यादा इस्तेमाल करेंगे और उनका सही उच्चारण करेंगे । हकीमों से बातचीत होगी तो अरबी की तिवसंबंधी शब्दावली का प्रयोग करेंगे । जाहिल नौकरों और आम लोगों से बात करेंगे तो अरबी के



शब्दों से बचेंगे। औरतों से बातचीत होगी तो उनके मुहाविरों और कहावतों का बातचीत में इस्तेमाल करेंगे।

छोटा बड़े से, निचले वर्ग का उच्च वर्ग के व्यक्ति से या अनपढ़ पढ़े-लिखे से बातचीत करेगा तो हर शब्द और हर वाक्य में आदर सम्मान का ध्यान रखेगा। आवाज़ मुनासिब दर्जे तक हल्की और नीची रहेगी। इसी तरह बड़े छोटों से, ऊंचे वर्ग वाले निचले वर्ग के लोगों से, विद्वान जनसाधारण से बात करेंगे तो उनके लहजे, उनके अंदाज़ और उनके शब्दों में स्नेह और वात्सल्य के भाव निहित होंगे।

इन बातों का लिहाज़ रखने और ऊपर दिये गये आदरसूचक शब्दों और सर्वनामों के प्रयोग करने से लखनऊवालों की भाषा ऐसी शिष्ट, प्रांजल और प्रवाहमयी हो गयी है कि यहां की आम जनता और अनपढ़ लोग दूसरे शहरों के अधिकांश कवियों और साहित्यकारों से अधिक अच्छी उर्दू बोलते हैं और जो शिष्टता और तहज़ीब उनसे जाहिर हो जाती है किसी और जगह के योग्य और पढ़े-लिखे लोगों से भी नहीं जाहिर हो सकती। मगर अफ़सोस लखनऊ मिटता जाता है। अब यहां बाहर के लोगों का ऐसा तूफ़ाने-बेतमीज़ी मचा हुआ है, यहां के सम्य और शिष्ट लोग इस तरह बेकार होकर कोने में बैठ गये हैं और क़ानूनी आज़ादी ने अनपढ़ जनता को इतना निर्भीक और बदतमीज़ बना दिया है कि शिष्टाचार-संबंधी सारी खूबियां खाक में मिल रही हैं और चंद रोज़ बाद शायद इनका पता भी न हो।

## [ 42 ]

### 8-हास्य का ढंग

सभ्यता में आठवीं चीज़ हास्य या हंसी-दिल्लगी का ढंग है। अरब का पुराना कथन, बल्कि हज़रत मुहम्मद साहब की मशहूर हदीस है कि 'बातचीत में विनोद का वही स्थान है जो खाने में नमक का'। सच यह है कि शोखी और विनोदप्रियता के बिना न तो बातचीत में मज़ा पैदा होता है और न महफ़िल में जान पड़ती है। मगर इसी विनोदप्रियता में यदि असावधानी हो जाये तो वही भगड़े-फ़साद का कारण बन जाती है। विनोद या हास-परिहास ने



बातों-बातों में अक्सर तलवार चलावा दी है और पुराने जानी दोस्तों को घड़ी भर में दुश्मन बना दिया है। और से देखो तो साफ नज़र आ जायेगा कि इन बुराइयों का कारण हास-परिहास नहीं बल्कि उसमें असावधानी करना या मर्यादा से बाहर हो जाना हुआ करता है।

जो भाषा जितनी विकसित होती जाती है हास-परिहास और व्यंग्य-विनोद के पहलू उसमें उसी अनुपात में बढ़ते जाते हैं। बात में विनोद जिन तरीकों से पैदा हो जाता है उनको मर्यादित करना बहुत मुश्किल है। सैकड़ों तरीके हैं जिनसे एक अच्छी भाषा का ज्ञाता फ़ायदा उठा लिया करता है और उनकी विस्तार से चर्चा करने के लिए एक पूरी पुस्तक चाहिए। इस समय तो हमें सिर्फ इतना कहना है कि विनोद का स्रोत वे शब्द हुआ करते हैं जो अने-कार्थी होते हैं और उनमें से कुछ अर्थों से किसी पर व्यंग्य होता है और कभी विनोद में ऐसे शब्दों से भी काम नहीं लिया जाता बल्कि किसी इंसान या चीज़ की किसी ऐसी चीज़ से उपमा दी जाती है जो अनुचित होते हुए भी उसके समान हो। फिर उस उपमा को ऐसे ढंग से प्रकट करना कि उसमें उपमा के बदले अलंकार का आनंद आ जाये। ठीक इसी तरह कभी अपने आपको या किसी और को इतना बढ़ाना या इतना घटाना कि वास्तविकता से बहुत दूर हो जाये। इन सब बातों के लिए सलीक़े की ज़रूरत है। अच्छा सलीक़ा रखने-वाला तीखे-से-तीखा व्यंग्य कर जाता है और नागवार से नागवार उपमा दे जाता है मगर किसी का दिल मैला नहीं होता या किसी को अपना रोष प्रकट करने का अवसर नहीं मिलता। इसके बख़िलाफ़ अगर किसी बेढंगे शख्स ने यह काम करना चाहा तो लोग बिगड़ खड़े होते हैं और दुश्मनी पर उतर आते हैं। इसका जितना अच्छा सलीक़ा लखनऊ की आम जनता में है और जगह के खास लोगों में भी नज़र नहीं आता।

एक बंगाली विद्वान डा० अघोरनाथ ने जो बड़े पंडित, दार्शनिक, साहित्य में पी० एच० डी० और उर्दू के अच्छे माहिर थे उर्दू भाषा पर आपत्ति करते हुए मुझसे कहा “साहब, यह कौन-सी ज़वान की खूबी है कि एक बार मैंने एक गोष्ठी में कहा, हम आजकल दूध पिया करते हैं। इस पर सब लोग सहसा हंस पड़े।”

मैंने कहा उर्दू की यही खूबी है। आप चूँकि इस भाषा में अभी कच्चे हैं इसलिए आपको बजाये अपने दोष के यह भाषा का दोष नज़र आया। हर



भाषा में द्वियर्थक शब्द हुआ करते हैं और भाषाविदों का काम यह है कि निंदा के तमाम पहलुओं को बचाकर शब्दों का प्रयोग किया करें। अंग्रेजी में 'कंसीव' शब्द का अर्थ 'विचार करना' भी है और 'गर्भ धारण करना' भी। एक मशहूर लाट साहब ने पार्लमेंट में तीन बार कहा, "आई कंसीव" और आगे सोचने लगे। किसी ने पुकार कर कह दिया, "जनाब ने तीन बार 'आई कंसीव' कहा और हुआ कुछ भी नहीं" यानी तीन बार गर्भधारण किया और पैदा कुछ न हुआ। इस पर सबने क़हक़हा लगाया और वह लाट साहब भेंप गये। इसी तरह उर्दू में हजारों शब्द हैं जिनमें अनेक पहलू निकलते हैं यदि बोलनेवाले को उनके प्रयोग का सही सलीका न होगा तो बात-बात पर हंसा जायेगा।

यही ऊपर दिया गया, 'दूध पीने' का वाक्य है। हिंदुस्तान में दूध पीना दूध-पीते बच्चों का काम है और किसी अक्लमंद और बालिग के लिए कहना कि 'यह दूध पीते हैं' दोष तो है ही लेकिन उसके अलावा वह इस अर्थ में इस्तेमाल होता है कि यह अभी नासमझ और नादान हैं। इस पहलू के बचाने के खयाल से लखनऊवाले यह कभी न कहेंगे कि "मैं दूध पीता हूँ" बल्कि इसी बात को वे इस दोषपूर्ण पहलू से बचाकर दूसरे अनेक ढंगों से अदा करेंगे। कहेंगे कि, "मैं आजकल दूध को इस्तेमाल करता हूँ।" "आजकल मेरा खाना दूध है।" "दूध चावल खाता हूँ।" लखनऊवालों की इस सावधानी को देखकर आगरा के एक योग्य और भाषा के जानकार कवि को धोखा हुआ कि लखनऊ की जवान दूध खाना है दूध पीना नहीं। लखनऊ के एक साहब से उनसे इस बारे में मतभेद हुआ और हुक्म के तौर पर मुझसे मालूम किया गया। मैंने कहा, "दूध पीने की चीज़ है कोई उसके बारे में 'खाने' का शब्द कैसे इस्तेमाल कर सकता है? हां, यह जरूर है कि निंदा का पहलू बचाने के लिए लखनऊवाले दूध खाने का शब्द अपने बारे में इस्तेमाल करेंगे।"

एक इसी मुहावरे पर निर्भर नहीं उर्दू में सैकड़ों शब्दों में विभिन्न मुहावरों और अर्थों के कारण निंदा के पहलू पैदा हो गये हैं और हर भाषा जानने वाले का काम है कि उनसे बचे या कोई व्यक्ति किसी के बारे में मज़ाक में इस्तेमाल कर जाये तो उसका फ़र्ज है कि समझ और जवाब दे वरना समझ लिया जायेगा कि वह उस भाषा को नहीं जानता।

लखनऊवालों में शोखी और विनोदप्रियता बहुत है। वे अपनी बातों में सैकड़ों तरीकों से विनोद का पुट दे देते हैं और जो इस कला में जितना



प्रवीण है वह उतना ही ज्यादा साहित्यकारों की गोष्ठियों में चमकता और प्रतिष्ठित होता है। मैं यह नहीं कहता कि और स्थानों के लोगों में यह कमाल नहीं है, बल्कि बहुत ज्यादा है और अब उर्दू भाषा सारे हिंदुस्तान में इस तरह तरक्की कर रही है कि हर जगह उच्चकोटि के विनोदी पैदा होते जाते हैं और काव्य के जानने और उसके परखने का शऊर बढ़ रहा है। मगर लखनऊवालों में यह खूबी उनके स्वभाव का अंग बन गयी है। बात में सरसता पैदा करने और चुटकुले छोड़ने की जितनी सुथरी रुचि उनमें नज़र आती अन्यत्र नहीं देखी जाती।

### 9-शादी-गमी की महफ़िलें

संस्कृति में नवीं चीज़ शादी और गमी की महफ़िलें हैं। मुसलमानों की दौलतमंदी और हुक्ूमत ने उनकी औरतों के अरमान दूसरी जगहों की अपेक्षा यहां बहुत बढ़ा दिये हैं। जन्म से लेकर विवाह तक लड़के की हर खुशी और कामयाबी एक उत्सव बन जाती है। पैदाइश के बाद ही छठी, चिल्ला और दरम्यान के नहान, अक्कीका (मुंडन), खीर-चटाई, दूध-बढ़ाई, विस्मिल्लाह, खतना और सबसे बढ़कर निकाह ये सब अपने आपमें खुशी के अवसर हैं। अक्सर बच्चों की सालगिरह हुआ करती है, उपर्युक्त समारोहों के अलावा आरोग्य-स्नान या किसी विशेष लक्ष्य के पूरा होने पर भी समारोह मनाये जाते हैं।

इन सब समारोहों में रिश्तेदार और पास-पड़ोस की जान-पहचान वाली औरतें जमा हो जाती हैं। जनानी महफ़िलें की जाती हैं। तख्तों के चौकों पर और अगर ज्यादा मेहमान हुए तो ज़मीन पर दरी-चांदनी का उजला फर्श बिछता है। दौलत-मंद घरों में चांदनी पर तीन तरफ या केवल बीच में एक और बड़े कीमती क़ालीन बिछते हैं, कमल और मृदंगें जलायी जाती हैं और डोमनियों की मंडली सामने बैठकर मुजरा करती है। नाचनेवाली डोमनी घुंघरू बांध कर नाचती और भाव दिखाती है। मुजरे के दरम्यान में कभी-कभी डोमनियां हंसाने वाली नकलें करती हैं। बहरहाल खुशी के वह चह-चहे होते हैं और डोमनियां हालांकि मुजरे में अक्सर मर्यादा को लांघ जाती हैं और महफ़िल में वेशर्मी को बढ़ा देती हैं, मगर शिष्टाचार, स्त्रियों के परस्पर संबंध और उसके साथ बड़े-छोटे के लिहाज़ में कोई फ़र्क नहीं आने पाता। हर उत्सव से संबंधित सैकड़ों रिवाज हैं जिनका पूरा होना ज़रूरी समझा जाता है। इन



रस्म-रिवाजों की रक्षक बड़ी-बूढ़ी औरतें हैं और उनके साथ डोमनियां हुआ करती हैं जिनको उन रस्मों के बहाने बहुत कुछ मिल जाता है।

अधिकतर रस्मों में रत-जगा जरूर हुआ करता है और यही एक चीज है जो हिंदुस्तानी औरतों के विश्वास के अनुसार लौज अल्लाह है और जिसमें डोमनियां 'अल्ला मियां की सलामती' का गीत गाती हैं। रात भर जागरण होता है लेकिन इबादत के लिए नहीं बल्कि गाने-बजाने, रात भर घमा-चौकड़ी मचाने और सुबह होते मस्जिद में जाकर अल्लाह मियां का ताक़ भरने के लिए जिनकी नज़ के लिए गुलगुले और खुदाई रहम<sup>1</sup> खास चीजें हैं। इन रस्मों में यही कार्रवाई देहात में भी हुआ करती है मगर वहां बदतमीज़ी और अव्यवस्था होती है तो शहरवालों में नफ़ासत, सफ़ाई, सुव्यवस्था और शिष्टता रहती है।

### [ 43 ]

शादियों के जिस उत्सव का हम जिक्र कर चुके हैं और उनकी जनानी महफ़िलों की एक तसवीर पीछे दिखा दी है उनका व्यौरा यह है :

छठी उस रस्म का नाम है जबकि प्रसुति के बाद मां और बच्चे को पहली बार नहलाया जाता है। ज़च्चा को तेज़ गरम पानी से नहलाना एक तिब्बी इलाज है। मगर चूंकि यह स्नान खुशी के मौक़े पर होता है इसलिए इसका बड़ा महत्व है और चूंकि आमतौर से ज़चगी के छठे दिन पहला नहान होता है इसलिए उसका नाम ही छठी पड़ गया। इसमें ज़च्चा बड़ी देखभाल के साथ नहलायी जाती है, फिर बच्चा नहलाया जाता है और उसके बाद तमाम औरतें जो मेहमान होती हैं एक के बाद दूसरी सब नहाती हैं। ज़च्चा और बच्चे के लिए अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार नये भारी जोड़े तैयार किये जाते हैं और साथ ही सब औरतें कपड़े बदलती हैं। इस नहान में जो तरह-तरह की रस्में बरती जाती हैं वे अनगिनत हैं और शायद हर शहर और गांव बल्कि हर खानदान में कुल मिलाकर एक जैसी लेकिन आंशिक रूप से भिन्न और नयी होती हैं।

<sup>1</sup> कच्चे चावल, मेवा, केवड़े आदि से बना हुआ एक पकवान।



दुलहन के मायके या दूसरे रिश्तेदारों की ओर से इस मौके पर जच्चा और बच्चे के जोड़े, तौक, हंसली और कड़े, नन्हें बच्चे के योग्य खिलौने, भुनभुने, चटवे और इनके साथ मुर्गियां और खुदा जाने क्या-क्या चीजें बड़ी धूमधाम, जुलूस और बाजों के साथ आती हैं। जनाने में नाच-गाना होता है और अगर इतनी सामर्थ्य न हो तो खुद घरवाली औरतें ढोल सामने रख कर गा-बजा लेती हैं।

यही शान बाद के दो नहानों यानी बीसवीं और चिल्ले (चालीस दिन) के नहानों की होती है। अगर खुदा ने इत्मीनान दिया है तो दोनों मौकों पर ऐश-इशरत की महफ़िल सजती है वरना सिर्फ चिल्ले के नहान में ज्यादा धूमधाम होती है और बीसवें के नहान के मौके पर मामूली खुशी होती है।

अक्रीका मुसलमानों की खालिस मजहबी रस्म है जिसका प्रारंभ बनी इसराईल<sup>1</sup> के जमाने से आले-इब्राहीम<sup>2</sup> में चला आता है। यहूदी पैदाइश के आठवें दिन बच्चे को मस्जिदे-अक़सा<sup>3</sup> में ले जाकर उसका सिर मुंडाते और कुरबानी करते थे और उनका पेशवा खास तरीकों से उसके लिए बरकत की दुआ किया करता था। यही तरीका मुसलमानों में भी रस्मे-इब्राहीमी और सुन्ते-मुहम्मदी की हैसियत से आज तक जारी चला आता है। अगर्चे अब पैदाइश के बाद आठवें दिन अक्रीके का बंधन उठ गया है, मगर अक्सर बच्चे की उम्र के पहले ही साल में हो जाया करता है। इससे बच्चे को नहलाकर नये कपड़े पहनाये जाते हैं और उसके बाद दोस्तों और रिश्तेदारों के समूह में नाई उसका सिर मुंडता है और जैसे ही वह सिर में उस्तरा लगाता है बच्चा अगर लड़का है तो दो और लड़की है तो एक बकरा कुरबान किया जाता है। मुंड जाने के बाद सिर में संदल लगाया जाता है। रिश्तेदार अपनी-अपनी हैसियत के मुताबिक बच्चे को कुछ 'मुंह दिखाई' देते हैं। कुरबानी का गोश्त गरीबों और रिश्तेदारों में बांट दिया जाता है और घर में खुशी का जल्सा होता है और उसी क्रिम की महफ़िल सज जाती है जैसी कि और रस्मों के मौके पर होती है।

<sup>1</sup> यहूदियों की उपाधि।

<sup>2</sup> एक पैगंबर।

<sup>3</sup> यरूशलम की प्रसिद्ध मस्जिद।



## खीर-चटाई

इस उत्सव से बच्चे को दूध के अलावा और चीजें खाने को देने की शुरुआत होती है जो अक्सर उस समय हुआ करती है जब बच्चा चार-पांच महीने का हो चुकता है। अक्सर घरों में खाने का प्रारंभ खीर से किया जाता है जो बड़े इतिजाम के साथ पकायी जाती है और खासतौर पर रिश्तेदार औरतों की मौजूदगी में बच्चे को चटायी जाती है जबकि वह नये कपड़े पहने होता है और सब वीवियां बच्चे के चिरंजीव होने की दुआ देने के साथ उसके हाथ में रुपये देती हैं और वही खुशी की महफिल कायम हो जाती है जो हर रस्म में नज़र आती है।

## दूध-बढ़ाई

यह उत्सव उस मौके पर होता है जब बच्चे का दूध छुड़ाया जाता है। इसमें आमतौर पर खजूरें पकाई जाती हैं ताकि बच्चा अगर दूध के लिए ज़िद करे तो सुलाने के तौर पर उसके हाथ में दे दी जाया करे। मगर आम रिवाज यह है कि इतनी मात्रा में पकायी जाती हैं कि जिन-जिन घरों में हिस्सादारी है उनमें बांटी भी जा सकें। दूध के छुड़ाने का आम तरीका यह है कि मां या दूध पिलाने वाली की छातियों में पानी में घोल कर एलवा या और कोई कड़वी चीज़ लगा दी जाती है जिसकी कड़वाहट से धबराकर बच्चा दूध छोड़ देता है और जब पीने के लिए ज़िद करता और बहलाये नहीं बहलता तो फिर यही कार्रवाई की जाती है और दो-एक दफ़ा में उसे दूध से नफ़रत हो जाती है। दूध-बढ़ाई का ज़माना आमतौर पर उस वक़्त होता है जब बच्चा दो साल का हो जाये। हनफ़ियों<sup>1</sup> में दूध छुड़ाने की मुद्दत ढाई बरस की है, यानी ढाई बरस के बाद दूध छुड़ाना लाज़िमी है। लेकिन रिवाज इससे कम ही ज़माने का है, यह और बात है कि बाज़ औरतें तीन-तीन, चार-चार साल दूध पिलाती रहती हैं। मगर यह बात सामान्यतः नफ़रत की निगाह से देखी जाती है इसलिए कि शरीअत के खिलाफ़ है। इस उत्सव में भी जिन घरों को खुदा ने ताक़त दी है उनमें बहुत अच्छी चहल-पहल हो जाती है और नाच-गाने की महफिल गर्म होती है।

## बिस्मिल्लाह

यह उत्सव उस दिन होता है जिस रोज़ लड़के को पहले-पहल

<sup>1</sup> मुसलमानों का एक संप्रदाय।



पढ़ने के लिए बिठाते हैं और इसका समय प्रचलित रस्मों के अनुसार वह माना गया है जब बच्चा चार साल, चार महीने और चार दिन का हो जाये। इस चार की संख्या ने इस उत्सव को ऐसा विशिष्ट बना दिया है कि चार साल, चार महीने, चार दिन के बाद चार घंटे और चार मिनट का लिहाज किया जाता है। नियत समय पर कोई मौलवी साहब या खानदान के बुजुर्ग लड़के को, जो नहला-धुलाकर और नये कपड़े पहनाकर दुलहा बना दिया जाता है, पढ़ाने के लिए बैठते हैं। अलिफ़-बे की किताब उसके सामने रखते हैं और 'बिस्मिल्लाह' कहलाकर अरबी की ये दुआ के शब्द कहलाते हैं, 'रब्वै यसर बला तआस्सिर-बतम्मिम बिलखैर' जिनका अर्थ यह है 'खुदावंद आसान कर और मुश्किल न कर और खैरियत से खत्म कर'। फिर अलिफ़-बे कहलाकर मिठाई बांटी जाती है और लड़के के रिश्तेदार और बड़े अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार उसे कुछ देते हैं और उस दिन से उसकी शिक्षा शुरू हो जाती है।

### खतना

यह भी सुन्नते-इब्राहीमी<sup>1</sup> और आले-इब्राहीमी<sup>2</sup> की पुरानी और जरूरी रस्म है और चूँकि हिंदुस्तान में सिर्फ मुसलमानों में ही होती है और यह समझा जाता है कि इस कार्रवाई के बाद से लड़का मुसलमान हो जाता है इसलिए इस रस्म का आम नाम ही मुसलमानी पड़ गया है। इसमें बच्चे के शिश्न के मुंह पर की खाल काट ली जाती है जिसका काटना डाक्टरी उसूल से भी कुछ बीमारियों और तकलीफों से बचने के लिए बहुत लाभकर है। यह एक तरह का आपरेशन है जिसे हमारे पुराने सर्जन (जर्ह), जो आमतौर से नाई होते हैं, बड़ी खूबी और असाधारण फुर्ती से कर डालते हैं। उन्हें अच्छा पारिश्रमिक और इनाम दिया जाता है और इस रस्म के संपन्न होते समय मदन में अक्सर रिश्तेदार और दोस्त मिलाकर बिठा लिए जाते हैं और जनाने में मेहमान बीबियों का जमघट होता है। खतना होते ही मिठाई बांटी जाती है और जिनमें सामर्थ्य होती है दावत करते हैं और फिर उस रोज़ खुशी मनाई जाती है जब ज़रूम अच्छा होने के बाद लड़का आरोग्य-स्नान करे। अधिकतर खानदानों और मन्त-मुराद वाले घरानों में उस रोज़ लड़का दुलहा बनाकर

<sup>1</sup> हजरत इब्राहीम द्वारा किया गया काम या दिखाया गया मार्ग।

<sup>2</sup> हजरत इब्राहीम की संतान।



घोड़े पर बिठाया जाता है और बरात बड़े जुलूस और धूमधाम के साथ किसी दरगाह में जाती है जहां चादर और मिठाई चढ़ाकर लड़का उसी शान से घर वापस आता है जहां खुशी के चहचहे और ऐश-इशरत के जलसे नज़र आते हैं। इस रस्म के अंदा होने का समय अलग है : बाज़ लोग छठी या चिल्ले ही में बच्चे का खतना करा देते हैं, मगर आम रिवाज उस वक़्त है जब लड़का छह-सात बरस का हो जाये।

एक और रस्म रोज़ा खोलने की भी है। यह उस वक़्त होती है जब लड़का या लड़की नौ-दस बरस की उम्र को पहुंच जाये और उसे पहले-पहल रोज़ा खुलवाया जाये। इसमें आमतौर से बहुत से रोज़ादारों की दावत की जाती है जिनके लिए कई तरह की और काफ़ी मात्रा में अफ़तारियाँ<sup>1</sup> तैयार की जाती हैं और लड़का उनके साथ बैठकर अफ़तार करता है और अगर लड़की है तो जनाने में मेहमान रोज़ादार वीबियों के साथ रोज़ा खोलती है। इसमें गाना-बज़ाना कम होता है मगर शौक़ीन और रंगीनमिज़ाज लोगों के लिए यह बताना भी नाच-गाने की महफ़िल सजाने के लिए काफ़ी हो जाता है।

इसी प्रकार की कारंवाइयां आरोग्य-स्नान के उत्सव और मन्नत-मुराद पूरी होने के मौक़ों पर हुआ करती हैं और सिवाय उन खास बातों के जो इस उत्सव से संबंध रखती हों बाक़ी बातें इसमें भी वही होती हैं जो और उत्सवों में बयान की गयी हैं।

सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण उत्सव शादी या निकाह का है। यह वह ज़रूरी रस्म है जिसकी मर्यादाविहीनता के कारण सैकड़ों खानदान तबाह और बरबाद होते चले जाते हैं और वजह यह कि खुशी के जोश और प्रेमिका से आलिंगन करने की उत्कंठा में किसी को न अपनी हालत और सामर्थ्य का ध्यान रहता है और न अपने किये के अंजाम का। नतीजा यह होता है कि क़र्ज़ लेकर, जायदादें बेचकर, दोस्तों और कुटुंबियों से मांगकर या जिस तरह कोई रक़म मिल सके हासिल करके अरमान पूरे किये जाते हैं और शादी के ख़तम होते ही यह हालत होती है कि अक्सर घरों में फ़ाक़ों की नौबत आ जाती है।

शादी और निकाह चूँकि मानव-जीवन की एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना है इसलिए इसका हम सविस्तार वर्णन करना चाहते हैं। शादी की बात अक्सर

<sup>1</sup> रमज़ान के महीने में रोज़ा खोलने के लिए तैयार किए जाने वाले पकवान आदि।



मश्शाताओं (प्रसाधिकाओं) के जरिये ठहरती है। हिंदुस्तान के तमाम बड़े शहरों में खासकर उनमें जहां पुरानी संस्कृति विकसित हुई थी औरतों का एक खास पेशा है बनाव-सिगार या प्रसाधन। कवियों के यहां और शब्दकोशों में मश्शाता का अर्थ वह औरत दिया गया है जो उच्च कुल की महिलाओं की कंधी-चोटी करती, कपड़े और जेवर पहनाती और उन्हें बनाती-संवारती तथा उनको सजाती है। मगर समाज में मश्शाता उन्हें कहते हैं जो शादी के पयाम ले जाती है, रिश्ते ठहराती हैं और शादियां कराती हैं। संभवतः इस पेशे की शुरुआत उन्हीं औरतों से हुई हो जो हसीनों को बनाया-संवारा करती हैं और आखिर में शादी ठहराने वाली औरतों का नाम मश्शाता पड़ गया। ये बड़ी चालाक और मक्कार औरतें हुआ करती हैं। हर लड़के का पयाम जिस घर में ले जाती हैं तो उसकी दौलतमंदी, शिक्षा, आज्ञाकारिता, शिष्टता और सौंदर्य की बेहद प्रशंसा करती हैं। इसी तरह जब किसी लड़की की बात लड़के वालों के यहां ले जाती हैं तो उसके सौंदर्य, नाज़-अंदाज़ और खूबियों को ऐसे ढंग से बताती हैं कि मालूम होता है जिस लड़की का जिक्र कर रही हैं वह इंसान नहीं कोई परी या शाहजादी है।

मश्शाता के पयाम के बाद अगर्चे तहकीक़ मर्द ही करते हैं मगर रिश्ता ठहरने में ज्यादा दखल दोनों घरों की औरतों ही को हुआ करता है जो अपना इत्मीनान करके मर्दों की रज़ामंदी हासिल करती हैं और रिश्ता ठहर जाता है। दोनों खानदानों में बच्चों के पैदा होते ही अरमान भरी मांगें रिश्ते ठहरा लिया करती हैं, उनके लिए मश्शाता की जरूरत पेश नहीं आती; बल्कि दुलहा को अनायास ही ठीकरे की मंगी दुलहन मिल जाती है और शादी से पहले की रस्में जिनका संबंध रिश्ता ठहरने से होता है, उनकी नौबत नहीं आती, मानो पैदा होते ही मंगनी हो जाती है।

नये घरों में जब पयाम जाता है तो अक्सर लड़का अपने कुछ रिश्तेदारों और खास दोस्तों के साथ 'बर-दिखौवा' के नाम से दुलहन वालों के यहां बुलाया और ऐसी जगह बिठाया जाता है जहां से औरतें भी उसे ताक-भांक कर देख सकें। घरवाले मर्द इकट्ठे होकर उससे मिलते और अपनी हैसियत के मुताबिक़ खानिर करते हैं। इसी तरह लड़के की मां-बहनें एक नियत तारीख पर दुलहन के घर जातीं और मिठाई खिलाने या किसी बहाने से दुलहन का चेहरा देखती हैं जो आमनौर पर उनमें छिपाई और पर्दे में रखी जाती



है। मगर बाज़ शरीफ़ घरों में दुलहा नहीं बुलाया जाता, बल्कि खानदान के मर्द किसी-न-किसी तरीक़े से लड़के को बताये बिना उसे देखते और उसका हाल मालूम कर लेते हैं और यूँ ही लड़की का भी पता लगा लिया जाता है।

इन तरीक़ों से जब लड़के वाले लड़की को और लड़की वाले लड़के को पसंद कर लेते हैं जिसमें सूरत-शक्ल, हालत और हैसियत के अलावा खानदान की शराफ़त का भी बहुत कुछ दखल होता है, तो मंगनी की रस्म की जाती है। इसमें दुलहा की तरफ से मिठाई जाती है, फूलों का गहना जाता है, एक सोने की अंगूठी जाती है जिसे बाज़ घरानों में दुलहा की रिश्तेदार औरतें खुद जाकर पहनाती हैं।

मंगनी की रस्म अदा हो जाने के बाद समझा जाता है कि बात ठहर गयी और उसी वक़्त से दोनों पक्षों का यह नियम हो जाता है कि जब कोई उत्सव हो तो समधियाने में खासतौर से हिस्से जायें और जो हिस्सा लड़के या लड़की के लिए होता है वह बड़ा होता है और विशेष रूप से सजाया जाता है। इसी दौरान अगर मुहर्रम आ गया तो दोनों पक्षों की ओर से बड़े व्यवस्थित ढंग से गोटा, इलायचियां, चिकनी डलियां और उच्चकोटि के कारचोबी और रेशमी बटुए समधियाने में भेजे जाते हैं।

बरात यानी निकाह के दिन से चंद रोज़ पहले दुलहन मांभे बिठा दी जाती है जबकि उसे मांभे का पीला जोड़ा पहनाया जाता है। उस वक़्त से रोज़ उसके उबटना लगता है और खास ज़रूरतों को छोड़कर वह पर्दे से बाहर नहीं निकलती। जिस दिन वह मांभे बैठती है उसी रोज़ रस्म है कि उसका जूठा उबटना, उसकी जूठी मेंहदी, मिश्री का कूजा और बहुत-सी पींडियां एक शानदार जुलूस और बाजे के साथ दुलहा के घर भेजी जाती हैं। जो पींडियां खास दुलहा के लिए होती हैं वे अलग थालों में खासतौर से रखी जाती हैं। उन्हीं के साथ दुलहा के लिए मांभे का पीला भारी जोड़ा, एक रंगी हुई नक्शी चौकी और लोटा-कटोरा भी होता है। लोटा-कटोरा चौकी पर नाड़े से कसकर बांध दिये जाते हैं और जुलूस में ये चीज़ें इस क्रम से होती हैं कि बाजे वालों और जुलूस के बाद सबके आगे चौकी होती है, उसके बाद खानों में दुलहा की खास चीज़ें होती हैं जो आमतौर पर कच्चे थालों में रखी जाती हैं और उनके बाद बहुत से खानों में ग्राम किस्म की पींडियां होती हैं। दुलहन की छोटी बहनें और डोमनियां पीनस और



डोलियों पर सवार होकर जाती हैं जो दुलहा के घर पहुंचकर एक पींडी और मिस्री के सात-सात टुकड़े करके वे सब टुकड़े दुलहा को डहका-डहका कर खिलाती हैं। इस रस्म के बारे में अनुमान किया जाता है कि खालिस हिंदुस्तानी रस्म है जिसका न अरब से संबंध है, न ईरान से इसलिए कि मांभे और उसके साथ कंगने का प्रचलन भारत के अलावा और किसी जगह साबित नहीं होता।

मांभे के दस-बारह रोज से ज्यादा का अर्सा गुजरने के बाद इसी शान-शौकत और जुलुस के साथ दुलहा के घर से दुलहन के यहां 'सांचक' जाती है। सांचक तुर्की भाषा का शब्द है और यह तुर्की की ही रस्म है। मालूम होता है कि तुर्क और मुगल इस रस्म को अपने साथ भारत लाये। इसमें दुलहा के यहां से दुलहन के लिए चढ़ावे का जोड़ा जाता है जो आमतौर से बहुत भारी और कारचोबी होता है। उसके साथ दुलहन के लिए सुनहरी मुकैश का सेहरा, चांदी का छल्ला, सोने की अंगूठी और दो-एक चीजें हुआ करती हैं और वह जेवर होता है जिसे पहनाकर वह विदा की जायेगी और फूलों का गहना होता है। जोड़े के साथ शकर के नुक्ल<sup>1</sup> और शकर के कुर्स<sup>2</sup> और मेवा जाता है। सांचक के लिए खासतौर से नक्काशीदार और रंगीन घड़े तैयार कराये जाते हैं। फिर बांस और कागज के रंगारंग तख्तों में चार-चार घड़े लगाकर चौघड़े बना दिये जाते हैं और दौलतमंदी और अमीरी की शान के अनुरूप उन चौघड़ों की संख्या बढ़ती जाती है और अक्सर सौ-सौ, दो-दो सौ तक पहुंच जाती है। मगर उनके अंदर चंद गिनती के नुक्लों या पाव-आध सेर शकर के सिवा कुछ नहीं होता। उनके मुंहघड़ों पर आमतौर से सूहे का कपड़ा नाड़े से बांधा होता है और जुलुस में उन सब घड़ों के आगे चांदी की एक दही की मटकी रहती है जिसमें दही भरा होता है और उनके मुंह पर भी सूहा नाड़े से बांध दिया जाता है और उसके गले में मुवारक शकुन के तौर पर दो-एक मछलियां बंधी होती हैं। ये चीजें जब दुलहन के घर पहुंचती हैं रिश्तेदारों में बांट दी जाती हैं।

<sup>1</sup> एक तरह की खीर।

<sup>2</sup> टिकिया।



सांचक के दूसरे ही दिन रात को दुलहन के घर से बड़े जुलूस और रौशनी के साथ मेंहदी जाती है। खयाल किया जाता है कि यह असल में अरबी रस्म है। इसमें दुलहनवालों की तरफ से दुलहा के लिए जोड़ा जाता है जिसे पहनकर वह ब्याहने को आयेगा। इस जोड़े में सामान्यतः पुराने मुगल दरबार में प्रचलित बनावट का खिलअत, शमला, जीशा, सरपेच और सजी हुई कलगी होती है। नसीब हुआ तो उसके साथ मोतियों का हार भी भेजा जाता है। उपर्युक्त चीजों के अलावा रेशमी पायजामा और जूता वगैरा मामूली चीजें भी होती हैं। अक्सर एक चांदी की अंगूठी भी जाती है। इस जोड़े के साथ दुलहा के लगाने के लिए पिसी हुई तैयार मेंहदी भी भेजी जाती है जिसे बहुत से थालों में फैला कर रखते हैं और उसमें हरी और लाल बत्तियों को लगाकर जला देते हैं। इस तरह के मेंहदी के बहुत से थाल रौशन होते हैं जो मेंहदी के जुलूस में एक खास शान और आन-बान पैदा कर देते हैं। मेंहदी के इन रौशन थालों के साथ सौ-पचास थालों में मलीदा होता है जो छुहारों को कूटकर बनाया जाता है और जैसी हैसियत होती है उसी के अनुसार भारी मात्रा में भेजा जाता है। इस मौके पर जोड़े के साथ दुलहा के लिए सोने का सेहरा भी भेज दिया जाता है।

मेंहदी के दूसरे दिन दुलहा की तरफ से बरात जाती है। बरात जाने का वक्त पुराने ज़माने में पहर रात रहे यानी तीन बजे रात का था, लेकिन अब यह वक्त अक्सर घटता जाता है और बजाये पहर रात रहे के पहर दिन चढ़े यानी नौ-दस बजे सुबह को बरातें जाने लगी हैं। इस देरी का प्रारंभ अवध के आखिरी बादशाह वाजिद अली शाह के ज़माने से हुआ। उनकी बरात जाने में इत्तिफाक से देर हो गयी और दिन निकल आया था। लोगों ने आसानी और रौशनी का सामान कम करने के खयाल से यही वक्त रखना शुरू कर दिया। चूनांचे अब आमतौर पर सुबह के समय बरात जाती है और दोपहर को निकाह हो जाता है।

बरात में जहां तक संभव हो पूरा जुलूस एकत्र किया जाता है। प्रचलित तीन बाजे यानी पुराना ढोल, ताशे और भांभें, रौशन चौकी और अरगन बाजा



जरूर होते हैं। इससे तरक्की हुई तो घोड़ों पर नौबत नक्कारा, भंडियां, वछे बरदार, हाथी, ऊंट, घोड़े और उससे भी ज्यादा हौसला हुआ तो इन्हीं बाजों के अनेक गिरोह बढ़ा दिये जाते हैं। दुलहा वही जोड़ा पहनकर जो मेहदी के साथ आया था और सेहरा बांधकर आमतौर पर घोड़े पर और ऊंचे वर्ग के अमीरों के यहां हाथी पर सवार होकर सारे जुलूस और बाजों के पीछे धीरे-धीरे शान से खाना होता है। दुलहा को 'नौशा' यानी नया बादशाह कहते हैं और खयाल भी यही है कि दुलहा एक दिन के लिए बादशाह बना दिया जाता है। मगर गौर करने की बात यह है कि जब दुलहा को बादशाह बनाते हैं तो उसके सिर पर शमला क्यों होता है? ताज क्यों नहीं पहनाते? इससे इस बात का सबूत मिलता है कि हिंदुस्तान में मुसलमान सिर पर आड़ा ताज नहीं पहनते थे, बल्कि सबके सिरों पर कलगीदार शमले होते थे। अंग्रेजों ने गाजी-उद्दीन हैदर के जमाने से अवध के बादशाहों को ताज पहना दिया, मगर देशी समाज ने उस को स्वीकार नहीं किया और अपने बादशाहों की वेशभूषा वही रखी जो पुरानी थी और उसी नमूने का बादशाह अपने नौशाहों को बनाते हैं। दुलहा के पीछे पीनसों और डोलियों में सवार दुलहा की मां नहीं और रिश्तेदार औरतें और डोमनियां होती हैं। चलते वक्त घर में जो सैकड़ों रस्में और टोटके होते हैं, बहुत हैं और बेहूदा होने की वजह से ज्यादातर ध्यान देने योग्य भी नहीं हैं।

इस शान से जब बरात दुलहन के घर पहुंचती है तो आमतौर पर उस वक्त दुलहन नहलायी जा चुकती है और उसके नहाने का पानी बाहर लाकर दुलहा की सवारी के घोड़े या हाथी के पांव के नीचे डाल दिया जाता है। दुलहन को यह स्नान सात दिन के बासी ठंडे पानी से दिया जाता है जो 'कलस का पानी' कहलाता है और जाड़ों के मौसम में बेचारी दुलहन के लिए उस पानी में नहाना क्रयामत से कम नहीं होता। चौकी पर पान बिछाकर वह नहलायी जाती है और यही पान उस इक्कीस पानों वाले बीड़े में शामिल होते हैं जो सबसे पहले सुसराल में खिलाया जाता है।

अब दुलहा सवारी से उतरकर जनाने में जाता है। वहां रस्सी बंधाई जाती है और तरह-तरह की बीसियों रस्में अमल में आती हैं जो हर गिरोह और हर खानदान में अलग-अलग और अजीबो-गरीब होती हैं। यह वक्त आम-तौर से वह होता है जब दुलहन नहा तो चुकती है मगर अभी कपड़े नहीं



पहनाये गये होते हैं, वह चादर में लिपटी होती है और उसके हाथ पर मिस्री रखकर दुलहा को खिलायी जाती है जिसमें सालियां, ज़िंदा-दिल औरतें और डोमनियां कैंदें बढ़ा-बढ़ाकर दुलहा के लिए हर काम मुश्किल कर देती हैं।

शादी की यह पहली कठिन मंजिल तै करके दुलहा बाहर मैदान में आता है जहां खुशी की महफ़िल जमती है। रिश्तेदार और दोस्त वगैरा बढ़िया कपड़े पहने सलीके से साफ-सुथरी दरी, चांदनी और क़ालीनों के फ़र्श पर बैठे होते हैं और सामने मर्दानी या जनानी नृत्य-मंडली खड़ी मुजरा करती होती है। ठीक महफ़िल के दरम्यान में ऊपर की तरफ दुलहा के लिए सुनहरा मसनद तकिया होता है जिस पर दुलहा को उसके हमउम्र लड़के लाकर बिठा देते हैं और उसके दोनों तरफ खुद बैठ जाते हैं ताकि दुलहा उनके साथ आज़ादी से बातें कर सके।

दुलहा के लिए लाज़िमी है कि अपनी हर हरकत से शर्मीलापन जाहिर करे। वह न तो बेतकल्लुफ़ बातें कर सकता है, न कोई उसकी आवाज़ सुन सकता है, न किसी से वह बेतकल्लुफी से मिल-जुल सकता है, मुंह पर सेहरा होता है और फिर सोने के सेहरे पर फूलों का सेहरा बांधकर इस क़ाबिल नहीं रखा जाता कि कोई बिना कोशिश और देर तक की मेहनत के उसकी सूरत देख सके। खुशी की महफ़िल में बैठने, बल्कि अक्सर निकाह हो जाने के बाद सेहरा उठाकर शमले में लपेट दिया जाता है ताकि चेहरा खुल जाये। मगर अब भी उसके लिए ज़रूरी है कि एक हाथ से मुंह पर रुमाल रखे रहे जिससे उसका शर्मीलापन जाहिर हो। और अब चेहरा खुलने के बाद भी उस रुमाल की वजह से उसकी सूरत देखने के इच्छुकों को देर तक कोशिश किये बिना उसे देखने में कामयाबी नहीं होती।

दुलहा के अगर थोड़ी देर बाहर बैठने के बाद निकाह का इंतजाम होता है जिसके लिए यह सब वखेड़ा किया गया है। अगर शीआ खानदानों की शादी है तो दो मुज्ताहिद (मजहबी पेशवा) साहब आते हैं—एक लड़के के नायब और वकील बनकर और दूसरे लड़की के नायब और वकील बनकर। लड़की वाले खुद पर्दे के पास जाकर या गवाहों से तसदीक करके लड़की की शरई मुस्तारी हासिल करते हैं और उसके बाद दोनों दुलहा के सामने बैठकर दुलहा-दुलहन की तरफ से किरअत<sup>1</sup> और सही उच्चारण के साथ ईजाब-ओ-कुबूल के

<sup>1</sup> कुरान की शुद्ध उच्चारण के साथ पढ़ाई।



सींगे<sup>1</sup> अदा करते हैं। और अगर खानदान सुन्नी है तो कोई सम्मानित मौलवी साहब और अगर कोई गांव हुआ तो वहां के मुकर्रर खानदानी काजी साहब आकर निकाह पढ़ाते हैं जिसका तरीका यह होता है कि लड़की के रिश्तेदारों में से कोई साहब उसके वकील और मुस्तार बन कर आते हैं और वह गवाहों को पेश करते हैं कि फ़लां लड़की ने मुझे अपना वकील इन दोनों गवाहों के सामने मुकर्रर किया और अपने निकाह का इस्तिथार दिया। काजी साहब उन गवाहों पर इत्मीनान करके और मेहर<sup>2</sup> की रकम को उन वकील साहब से पूछ कर दुलहा को शहादत कलमा<sup>3</sup> पढ़ाते हैं। मुसलमान के लिए जिन-जिन चीजों पर ईमान लाना जरूरी है उनका अरबी में इक्कार कराते और उसके बाद तीन बार उससे यह कहकर कि 'अमुक लड़की के साथ इतने मेहर पर हमने तुम्हारा निकाह कर दिया' दुलहा से इक्कार कराते हैं कि मैंने कबूल किया। उसके बाद एक दुआ पढ़कर लोगों से कहते हैं, 'मुबारक'। साथ ही मुबारक-सलामत का शोर होता है। नुकल और छुहारे जो थालों में भरे सामने रखे होते हैं उनको उपस्थित लोगों में लुटा देते हैं।

मुज्तहिद या मौलवी साहब के आने के वक़्त गाना बंद हो जाता है और निकाह के बाद मौलवी साहब चले जाते हैं तो फिर नाच-गाने की महफ़िल गर्म हो जाती है उसके बाद दुलहा फिर अंदर जनाने में बुलाया जाता है। औरतों को दुनिया में निकाह की रस्मों और शर्तों को पूरा कराने का यही वक़्त है। जनाने में इस मौक़े पर निकाह की रस्मों के अंतर्गत दुलहा के साथ हर तरह का मज़ाक किया जाता है और उसके परेशान करने में कोई कार्रवाई उठा नहीं रखी जाती। इन तमाम रस्मों को संपन्न कराने वाली सालियां और डोमनियां होती हैं। दरअसल कुंवारे नौजवानों के लिए शादी एक रहस्यमय लाज है जिसमें बीसियों ऐसी समस्याएं पेश आती हैं जिनकी वह कल्पना भी नहीं करता। दुलहन औढ़-लपेटकर एक अचल गठरी की तरह उसके सामने ला कर रख दी जाती है। अभी

<sup>1</sup> निकाह के समय दुलहा-दुलहन का एक-दूसरे को स्वीकार करना।

<sup>2</sup> वह रकम जो निकाह के समय दुलहा की ओर से दुलहन को दी जाने के लिए निश्चित होती है।

<sup>3</sup> वह कलमा जिसमें खुदा के माबूद (सृष्टा) और रसूल के पैगंबर होने की गवाही दी जाती है।



तक उसे रुखसती विदा का जोड़ा नहीं पहनाया गया होता । लाते वक्त कोशिश की जाती है कि पहली आमद में दुलहन की एक लात दुलहा के पड़ जाये । फिर टोने गाये जाते हैं, दुलहा से बीवी की गुलामी, सबसे निकृष्ट गुलामी और खुदा जाने कैसी-कैसी सेवाएं कराने का इक्लार कराया जाता है और वादा लिया जाता है । उसके बाद आरसी मुसहफ़ की रस्म अदा होती है जिसके लिए दुलहा-दुलहन के लिए रहल पर कुरान शरीफ़ और उस पर आइना रखा जाता है और उस आइने में दुलहा को दुलहन का पहला जलवा दिखाया जाता है । मगर जरूरी है कि चेहरा देखने से पहले दुलहा, सूर:-ए-इखलास<sup>1</sup> पढ़ ले । इस जलवे में दुलहन आंखें बंद किये रहती है, औरतें दुलहा से आंखें खोलने के लिए तरह-तरह की इल्तजाएं कराती हैं और उसी सिलसिले में हर किस्म की गुलामी का उससे इक्लार करा लेती हैं । बड़ी मुश्किलों और खुशामदों के बाद दुलहन आंखें खोलकर एक नजर देखती और फिर आंखें बंद कर लेती है । और इसी पर रस्में खत्म हो जाती हैं ।

अब दुलहा बाहर भेज दिया जाता है ताकि दुलहन को कपड़े पहनाए जायें जेवर पहनाया जाये, बनाई-संवारी और सुसराल जाने के लिए तैयार की जाये । उस वक्त डोमनियां 'बाबुल' यानी विदाई का हृदय-विदारक गीत गाती हैं और खुशी का घर मातमकदा बन जाता है । जब दुलहन बना-संवारकर तैयार कर दी जाती है उस वक्त मायके के सभी रिश्तेदार, दोस्त और सब मिलने वाले आते, रो-रोकर दुलहन को विदा करते और जो कुछ दे सकते हैं रुपया-पैसा या जेवर उसे देते हैं ।

## [ 45 ]

इसी अर्सों में दहेज का सामान निकाला जाता है, उसकी सूची लाकर दुलहा वालों के सामने पेश कर दी जाती है जिसमें तमाम जेवर, जोड़े, वर्तन, पलंग और चौकी और जो कुछ चीजें दी जायें दर्ज होती हैं । तमाम चीजें उस सूची से मिला ली जाती हैं और अब दुलहन विदा होने के लिए बिल्कुल तैयार रहती है । उसका लिबास कोई भारी कामदार जोड़ा नहीं होता बल्कि एक सूहे यानी

<sup>1</sup> कुरान शरीफ का एक अध्याय विशेष ।



दूल पर की तंजब का कुर्ता और सादा रेशमी पायजामा पहने होती है और उसमें भी सादगी का इतना खयाल रहता है कि गोट तक नहीं लगायी जाती और नाड़े का इज़ारबंद पड़ा होता है।

उसका सिंगार करते और कपड़े पहनाते वक्त डोमनियां 'बाबुल' यानी मायका छोड़ने का राग गाती रहती हैं जो बहुत ही करुण और मर्मभेदी होता है। रंजो-गम का एक अजीब समां बंध जाता है, हर शस्स दुखी और संतप्त होता है। तमाम रिश्तेदार, मिलने वाले और खानदान के दोस्त मिल-मिलकर और दुखभरे शब्दों के साथ लड़की को विदा करते हैं। वह खुद बेतहाशा रोती है और पालकी ड्यूड़ी में लगा दी जाती है। उस वक्त दुलहा फिर अंदर बुलाया जाता है कि आकर अपनी दुलहन को ले जाये। वह आता और दुलहन को अपनी गोद में उठाकर पालकी में बिठा देता है।

विदाई से पहले जनाने में दुलहा को सलाम-कराई दी जाती है और तमाम रिश्तेदार, दोस्त, मिलने वाले अपनी-अपनी हैसियत के मुताबिक देते हैं। उसी समय बाहर शर्बत पिलाई होती है जिसमें शर्बत का कनस्तर और गिलास सिर्फ रस्म के तौर पर लाया जाता है, पीता कोई नहीं, मगर तमाम लोग शर्बत की थाली में रुपया डालते हैं और इस तरह अंदर-बाहर जो कुछ रुपया सलाम-करायी और शर्बत-पिलाई में जमा होता है दुलहा को दे दिया जाता है।

अब बरात उसी धूम-धाम और उसी शान-शौकत से दुलहा के घर की तरफ वापिस खाना होती है। वापिसी के इस जलवे में जो चीज़ बढ़ जाती है उसमें सबसे पहले तो दुलहन की पालकी है जो दुलहा के घोड़े के आगे रहती है और बहुत ही प्रमुख होती है। उस पर बड़ा सुंदर छिटका (रंगीन पर्दा) पड़ा होता है, दोनों तरफ कहारियां छिटके को पकड़े हुए साथ रहती हैं इर्द-गिर्द दुलहा के नौकरों या खास-खास लोगों की भीड़ रहती है और दुलहा के बाद फिर और सब साथ वाली औरतों की पालकियां होती हैं।

सबसे प्रमुख चीज़ इस जुलूस में दहेज़ का सामान होता है। यह सब सामान सारे जुलूस और वाजेवालों के पीछे और दुलहन की पालकी के आगे इस क्रम से जाता है कि तांबे का एक-एक बर्तन एक-एक चंगेर में रखा होता है और एक मजदूर के हाथ में होता है। चीनी और शीशे के बर्तन किश्तियों में लगे होते हैं। उनके बाद संदूक वगैरा होते हैं जिनमें दुलहन के जोड़े होते हैं। उसके बाद पलंग होता है जिसमें रेशमी गद्दे, लिहाफ़, तकिये, चादर सब सामान



तैयार मौजूद होता है और बिछौना रेशमी डोरियों से पायों में बंधा होता है और डोरियों के दोनों सिरों पर खास आकार के चांदी के गुप्फे लटके होते हैं। लड़की को गृहस्थी का सारा सामान दिया जाता है। आईना, कंधी, सिंगार की जरूरी चीजें तेल, इत्र, और अगर हैसियत हो तो चांदी का पानदान, खासदान, लोटा, कटोरा, और बाज और चीजें दी जाती हैं। वहरहाल यह सब सामान बाजों और बरात के जुलूस और दुलहा के दरम्यान में रहता है और सबके पीछे डोलियों पर खाने की देगें होती हैं। यह 'बहोड़े का खाना' कहलाता है जिसको ग्रामतौर पर लड़की वाले दुलहा को देते हैं।

इस शान से जब बरात दुलहा के घर पहुंचती है तो खुशी के बाजे बजते हैं। डोमनियां पहले से पहुंच कर बगड़े गाना शुरू करती हैं जो खास शादी के गीत हैं। इस मुबारक-सलामत के जोर-शोर में दुलहन उतारी जाती है। बाज खानदानों में यहां भी उसे दुलहा गोद में लेकर उतारता है और बाज घरानों में दुलहा की मां-बहिनें आकर उतारती हैं, उसे अंदर ले जाकर बिठाते ही दुलहा से उसके दामन पर नमाजे शुक्राना<sup>1</sup> पढ़ायी जाती है। दुलहन के पांव धुलाकर पानी मकान के चारों कोनों में डाल दिया जाता है, मुंह-दिखाई होती है जिसमें तमाम औरतें और मर्द कुटुंबी दिल खोल-खोल कर रुपया या जेवर देते हैं और मुंह खोल-खोल कर उसकी सूरत देखते हैं।

उस नये घर में यह पहली रात दुलहन के लिए सख्त पाबंदियों और शर्मीलेपन से बसर करने की रात होती है। न वह किसी से बोल सकती है, न बातें कर सकती न किसी को आंख भरके देख सकती है। सिवाय मायके की साथवालियों के और किसी से कुछ नहीं कह सकती और इसी मुसीबत से बचाने के लिए सुबह होते ही उसका भाई या और कोई रिश्तेदार चौथी लेने को आ पहुंचता है और जहां तक बनता है कि सबेरे ही सवार करा ले जाता है। इस बार भी दुलहन अगर्चे शान से जाती है मगर जुलूस और बाजे की जरूरत नहीं। दुलहा भी दुलहन के साथ जाता है और उसके साथ सात तरह की तरकारियां और सात किस्म की मिठाइयां जाती हैं।

दिन गुज़ार कर उसी रात को दुलहन के घर में चौथी खेती जाती है। दुलहन को वह वर का जोड़ा उतार कर चढ़ावे का जोड़ा पहनाया जाता है जो सब जोड़ों में ज्यादा भारी कामदार और बहुत ही पुरतकल्लुफ होता है। यह

<sup>1</sup> खुदा का आभार प्रकट करने के लिए पढ़ी जाने वाली नमाज।



जोड़ा पहनाकर उसका खूब वनाव-चुनाव किया जाता है। दुलहा की तरफ से उसकी वहनें और रिश्तेदार औरतें भी आ जाती हैं और उस भीड़ में दुलहा-दुलहन मिठाई से और दुलहा की साथवालियां और दुलहनवालियां तरकारी और फूलों की छड़ियों से आपस में लड़ती हैं—यानी मिठाइयां और तरकारियां एक दूसरे के खेंचकर मारती और छड़ियों के हाथ रसीद करती हैं। कभी दिल्ली-दिल्ली में लड़ाई तेज भी हो जाती है और बाज औरतें मामूली-सी चोट भी खा जाती हैं।

चौथी के दो-चार रोज़ बाद फिर दुलहन दुलहा के घर में जाती है और उसके बाद अमतीर पर चार चाले हुआ करते हैं। चाले का शब्द चाल और चलने से निकला है। मतलब यह है कि दुलहन अपनी सुसराल बुलायी जाती है, मगर यह बुलाना खुद उसके मायके में नहीं बल्कि मायके वालों में होता है। यानी उसकी खालाएं (मौसी) फूफियां (बूआ) मामियां, हिम्मत करके बारी-बारी उसे अपने यहां बुलाती हैं जहां वह दुलहा के साथ जाती है। और उस नये जोड़े के रख-रखाव के लिए खास इंतजाम किया जाता है। सिर्फ एक रात और दिन दुलहा-दुलहन मेहमान रहते हैं और उन्हें विदा करते समय उन्हें जोड़ा, सलाम-कराई और जेवर वगैरा अपनी-अपनी हिम्मत और हैसियत के मुताबिक दिये जाते हैं।

यह थी लखनऊवालों की शादी जिसकी बहुत-सी रस्मों को छोड़कर उसका एक संक्षिप्त खाका 'दिल गुदाज' के पाठकों के सामने पेश किया गया। देहातवालों की शादी का तरीका निकाह के अलावा और तमाम बातों में बदला हुआ है। वहां भी मांभा होता है मगर दुलहा के लिए मांभेका पीला जोड़ा उसकी वहनें और रिश्तेदार औरतें लाती हैं। दुलहन के घर से धूमधाम और जुलूस और बाजे के साथ मांभा नहीं आता। दुलहा के यहां से सांचक आती है और न दुलहन के घर से मेंहदी जाती है बल्कि सांचक और मेंहदी का मक्सद वरात ही के दिन एक और तरीके से पूरा हो जाता है। वह यह कि वरात जब दुलहन के वहां पहुंचती है तो उसके मकान से ज़रा फ़ासले पर ठहर जाती है। वहां से पहले वजाये सांचक के बरी के नाम से दुलहन का जोड़ा और उसके साथ बहुत से जोड़े और सुहाग की चीजें जो ज़रूरी समझी जाती हैं—कुछ शक्कर कुछ खीलें—ख़्बानों पर लगाकर बाजे के साथ दुलहन के दरवाजे पर भेंजी जाती हैं। दुलहा के रिश्तेदार और दोस्त साथ



जाते हैं जो उन सब चीजों को दुलहनवालों को खुलेआम दिखाते और उनके सुपुर्द करते हैं और शर्वत पीने के बाद वापिस आते हैं।

उसके थोड़ी देर बाद इसी तरीके से दुलहन की तरफ से बरी आती है जिसमें दुलहा का जोड़ा होता है। यह बरी देहतियों में मेंहदी की जगह होती है। उसके बाद वह जोड़ा पहन कर जिसमें जामा, नीमा, पगड़ी, सेहरा, फूलों की बधियां और जूता वगैरा होता है, खाना होता है। अब बरात दुलहन के दरवाजे पर जाती है और उस जगह ठहरती है जो निकाह की महफिल के लिए नियत किया गया हो। यहां रात भर नाच-गाने की महफिल गम रही है, सिवाय उस वक्त के जब काजी साहब आकर निकाह पढ़ाएँ। निकाह का वही तरीका है जो शहरवालों में बयान किया गया। निकाह के बाद लड़कीवाले बरात को खाना देते हैं। शहर में सिवाय वहीड़े के खाने के बरात को खाना देना लाजिमी नहीं है बल्कि दुलहा खुद खिला-पिला कर ले जाता है। मगर देहात में लड़कीवालों का सबसे अहम फर्ज बरात को खिलाना है जिसमें जरा भी कमी रह जाये तो उनके खयाल में विरादरी में नाक कट जाती है।

यह खाना पूरा 'तोरा' होता है जिसमें पुलाव, जर्दा, क्रोरमा, खमीरी रोटियां, शीरमाल लाजिमी हैं और हर छोटे-बड़े को बिना किसी भेदभाव के पूरा तोरा दिया जाता है। खाना लेते वक्त लड़के वाले बड़ी वेशर्मी से चींवटी-चींवटी के लिए खाना मांगते हैं। घोड़ों और बैलों के लिए चारा जरूरत से ज्यादा मांगते हैं और लड़कीवालों पर फर्ज है कि जबान से नहीं न निकले। किसी चीज के देने से इंकार किया और आबरू खाक में मिल गयी और सब किया-धरा बरवाद हो गया।

इसके बाद हम रुस्तती और वापिसी का करीब-करीब वही तरीका है जो शहरवालों में है। हां, एक रिवाज यह भी है कि देहात में बरात के साथ औरतें नहीं जाती और न दुलहन पर ही बहुत ज्यादा सक्तियां होती हैं। उसका फर्ज है कि चौथी में वापस आने की घड़ी तक समुराल में जिस तरस रख दी जाये रखी रहे। न खाये, न पिये, न पेशाब-पाखाने को जाये, न बोले-चाले, न चेहरे पर से हाथ हटाये और न आंखें खोले। इसलिए कि ये बातें 'बेहयाई' और वेशर्मी में दाखिल हैं और इस अंदेश से कि दुलहन को समुराल में जाकर पाखाने-पेशाब की जरूरत न पेश आये, दो दिन पहले से उसका खाना-पीना



बंद कर दिया जाता है और ज्यादा मुसीबत यह है कि देहात की दुलहन अक्सर दूसरे गांव में ब्याही जाती है और आने-जाने में दो-दो, तीन-तीन मंजिलें तै करनी होती हैं। जाहिर है कि ऐसी हालत में दुलहन बेचारी पर कैसी सख्त मुसीबतें गुजरती होंगी।

देहात में सांचक और मेंहदी के छूट जाने और बरात खिलाने में सख्तियां होने की वजह से शायद यह है कि ज्यादातर बरात सफ़र करके एक बस्ती से दूसरी बस्ती में जाती है जिसकी वजह से यह मुमकिन नहीं होता कि एक दिन एक जुलूस यहां से जाये और दूसरे दिन दूसरा जुलूस वहां से यहां आये और फिर तीसरे रोज़ बरात खाना हो। ठीक इसी तरह बरातियों को गो कि दुलहा अक्सर अपने घर से खिला कर ले जाता है, मगर लड़की वाले के घर पहुंचते-पहुंचते सारे बराती भूखे बंगाली होते हैं। और कंगलों की-सी शान दिखाते लगते हैं।

## [ 46 ]

खुशी की रस्मों का हम जरूरत के अनुसार बयान कर चुके, अब गमी की महफ़िलों का बयान कर देना भी जरूरी है। मगर ये सारे हिंदुस्तान में आम हैं। जहां तक मैंने गौर किया उनमें लखनऊ की कोई विशेषता नज़र नहीं आती। गमी किसी के मरने के कारण होती है, लिहाज़ा मरने के दिन दोस्तों और रिश्तेदारों को खबर कर दी जाती है और जिन लोगों को मजबूरी नहीं होती जरूर आते हैं। औरतें जो आती हैं अपनी बोली या सवारी का किराया आप देती हैं। शादी के उत्सवों में और आम क्रिस्म के आने-जाने में लाज़िम है कि आनेवाली महमानों का किराया दिया जाये, मगर गमी का घर इस नियम का अपवाद है।

उसके बाद मुर्दे को नहलाते हैं। शीश्यों के यहां नियम है कि नहलाने के लिए जनाज़ा पहले गुस्लखाने में ले जाया जाता है जहां नहलानेवाले मुर्दे को गुस्ल देकर कफ़न पहनाते हैं। मगर सुन्नियों के यहां मुर्दा अपने घर ही में नहलाया जाता है और खुद रिश्तेदार या दोस्त नहलाते हैं। अक्सर मर्द और औरतें जो ज्यादा माहिर हों बुलाये जाते हैं और अक्सर जगह यह होता है



कि कोई शरीअतदां मौलवी साहब या और कोई पढ़े-लिखे वाक्किफ़कार बुजुर्ग बताते जाते हैं कि इस क्रम से नहलाना चाहिए और मैयत को जो गुस्ल कराया गया है वह सुन्नत के अनुसार है।

गुस्ल के बाद कफ़न पहनाया जाता है जिसमें एक इज़ार, एक कफ़नी, जो कुर्ते के नाम से मशहूर है, पहनाकर ऊपर से दो चादरें लपेट दी जाती हैं और सिर और पांव के पास और कमर में कपड़े की चिट्टें फाड़ कर बांध दी जाती हैं ताकि खुलने न पायें।

उसके बाद अगर शीअ्यों का जनाज़ा है तो संदूक में रखकर उस पर कोई दुशाला डालकर जनाज़े को शामियाने के साये में ले जाते हैं और साथ-साथ कोई शख्स सही उच्चारण के साथ सूरः-ए-रहमान<sup>1</sup> की वाज़ आयतें पढ़ता जाता है। संदूक उठानेवाले आमतौर से 'शुहदे' होते हैं जिनका बहुत मुद्दत से मुर्दे उठाना पेशा हो गया है। मगर इन लोगों की बेहदगियों और बद-तमीजियों से शीअ्यों में ख्याल पैदा हुआ है कि जनाज़ों को खुद उठाना चाहिए जिसके लिए शहर में अनेक कमेटियां क़ायम हो गयी हैं और उनके जोशीले और मजहबी मेंबर तलाश में रहते हैं कि कोई मर जाये तो उसके जनाज़े को खुद अपने इस्तिथार में लेकर मजहबी नियमों के अनुसार और सावधानी के साथ उठायें।

मुन्नियों में मैयत को किसी हल्की चारपाई पर लिटाकर और ऊपर से चादर डालकर ले जाते हैं। अगर औरत का जनाज़ा हो तो चारपाई पर बांस की खपाचों को धनुषाकार लगाकर और उनके सिरो को दोनों ओर चारपाई में अटकाकर ऊपर से चादर डाल देते हैं। इसको 'गहवारा' बनाना कहते हैं और इसकी ज़रूरत सिर्फ पदों के ख्याल से पैदा हुई है। मुन्नियों में जनाज़े को खुद रिश्तेदार और दोस्त अपने कंधों पर उठाकर आहिस्ता-आहिस्ता कलमा पढ़ते हुए ले जाते हैं और जनाज़े की नमाज़ पढ़ायी जाती है।

यहां आमतौर पर क़ब्र संदूकी खोदी जाती है जिसमें इंसान के सीने तक एक चौड़ा होज़ खोदा जाता है फिर उसके अंदर दोनों तरफ किनारे छोड़कर एक-दूसरा पतला होज़ खोदा जाता है, वह भी इंसान की कमर से कम गहरा नहीं रहता। जब क़ब्र खूब साफ़ कर ली जाती है तो मुर्दे को उसमें बड़ी सावधानी से उतारते हैं ताकि हाथ से गिरने और चोट खाने न पाये। क़ब्र

<sup>1</sup> कुरान का एक अध्याय जिसमें खुदा से रहम की दुआ मांगी जाती है।



में आमतौर से सिरहाना उत्तर की ओर रखा जाता है और मुर्दे का मुंह ढेलों वगैरा की आड़ें लगाकर क़िब्ले (पूर्व) की तरफ कर दिया जाता है। उसके बाद बंद खोल देते हैं और रिश्तेदारों को मुंह खोलकर मैयत की आखिरी सूरत भी दिखा दिया करते हैं। इस मौक़े पर शीश्यों के वहां तिलक़ीन<sup>1</sup> पढ़ी जाती है जिसकी सूरत यह है कि कोई सदाचारी और संयमी बुजुर्ग क़ब्र में उतरकर मैयत का कंधा हिलाते जाते हैं और एक अरबी इबारत पढ़ते जाते हैं जिसमें मैयत को संबोधन करके बताया जाता है कि वहां नकीरैन<sup>2</sup> आकर सवाल करें तो तुम ये जवाब देना। उसके बाद अंदरूनी हौज़ पर तख्ते जमा दिये जाते हैं और अगर उनमें दराज़ या भिरी हो तो मिट्टी के ढेले रख-रखकर इत्मीनान कर लेते हैं कि मिट्टी अंदर न जायेगी। क़ब्र में काफ़ूर और खुशबू तो कफ़न ही में मौजूद होती है, बाज़ लोग केवड़े की बोटलें भी डाल देते हैं और उसके बाद ऊपर से मिट्टी डालकर क़ब्र का ऊपरवाला हौज़ भर दिया जाता है और क़ब्र की सूरत बना दी जाती है।

मिट्टी देने को लोग बड़ा अहम और ज़रूरी काम समझते हैं और जब क़ब्र में मिट्टी डाली जाने लगती है तो वहां मौजूद लोगों में से हर शख्स तीन बार हाथ में मिट्टी लेकर क़ब्र में डालता है और क़ुरान की तीन आयतें पढ़ता है जिनका तर्जुमा यह है : 'हमने तुमको इससे (मिट्टी से) पैदा किया, हमने तुमको फिर इसी में पहुंचा दिया और हम फिर आइंदा (क़यामत के दिन) तुमको इससे निकाल कर खड़ा करेंगे।'

बहरहाल जब क़ब्र बनकर तैयार हो जाती है तो उस पर वही चादर जो जनाजे पर पड़ी थी या फूलों की चादर डाल दी जाती है और फ़ातिहा पढ़कर और मरनेवाले की मुक्ति की दुआ करके लोग वापिस आते हैं।

मरनेवाले के घर में उसकी मौत के दिन चूल्हा नहीं जलता बल्कि जनाजे के घर से निकलने के बाद रिश्तेदारों के घर से पका-पकाया खाना आ जाता है जिसको लोग दफ़न से वापिस आकर खाते हैं और उसी समय तमाम मेहमान उस खाने से पेट भरते हैं। तीन दिन तक रोज़ाना यही होता है कि घर में खाना नहीं पकता। यह तरीक़ा असल में इस्लाम के शुरू में और खुद हज़रत

<sup>1</sup> सदुपदेश।

<sup>2</sup> वे दो फ़रिश्ते जो मरने वाले से क़ब्र में सवाल-जवाब करते हैं—मुन्कर और नकीर।



मुहम्मद साहब से शुरू हुआ जबकि हज़रत जाफ़रे-तैयार की शहादत का हाल सुनकर और उनके घर वालों को रोता-पीटता देखकर आपने खाना भिजवा दिया था। लोगों ने इस बुनियाद पर जो इमारत यहां बना ली है वह बहुत बेकार और शर्मनाक है। किसी के मरते ही घर में जितना खाना तैयार हो फेंक दिया जाता है, घड़ों-मटकों का पानी वहां दिया जाता है और उसका कारण औरतें बच्चों को यह बताती हैं कि मौत का फ़रिश्ता जिस छुरी से जान लेता है उसे खाने-पीने की चीज़ों में घों डालता है।

मरने के तीसरे दिन और कभी मुनासिव दिन देखकर चौथे रोज़ सोम<sup>1</sup> होता है। दरअसल इसकी शुरुआत इससे हुई कि यह दिन इसलिए मुक़रर था कि लोग आकर अपनी समवेदनाएं प्रकट करें और सांत्वना दें। मगर यह ख्याल करके कि आने वालों की भीड़ का खाली बैठ रहना अच्छा नहीं मालूम होता, यह तरीक़ा अपनाया गया कि जो लोग आये बैठकर क़ुरान मजीद पढ़ें और दो-एक पारे<sup>2</sup> पढ़कर उनका सवाब<sup>3</sup> मरहूम की रूह को बख़्शें। चंद रोज़ में मातमपुर्सी का ख्याल जाता रहा और सिर्फ़ इतना रह गया कि उस दिन कितने लोग आये और कितने क़ुरान मरनेवालों को बख़्श गये। महफ़िल खत्म होते वक़्त पहले बहुत से लोग क़ुरान के चंद रकूअ<sup>4</sup> और आखिर की छोटी सूरतें<sup>5</sup> पढ़कर फ़ातिहा के लिए हाथ उठाते हैं। इसमें एक नया लेकिन बेकार तरीक़ा यह अपनाया गया कि थोड़ा घिसा हुआ संदल, एक प्याले में तेल और थोड़े फूल लाकर उपस्थित लोगों में से हरेक के सामने पेश किये जाते हैं। हर शख्स एक फूल उठाकर तेल में डालता है और वह संदल और फूल ले जाकर मरहूम की कब्र पर डाल दिये जाते हैं।

उसी दिन शाम को बड़ी फ़ातिहा होती है और घर में पहली बार खाना पकता है। अगर्चे अब गरीबी ने हमदर्दी की इस क़दर कमी कर दी कि मैयत के घर खाना भेजनेवाले बहुत कम रह गये हैं और अक्सर गरीब घरवालों को उससे पहले ही खाना पकाने पर मजबूर हो जाना पड़ता है। लेकिन प्रचलित तरीक़ा यही है कि तीजे यानी सोम से पहले बाहर ही के खाने पर बसने दो।

<sup>1</sup>मौत के तीसरे दिन होनेवाला संस्कार। <sup>2</sup>हिस्से, खंड। <sup>3</sup>पुण्य, <sup>4</sup>नमाज़ में घुटनों पर हाथ रखकर झुकना। <sup>5</sup>क़ुरान की आयत का एक पैराग्राफ़, या क़ुरान का कोई अध्याय।



सोम और चेहलुम<sup>1</sup> की फ़ातिहों ने लोगों में अजब शान पैदा कर दी है। असलियत तो सिर्फ़ इतनी है कि जहां तक हो सके गरीबों और मोहताजों को खाना खिलाया जाये और उसका सवाब मरनेवाले को पहुंचा दिया जाये। हिंदुस्तान में हिंदुओं में मर्दों की तेरहवीं और बरसी होते देखकर मुसलमानों का जी चाहा कि हम भी इसी तरह के काम नामवरी और धूमधाम से करें। इसी शौक का नतीजा था कि तीजे, दसवें, बीसवें, चेहलुम और देसे<sup>2</sup> के नाम से ग़मी के संस्कार पैदा हो गये जिनमें होता तो सवाब है मगर दिखाने, नाम पैदा करने और विरादरी को खाना देने की शान से। फिर इस पर क्रयामत यह हुई कि ग्राम जनता में यह विश्वास पैदा हो गया कि इन हमारे प्रचलित फ़ातिहों में जो कुछ दिया जाता है वह खुदा के हुक्म से वैसे का वैसे ही मुर्दे को पहुंचा दिया जाता है। इस विश्वास ने फ़ातिहों में यह शान पैदा कर दी कि मानो मुर्दे की दावत की जाती है। उन खानों का ज़्यादा खयाल रखा जाता है जो मरनेवाले को पसंद थे। हालांकि ख़ैरात का नियम यह चाहता है कि जिस गरीब को खिलाया जाये उसकी पसंद का लिहाज रखा जाये ताकि उसके खुश करने से सवाब ज़्यादा मिले।

यही नहीं फ़ातिहों में तो अब यह होता है कि चार-चार पांच जोड़ खाने के निकालकर एक पाक और साफ़ मक़ाम पर क्रम से रख दिये जाते हैं। मिट्टी के सकोरे में पानी भी लाकर रख दिया जाता है इसलिए कि खाने में मुर्दे को पानी पीने की भी ज़रूरत होगी। फिर उसके लिए कपड़ों के नये-नये और यथासंभव बढ़िया और कीमती कपड़े, ओढ़ना, बिछौना, जानमाज़, नयी कलई किये हुए तांबे के वर्तन, लोटा, कटोरा, पतीली वगैरा भी खाने के बराबर रख दिये जाते हैं और जब यह सब सामान तैयार हो जाता है तो कोई मुल्ला आकर फ़ातिहा करता है यानी क़ुरान की चंद ख़ास आयतें और छोटी सूरतें पढ़कर दुआ करता है कि खुदावंद इन चीज़ों का सवाब फ़लां शख्स को पहुंचे। इस तरीक़े से लोगों को इत्मीनान हो जाता है कि ये चीज़ें मुर्दे को पहुंच गयीं और वे सब खाने और चीज़ें किसी मोहताज या दीनदार मुसलमान के घर पहुंचा दी जाती हैं।

इन चीज़ों से खुद मरहूम के लाभान्वित होने के खयाल ने दिलों में यहां तक घर कर लिया है कि बाज़ निचले वर्ग की जाहिल औरतें फ़ातिहा की

<sup>1</sup> मौत के चालीस दिन बाद आनेवाला मृतक-संस्कार। <sup>2</sup>बरसी।



चीजों के पास बन-संवरकर खुद भी बैठ जाती हैं कि मरहूम शौहर उन खानों और कपड़ों से लुत्फ उठायेगा तो खुद उनकी खूबसूरती के आनंद से क्यों वंचित रह जाये ।

फ़ातिहों में खाना फ़ातिहा की जरूरत से बहुत ज्यादा पकवाया जाता है जो अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार दोस्तों और रिश्तेदारों में जिनसे रिश्तेदारी है बांटा जाता है और तमाम घर के बूजों—धोबी, नाई, भंगी वगैरा—को दिया जाता है जिन्होंने फ़ातिहा के शानदार संस्कारों के बन जाने के कारण अपने हक पैदा कर लिये हैं ।

गो कि हमने ये सब करवाइयां सोम के फ़ातिहा के सिलसिले में बयान कर दी हैं लेकिन उनकी तामील ज्यादा अच्छी तरह चेहलुम में होती है जो कहने को तो मरने के चालीसवें दिन मगर व्यावहारिक रूप में चालीस से दो चार रोज़ कम के अर्से में हुआ करता है और हालांकि फ़ातिहे दसवें-बीसवें के भी खास होते हैं और हर जुमेरात का दिन खानदान के बुजुर्गों के फ़ातिहा के लिए मुकर्रर हो गया है, मगर आमतौर पर सोम और चेहलुम के फ़ातिहे असाधारण रूप से होते हैं ।

गमी की रस्मों की विशेषताएं हमने बयान कर दीं । अब रहा महफ़िलों में उठने-बैठने का तरीका तो वह वही है जो दूसरी रस्मों में बता दिया गया है । ये खुशी और गमी की वे रस्में थीं जो नैतिक और सामाजिक स्तर पर प्रचलित हैं । मजहब ने जिन महफ़िलों को रिवाज दिया है उनका हम आगे वर्णन करेंगे ।

## [ 47 ]

शिष्टाचार में दसवीं चीज़ मजहबी महफ़िलें यानी मातमदारी की मजलिसें और मौलूद शरीफ़ की महफ़िलें हैं । मजलिसों का आम रिवाज शीघ्रों में है और मौलूद शरीफ़ का सुन्नियों में, हालांकि दोनों में दोनों संप्रदायों के लोग शरीक होते हैं । कभी तो यह भी होता है कि बाज़ सुन्नी मातम की मजलिस करते हैं और शीआ लोगों के यहां मौलूद शरीफ़ की महफ़िल होती है । मगर लखनऊ की खास चीज़ जिसने लखनऊ की सोसाइटी पर असर डाला वे



मजलिसें हैं। मौलूद की महफिलों में कोई खास बात नहीं, जैसी सारे हिंदुस्तान में हुआ करती हैं वैसी ही यहां भी होती हैं, गो इसमें शक नहीं कि बाज्र अमीरों के यहां मौलूद में भी करीब-करीब वही तहजीब और शराफत नजर आती है जो शीअों की शिष्टता के कारण मजलिसों में हुआ करती है।

मातम की मजलिसें बहुत अधिक होती हैं और अगर कोई शख्स चाहे और पता लगाता रहे तो सालभर बगैर मेहनत-मजदूरी के सिर्फ मजलिसों में शरीक होकर अपना पेट पाल सकता है और सिर्फ दानी और मजहबी शीअों की उदारता और दानशीलता पर जी सकता है। मजलिसों की ही बरकत से यहां विभिन्न प्रकार के जाकिर<sup>1</sup> पैदा हो गये जो अलग-अलग शैली में सैयद उश्शुहदा अलैहिस्सलाम<sup>2</sup> की मुसीबतों को वयान करके रोते-रुलाते हैं। इनमें सबसे पहले उलमा और मुज्ताहिदों का वयान है, उनके बाद हदीसख्वां<sup>3</sup> हैं जो हदीसों को सुनाकर ऐसे पुरदर्द और मर्मस्पर्शी स्वर में इमाम की विशेषताएं और आले-रसूल<sup>4</sup> की विपत्तियों का वर्णन करते हैं कि सुनने वाले एकदम रोने लगते हैं और कैसा ही संगदिल हो अपने आंसू नहीं रोक सकता। इन्हीं से मिलते-जुलते वाकिआख्वां<sup>5</sup> हैं जो हजरत इमाम हसन और इमाम हुसैन के जीवन की घटनाओं का वर्णन ऐसे शब्दों और ऐसी आलंकारिक शैली में सुनाते हैं कि जी चाहता है सुनते रहिये और रोते जाइये। वाकिआख्वांनी ने दर-असल दास्तानगोई को बेमजा कर दिया है। उनके बाद मसियाख्वां या तहत-उल-लफ्जख्वां<sup>6</sup> हैं जो मसियों को शाइराना अंदाज से सुनाते हैं। मगर इस सादगी से सुनाने में भी आंख-भौं, और हाथ-पांव के हाव-भाव से घटनाओं की ऐसी सच्ची और पूरी तसवीर खींच देते हैं कि सुनने वालों को अगर रोने से फुसंत मिली तो दाद देने पर मजबूर हो जाते हैं। इसी मसियाख्वांनी की जरूरत और कद्र ने मीर 'अनीस' और मिर्जा 'दबीर' पैदा किये। जिनका शाइरों की हैसियत से बहुत ऊंचा नाम है। या तो यह मसल मशहूर थी कि 'बिगड़ा शाइर मसियागौ' या लखनऊ की कमाल मसियागोयी ने सारे हिंदुस्तान से मनवा लिया कि शेरों-सुखन की दुनियां में मसियागोई का रुतबा दूसरे काब्यांगों

<sup>1</sup>हजरत इमाम हुसैन की शहादत का वर्णन करने वाला। <sup>2</sup>हजरत इमाम हसन और इमाम हुसैन। <sup>3</sup>हदीस पढ़ने वाला; <sup>4</sup>मुहम्मद साहब की संतान (इमाम हसन और इमाम हुसैन)। <sup>5</sup>घटना का वर्णन करने वाला। <sup>6</sup>गद्य की भांति कविता पाठ करने वाला।



से कहीं बढ़कर है। क़द्रदानी ने बीसियों मर्सियागो<sup>1</sup> और सैकड़ों मर्सियाख्वा<sup>2</sup> पैदा कर दिये जो मुहर्रम और मातम के दूसरे दिनों में लखनऊ से निकलकर हिंदुस्तान के दूर-दूराज क़स्बों में फैल जाते हैं और वहां की महफ़िलों में अपने कमालों का सिक्का बिठाकर वापिस आते हैं। मर्सियाख्वानों के बाद सोज़ख्वां हैं। ये लोग नौहों और मर्सियों को संगीत के साथ गाकर सुनाते हैं, इनमें सामान्य रूप से तीन आदमियों का गिरोह होता है : दो सुर देते हैं जो बाजू कहलाते हैं और तीसरा शख्स जो बीच में बैठता है सोज़ सुनाता है। इन लोगों ने भी संगीत के नियमों का पालन करने और रागों और धुनों के अदा करने में इतनी प्रगति की है कि गवैयों को पीछे डाल दिया और लखनऊ में बहुतसे ऐसे माहिर सोज़ख्वां पैदा हुए कि बड़े-बड़े उस्ताद गवैये उनके आगे कान पकड़ने लगे। बहरहाल जो कमाल मर्सियागोयों ने शाइरी में हासिल किया वही सोज़ख्वानों ने संगीत में हासिल किया।

ये सभी कलाएं मातमी मजलिसों के कारण पैदा हुईं और खास लखनऊ में पैदा हुईं और इन सबने उर्दू साहित्य की प्रगति में तो योगदान दिया ही, उर्दू गद्य-पद्य साहित्य में यह खास शान पैदा कर दी कि मानव भावनाओं को जिस प्रकार चाहें प्रकट करें। और जिस प्रकार की भावना अथवा उत्साह चाहें पैदा कर दें। इस कला का नियमित विकास यूनानियों ने किया था जिन्होंने अपने भाषणों को प्रभावशाली बनाने के लिए पता लगाया था कि किन शब्दों, किन हाव-भावों, किस स्वर और किन आवाज़ों से इंसान के दिल में सुख या दुख या करुणा या प्रकोप के भाव जगाये जा सकते हैं। उसके बाद कभी इस कला की और किसी जाति ने ध्यान नहीं दिया, यहां तक कि अब योरूप के आरेटरों और स्पीकरों ने इस कला को दुबारा जीवित करना शुरू किया। मगर लखनऊ में सिर्फ़ जाकिरी की बदौलत इस कला का अपने आप इतना विकास हो गया कि योरूपवाले भी शायद इतने अधिक न बढ़ सके होंगे।

मजलिसों में ख़त्म के वक़्त शर्बत पिलाना या मिठाई या खाना बांटना ज़रूरी है। मगर सभ्य और धनिक लोगों ने अब यह बहुत ही फ़िष्ट तरीक़ा अपना लिया है कि जिन साहवान को बुलाना होता है उनके पास निमंत्रणपत्रों के साथ हिस्सा भी भेज दिया जाता है। मजलिस से वापस आते वक़्त हाथ में हिस्सा लेकर चलना बहुत से शिष्ट और खुशहाल लोगों को अशिष्टता और

<sup>1</sup> मर्सिया कहने वाला कवि।    <sup>2</sup> मर्सिया पढ़ने वाला।



भदापन मालूम होता था हालांकि आम जनता और बाजारी लोग इसमें कोई बुराई नहीं समझते मगर खुशहाल और शिष्ट लोगों को यह बुरा लगता था और नौकर साथ न हुआ तो बहुत से लोगों को मजबूर होना पड़ता था कि मजलिस ही में किसी दोस्त या गरीब आदमी को अपना हिस्सा दे दें।

मजलिस में बैठने का तरीका यह है कि लकड़ी का एक मिबर (ऊंचा स्थान), जिसमें सात-आठ सीढ़ियां होती हैं, दालान या कमरे की एक तरफ रखा होता है और लोग चारों ओर दीवार के साथ फर्श पर बैठते हैं और अगर लोग ज्यादा हुए तो बीच की जगह भी भर जाती है। जब काफी आदमी जमा हो जाते हैं तो जाकिर साहब मिबर पर आकर बैठते हैं और पहले हाथ उठाकर कहते हैं—‘फ़ातिहा’। साथ ही तमाम लोग हाथ उठाकर चुपके-चुपके सूर-ए-फ़ातिहा पढ़ लेते हैं। उसके बाद वह अगर हदीसखां हुए या वाकिआ-खां तो किताब खोलकर बयान करना शुरू कर देते हैं और अगर मसियाखां हुए तो मसिये के पन्ने हाथ में लेकर मसिया सुनाने लगते हैं। मुज्जहिदों और हदीसखानों के बयान को लोग खामोशी और अदब से सुनते और रोने के मौकों पर बिलख-बिलख कर रोते हैं। मगर मसियों के सुनते वक्त श्रोताओं से सिर्फ उन पदों के अलावा, जिन्हें सुनकर रोना आता है, बराबर प्रशंसा की आवाजें आती रहती हैं।

सोज़खां मिबर पर नहीं बैठते बल्कि लोगों के बीच में एक तरफ बैठकर नौहे और मसिए सुनते हैं और अक्सर दाद भी पाते हैं।

अधिकतर मजलिसों में विभिन्न जाकिर एक के बाद दूसरे पढ़ते हैं और आमतौर से हदीसखानी के बाद मसियाखानी और उसके बाद सोज़खानी होती है। सोज़खानी चूंकि असल में गाना है इसलिए उसका रिवाज अगर्चे लखनऊ ही में नहीं, सारे हिंदुस्तान में बहुत ज्यादा हो गया है, मगर मुज्जहिद लोगों और मजहब के पाबंद बुजुर्गों की मजलिसों में सोज़खानी नहीं होती। मुज्जहिदों की मजलिसों में मजहबी बातों की पाबंदी का बहुत खयाल रहता है। खासतौर से यहां ग़फ़रानमआब के इमामबाड़े में मुहर्रम की नवीं तारीख को जो मजलिस होती है उसकी खास शान है। उसकी शिरकत के शौक में लोग दूर-दूर से आते हैं। उसमें किये गये वर्णन के समय ऊंट श्रोताओं के सामने लाये जाते हैं जिन पर कजावे या महमिलें होती हैं और उन पर काला कपड़ा पड़ा होता है और मोमिनों को यह दृश्य नज़र आ जाता है कि



कब्रला के मैदान में अहले-बैत<sup>1</sup> का लोटा और नष्ट काफ़िला किस मजलूमी और तबाही का शिकार होकर शाम (सीरिया) की तरफ चला जाता था। दर्शकों पर इस करुण दृश्य का ऐसा असर पड़ता है कि हजारों लोगों में से दस-बीस को ग़श ज़रूर आ जाता है जो बड़ी मुश्किल से उठाकर अपने घरों को पहुंचाये जाते हैं।

मुज्जहिदों के खानदान से मजलिसों में यह जो ड्रामेटिक शान पैदा हुई उसका नतीजा यह निकला कि अक्सर मजहबी अमीर उसमें नवीनताएं पैदा करने लगे और बाज़ बुजुर्गों ने तो यहां तक तरक्की की कि मजलिसों को बिल्कुल ड्रामा बना दिया। चुनांचे मौलवी मेंहदी हुसैन साहब के यहां मजलिसों में वक्तन-बवक्तन थ्येटर के ऐसे पदें खुलते जिनके जरिये से कब्रला की घटनाओं के करुण दृश्य प्रस्तुत किये जाते और दर्शकों को रोना आ जाता। इससे भी ज्यादा तरक्की उनकी जनानी मजलिसों में होती जिनमें शहर की हजारों औरतें इकट्ठी हो जातीं और बजाये इसके कि जाकिर हदीसख्वानी करें स्टेज पर कब्रला के तीन जिंदा ऐक्टों और ऐक्ट्रेसों के जरिये से दिखाये जाते।

जहां तक मुझे मालूम है आलिमों और मुज्जहिदों ने बिदआतों<sup>2</sup> को पसंद नहीं किया। मगर आम जनता की दिलचस्पी इनमें रोज-बरोज बढ़ती ही जाती है। इसके अलावा मुहर्रम की दसवीं तारीख से गफ़रानमआव ही के इमाम-बाड़े में एक और मजलिस होती है, उसे 'शामे गरीबां'<sup>3</sup> नाम से याद किया जाता है। होता यह है कि अशरे (दसवें) के दिन ताज़िये वगैरा दफ़नाने के बाद शीआ हज़रत उस इमामबाड़े में जमा होते हैं, दिन भर धूप की सख्ती, मातम और मसियख्वानी के कारण हर शख्स की अजीब हालत होती है—बाल बिखरे हुए, चेहरे और कपड़ों वगैरा पर गर्द-गुबार। शरज इस स्थिति में सब वहां एकत्र होते हैं। फिर उसी तरह मिवर पर एक मुज्जहिद साहब आकर कब्रला की घटनाओं पर विस्तृत प्रकाश डालते हैं। घटनाओं के वर्णन में सबसे ज्यादा जोर दृश्यचित्रण पर दिया जाता है जो इतना प्रभावशाली, दुखद और करुण होता है कि हठात रोना आ जाता है। श्रोताओं में से कोई भी ऐसा नहीं होता

<sup>1</sup>हज़रत इमाम हसन और हुसैन।

<sup>2</sup>इस्लाम धर्म में वह बात जिसे मुहम्मद साहब की स्वीकृति प्राप्त न रही हो या जो उस समय न होती हो।

<sup>3</sup>परदेसियों की शाम।



जिसके होंठ हिल न रहे हों और आंखें आंसू न बहा रही हों ।

इस मजलिस की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि इसमें न तो फ़र्श बिछाया जाता है और न ही रौशनी की जाती है । इन चीज़ों से मजलिस का वातावरण बड़ा गंभीर और क़रुण हो जाता है । इस द्रष्टि से यह मजलिस सही अर्थ में 'शामे-गरीबां' ही होती है ।

असल बात यह है कि शीअों की मजलिसों ने लखनऊ के समाज पर बहुत स्पष्ट प्रभाव डाला है और उनके ज़रिये से शिष्टाचार और तहज़ीब की बहुत ज़्यादा तरक्की हो गयी है और मर्सियों के शौक़ ने शाइरी और संगीत को ज़िंदा ही नहीं कर दिया बल्कि इन दोनों के प्रति सच्ची और सुथरी रुचि पुरुषों से निकलकर पर्दानशीन महिलाओं तक में पैदा कर दी और मैं समझता हूँ कि यह चीज़ योरुप के अलावा, जहाँ नाच-गाना लड़कियों की शिक्षा का एक अंग है, एशिया के किसी शहर में न पैदा हो सकी होगी ।

मजलिसों के अलावा एक और तरह की महफ़िलें भी शीअों में होती हैं जो 'सोहबत' के नाम से याद की जाती हैं । उनका ज़माना ईद के दिन से शुरू होकर चंद रोज़ तक बाक़ी रहता है । मातम की मजलिसें जिस तरह-अहले-बैत की मुसीबतों पर रोने और आंसू बहाने के लिए हैं उसी तरह से सोहबतें इस गरज़ से की जाती हैं कि नाटकीय ढंग से अहले-बैत के दुश्मनों की तौहीन की जाये और उन्हें अनगिनत गालियां दी जायें और चूँकि शीअों के खयाल में अहले-बैत के सबसे बड़े दुश्मन उम्मुलमोमिनीन आइशा सिद्दीका और हज़रत उमर फ़ारूक़ थे इसलिए इन्हीं दोनों सन्मानित नामों का अपमान और अनादर करना, उनके पुतले बनाकर नफ़रत के साथ जलाना इन सोहबतों का असली मक़सद हो गया है इनमें किसी सुन्नी के जाने की कोई वजह नहीं है इसलिए कि वे अपने पेशवाओं की तौहीन ग़वारा नहीं कर सकते । मगर सुना जाता है कि ये बहुत ही बदतहज़ीबी और अश्लीलता की शर्मनाक महफ़िलें होती हैं जिनमें इस हद तक गिरावट आ जाती है कि कोई सम्म्य शीआ भी बिना हार्दिक पीड़ा अनुभव किये वापिस नहीं आ सकता । इन सोहबतों ने भी शीअों की रुचि पर बड़ा असर डाला है और उसी असर का नताजा है कि ज़रा-ज़रा-सी बातों पर सुन्नी-शीअों में लड़ाइयां हो जाती हैं ।

शीअों की इन मजलिसों और सोहबतों के वाद सुन्नियों की मौलूद शरीफ़ की मजलिसें हैं । उनका आयोजन उसी प्रकार होता है जैसा कि मजलिसों



का है मगर फ़र्क यह है कि सुन्नियों के यहां मिवर नहीं होता, बल्कि एक प्रमुख स्थान पर कोई चौकी बिछा दी जाती है, उस पर साफ़-सुथरा फ़र्श बिछा दिया जाता है और उस पर बैठकर वाइज़<sup>1</sup> या मौलूदख्वां<sup>2</sup> साहब मौलूद सुनाते हैं। पहला तरीका यह था कि कोई मौलवी साहब हज़रत मुहम्मद साहब के जन्म का वर्णन करते हैं और उनके जन्म के वर्णन के समय सब लोग खड़े हो जाते, मौलूदख्वां साहब जन्म की खुशी में कोई कविता पढ़ते और लोगों पर गुलाबपाश से केवड़ा छिड़का जाता या कोई वाइज़ न मिलता तो कोई पढ़ा-लिखा आदमी मौलवी गुलाम एहमद शहीद का मौलूद शरीफ़ पढ़कर सुना देता। मगर जनता के लिए मौलूदख्वांनी का यह तरीका संतोषजनक न साबित हुआ और सोज़ख्वानों की देखादेखी ऐसे मौलूदख्वां पैदा हो गये जिनके साथ दो सुर मिलाने वाले होते हैं और उनके बीच में बैठकर वे तरनुम के लहजे में जन्म की घटनाएं वर्णित करते हैं और बीच-बीच में बराबर शेर और कसीदे गाये जाते हैं जिनमें दोनों वाज़ उनका साथ देते हैं। मगर सोज़ख्वानों ने संगीत को ज़िदा कर दिया और मौलूदख्वां गाने वालों ने सच यह है कि संगीत का गला धोने में कोई कसर नहीं रखी थी।

लेकिन मौलूदख्वांनी के एतबार से लखनऊ की कोई विशेषता नहीं रही, इसलिए की इसी तर्ज से और इसी शान की मौलूदख्वांनी और हिंदुस्तान के सुन्नियों में जारी है और यही हाल सून्नी-सूफ़ियों की हाल-ओ-काल की सोहबत का है जो हर जगह एक जैसी होती है। मुसलमानों के हिंदुस्तान में आने के समय से ही मजलिसों की बुनियाद पड़ी। मगर इससे सिवाय इसके कि क़व्वालों का एक गिरोह पैदा हो गया जो रुख़्ते और संगीतज्ञता में ढाड़ियों और गवैयों से गिरा हुआ समझा जाता है, संगीतकला को कोई विशेष लाभ न पहुंच सका, हालांकि सोज़ख्वांनी ने एक सदी के अंदर ही संगीत पर पूरा अधिकार कर लिया और उसमें यथावश्यक परिवर्तन-परिवर्धन करने लगी।

<sup>1</sup> धर्मोपदेशक। <sup>2</sup> हज़रत मुहम्मद साहब के जीवनवृत्त का वर्णन सुनाने वाला।



मजलिसों और महफ़िलों का हाल हम बयान कर चुके, अब जरूरत मालूम होती है कि हम गोष्ठी के लिए आवश्यक वस्तुओं का भी सविस्तार वर्णन करें क्योंकि ये वे चीजें हैं जिनसे समाज और उसके आचार-व्यवहार का पता चलता है। सभा-समाज में आमंत्रित मेहमानों के लिए एक नहीं अनेक वस्तुएं हैं जिनका हम अवसर आने पर जिक्र करेंगे। मगर फ़िलहाल सबसे ज्यादा महत्व की चीजें हुक्का, खासदान, लुटिया और उगालदान हैं। ये इतनी जरूरी चीजें हैं कि रईसों के साथ रहनेवाले नौकरों के पास लाजिमीतौर पर मौजूद रहा करती हैं। चंद रोज पहले ऊंचे वर्ग के धनिकों के साथ एक नौकर के हाथ में हुक्का भी रहा करता था। मगर अब यह तरीका छूट गया। हुक्का दरअसल दिल्ली की ईजाद है और वहीं शाही भिंडीखानों में विभिन्न प्रकार के हुक्के तैयार किये गये थे। लखनऊ ने जो कुछ तरक्की की वह सबसे पहले पेचवानों, चिलमों और चीजों के आकार-प्रकार के सुधार से संबंधित है। दिल्ली के हुक्के भद्दे और बदशकल थे। लखनऊ में वे ही बहुत मुनासिब और खुशनुमा बना दिये गये। फिर तांबे, पीतल, फूल और जस्त के हुक्के के अलावा मिट्टी के हुक्के ऐसे खूबसूरत बन गये जो लोगों को अपनी नफ़ासत और नज़ाकत के लिहाज़ से बहुत ही पसंद आये और अक्सर लोगों को मिट्टी के नाजुक, हल्के, खुशनुमा और सोंधे हुक्कों कीमती हुक्कों से ज्यादा अच्छे मालूम हुए।

हुक्के की शकल में सुधार होने के बाद खुद तंबाकू में अजीब-अजीब खूबियां पैदा की गयीं। तंबाकू को गुड़ या शीरे में मिलाकर कूट लेना शायद दिल्ली की ही ईजाद है जिसकी वजह से तंबाकू के सुधार में हिंदुस्तान दुनिया के सारे मुल्कों और संसार की सभी जातियों से श्रेष्ठ है। तंबाकू सारी दुनिया में पिया जाता है। चुरट, सिगरेट और पाइप के लिए तंबाकू में सुधार करने में अग्रचर्चे योरुप ने बहुत अधिक कोशिशें कीं और तरह-तरह की नफ़ासतें पैदा कर दीं, मगर यह तदबीर किसी को न सूझ सकी कि शीरा या गुड़ मिलाकर तंबाकू की कड़वाहट और गला पकड़ने की तासीर मिटाई जाये और घुएं में एक प्रकार का आनंद और ठहराव पैदा किया जाये। उसके बाद लखनऊ



ने यह तरक्की की कि खमीरा मिलाकर और खुशबूएं शामिल करके तंबाकू जैसी बदबूदार और नागवार चीज़ को इतना सुगंधित और बढ़िया बना लिया गया कि चिलम भरके रखते ही सारा कमरा खुशबू से महक उठता है और जो हुक्का न पीते हों उनका भी जी चाहने लगता है कि दो-एक कश खेंच लें। हिंदुस्तान के कुछ स्थानों का तंबाकू बहुत अच्छा होता है और उन शहरों के नाम से तंबाकू मशहूर भी हो गया है। मगर वह प्रसिद्धि किसी इंसानी कोशिश का नतीजा नहीं। कोशिश और तदबीर से जो नफ़ासत तंबाकू में लखनऊ ने पैदा की है और किसी शहर को नसीब नहीं हुई। अक्सर शहरों के लोग खमीरे को पसंद नहीं करते या यह शिकायत करते हैं कि उससे नज़ला हो जाता है। मगर यह सब सिर्फ़ इस कारण से है कि उन्हें इसकी आदत नहीं है। यह वैसा ही है जैसा अंग्रेजों को कोरमा पसंद नहीं है या उसे हज़म नहीं कर सकते। तंबाकू के साथ हुक्के की दूसरी चीज़ों में भी तरक्की हुई, चिलमें भी पहले से ज्यादा नाज़ुक और नफ़ीस और खुशनुमा हो गयीं। चेंबरों<sup>1</sup> में भी तरक्की हुई, उनमें खूबसूरत तिहरी चांदी की जंजीरें लगाई गयीं, तरह-तरह की मुंहनालें ईजाद हुईं, फिर फूलों के नफ़ीस और दिलकश हुक्के ईजाद हुए। गरज यहां की सोसाइटी ने हुक्के को संवारा और सजाया और दुलहन बना दिया।

हुक्के के बाद नहीं बल्कि उससे भी ज्यादा महत्व की चीज़ खासदान है जिसकी बार-बार ज़रूरत पेश आया करती है और बाहर आने-जाने में खिदमतगारों के पास रहता है। खासदान वह चीज़ है जिसमें पानों की गिलौरियां बनाकर रखी जाती हैं। पान हिंदुस्तान की पुरानी चीज़ है। हिंदुओं के जमाने से इसका महत्व रहा है। प्राचीन काल में राजाओं और बादशाहों को जब किसी बड़े अभियान पर जाना पड़ता या कोई जिम्मेदारी का काम लेना होता तो पान का बीड़ा बनाकर सामने रखते और कहते कि कौन इसे उठायेगा? जिसका मतलब यह होता कि 'इस अभियान पर कौन जायेगा? या इस जिम्मेदारी के काम को कौन पूरा करेगा?' शासन-अधिकारियों, सरदारों या दरबार में उपस्थित लोगों में से जो कोई उस बीड़े को उठा लेता वह मानो यह वचन देता कि 'इस काम को मैं हाथ में लेता हूं, या इस अभियान पर मैं जाऊंगा।' यह रस्म तो मिट गयी मगर यह कहावत आज

<sup>1</sup> हुक्के की नली और फ़र्शी की नली के बीच में स्वास्तिक के आकार की चीज़।



तक जवानों पर मौजूद है कि 'अमुक व्यक्ति ने इस काम का बीड़ा उठाया है।' यानी उसे अपने जिम्मे लिया है।

पुराने दरबारों में श्रोताओं को इनाम के साथ पान भी दिये जाते थे जिसका जिक्र इन्ने बतूता ने अपने सफ़रनामे में किया है जिससे साबित होता है कि पान भारत की ऐतिहासिक चीज़ है। लिहाज़ा चाहिए था कि प्राचीन काल से पानों और पान के सामान में आये दिन तरक्की होती रहती, मगर हमें बिल्कुल नज़र नहीं आता कि पान जब तक दिल्ली में था उसकी क्या तरक्की हुई। उसके मसाले के जो तत्व प्राचीन काल से चले आते हैं आखिर तक वही कायम रहे और उनमें भी किसी प्रकार का कोई सुधार नहीं हुआ। इसके मसालों में कत्था, चूना, सुपारी और इलायचियां पुराने ज़माने ही में शामिल हो चुकी थीं। तंबाकू भी लखनऊ में आने से पहले ही इसके तत्वों में शामिल हो चुका था। मगर इसका बिल्कुल पता नहीं लगता कि पुरानी बीसियों सदियों और सैकड़ों पुराने दरबारों और सल्तनतों ने इसे कौन-सी खास तरक्की दी। लखनऊ में पान का रिवाज दिल्ली की बनिस्बत बहुत ज्यादा हो गया, इसके लिए खास तरह के बर्तन ईजाद हुए और इसकी तमाम चीज़ों को अलग-अलग तरक्की दी गयी। पहले तो खुद पानों या उसके पत्तों का सुधार हुआ। हिंदुस्तान के कुछ शहरों जैसे महुए जगौरा के पान स्वाभाविक रूप से बहुत अच्छे और उम्दा होते हैं। लखनऊ के आसपास अगर्चे पानों की बहुतायत है मगर उनमें अपनी कोई खास खूबी नहीं होती। मगर यहां के प्रगतिशील धनिकों के प्रयत्नों से तंबोलियों ने औद्योगिक सिद्धांतों पर पानों के व्यापार का विकास किया और उसे इस दर्जे पर पहुंचा दिया कि यहां के पान सब जगह से बढ़ गये। वे पानों को महीनों ज़मीन में दबाकर रखते हैं यहां तक कि उनका कच्चापन दूर हो जाता है, हरायंघ बिल्कुल बाक़ी नहीं रहती है, रंगें नर्म और नाज़ुक हो जाती हैं, रंग में सफेदी और पक्कापन आ जाता है। कच्चे पान में जो एक तरह की तेज़ी होती है वह भी जाती रहती है और ऐसा नर्म और नाज़ुक और मज़ेदार हो जाता है कि किसी जगह का पान मजे में इसकी बराबरी नहीं कर सकता। यही बने हुए पान 'बेगमी' कहलाते हैं जो दूर-दूर के शहरों में जाते और बड़े ही शौक और बड़ी क़द्र से लिये जाते हैं।

पान के पत्ते के बाद चूना है। हर जगह और हर शहर में मामूली चूना इस्तेमाल होता है जो अक्सर छना हुआ साफ भी नहीं होता सिवाय इसके चूना



बहुत ही तेज़ और अक्काल चीज़ है। नया-ताज़ा चूना हुआ या ज्यादा हो गया तो मुंह कट जाता है। इन नुक्सानों से बचने के लिए यहां यह तदवीर की जाती है कि इसे खूब छानकर और साफ करके इसमें थोड़ी-सी मलाई, ताज़े दही का तोड़ छानकर मिला देते हैं। इस तरीके से लखनऊ के नफ़ीसमिज़ाज लोगों के पानदानों में ऐसा अच्छा, बढ़िया और नुक्सान न पहुंचाने वाला चूना होता है कि और जगह नहीं मिल सकता।

दूसरी चीज़ पान के मसाले में कत्था है। कत्था अपने आप में बहुत ही बखटी, कड़वी और बदमज़ा चीज़ है, पान में वह सिर्फ चूने को हल्का करने और अच्छा रंग पैदा करने के लिए इस्तेमाल होता है। लेकिन उसका बखटा-पन बहुत नागवार गुज़रता है जो आदत हो जाने से चाहे सह्य हो जाये मगर इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि एक बदमज़ा चीज़ है। कत्थे के बनाने की यह तदवीर तो सब जगह आम है कि छोटे-छोटे टुकड़े करके उसे पानी में पकाते हैं और जब उबलकर वह लाल शर्बत-सा हो जाता है तो कपड़े में छानकर पानी में रखकर जमा लेते हैं। आमतौर पर सब जगह इतना ही होता है, मगर यहां एक थाल या तवे में राख भरकर उस पर एक कपड़ा डालते हैं और उस कपड़े पर उस जमें हुए कत्थे को रोटी की तरह फैला देते हैं और उस पर बारबार पानी छिड़कते जाते हैं। पानी उसकी सुर्खी को लेकर जिसमें बखटापन होता है, राख में समा जाता है। इस तरह साफ़ करते-करते कत्थे का सिर्फ वह मज़ेदार हिस्सा बाकी रह जाता है जो धोये कपड़े का-सा सफ़ेद और बहुत ही उम्दा होता है। फिर उसमें केवड़े की खुशबू देकर या केवड़े के फूल में रखकर सुखा लेते हैं। अब कुछ और जगहों में भी यही तरीक़ीब अपनाई जाती है। मगर यह ईजाद लखनऊ ही की है और जिस तरह इस पर यहां अमल होता है और कहीं हो भी नहीं सकता। अब इस क्रिस्म का कत्था अक्सर व्यापारी लखनऊ में तैयार करके बेचने भी लगे हैं जिनमें से हमारे मेहरबान क़ाज़ी मुहम्मद यूनुस साहब ने जो महमूद नगर, लखनऊ में रहते हैं, बहुत शोहरत हासिल की है। मगर नफ़ासत पसंद अमीरों के घरों में जो सफ़ेद, अच्छा और साफ़ कत्था खुद ही बना लिया जाता है वह ऐसा नफ़ीस होता है कि उसकी नफ़ासत को बाज़ार वालों का तैयार किया हुआ कत्था, चाहे कैसा ही अच्छा हो, नहीं पहुंच सकता। दक्खिन के शहरों पूना वगैरा में एक नयी तरह का बना हुआ खुशक कत्था बाज़ार में



मिलता है जो सूखा ही पान में डाला जाता है। वहां के लोगों को यह कत्था पसंद भी है, मगर हम कोशिश करने के बाद भी उसकी खूबियों को महसूस न कर सके और न समझ सके इसलिए कि देखने में वह किरकिरा भी हुआ करता है और बखटापन उसमें असली बिना बने कत्थे से भी ज्यादा होता है।

पान के मसालों में तीसरी चीज डलियां या सुपारी है जो सरोते से काट कर और छोटे-छोटे टुकड़े करके पान में डाली जाती है। उसका काटना एक मामूली चीज था, मगर लखनऊ में सुपारी का काटना भी एक उद्योग बन गया है इसलिए कि अनेक औरतें बाजरे के दानों के बराबर बारीक काटती हैं जिसमें सब दाने बराबर और एक समान होते हैं और फिर इस शर्त के साथ कि चूरा ज्यादा न निकले और सुपारी का कोई हिस्सा बेकार न जाने पाये।

इलायचियों में किसी सुघार की गुंजाइश अभी तक सहसूस नहीं हुई, इसलिए कि जैसी आती हैं वैसी ही इस्तेमाल होती हैं। मगर तकल्लुफ़ात ने इतना जरूर किया है कि खास उत्सवों और खास मौकों पर उनमें चांदी का वरक लगा दिया जाता है और जब खासदान या थाली में रखी जाती हैं तो मालूम होता है कि चांदी के चमकते हुए टुकड़े रखे हैं।

उसके बाद तंबाकू है। तंबाकू का इस्तेमाल घुएं की सूरत में जिस तरह सारी दुनिया में होता है उसी तरह खाने में भी इसका रिवाज बढ़ता जाता है। इंग्लिस्तान में मैंने बहुत से अंग्रेजों को देखा जो तंबाकू की सूखी पत्ती मलकर फांक लिया करते हैं। हिंदुस्तान में भी मुद्दत से सूखा तंबाकू खाने का रिवाज चला आता है जिसको दिल्ली में उसके सुनहरे रंग की वजह से जर्दा कहते हैं। पहले सिर्फ बिना बनी या साफ की हुई पत्ती को पान में डालकर खाया करते थे, मगर पुराने ही ज़माने में यह भी रिवाज था कि बहुतसे घरों में तंबाकू की पत्ती में उसके डंठलों को उबालकर और उसके अरक में कुछ खुशबूदार मसाले जिनसे उसकी सख्ती कम हो जाये, मिलाकर तंबाकू की कड़वाहट अपनी रुची के अनुसार घटा या बढ़ा दी जाती है और लताफ़त और मजेदारी के साथ उसमें एक खुशबू भी पैदा कर दी जाती है। मगर यह तदबीर खास घरों और खानदानों तक सीमित थी। आम लोग तंबाकू की पत्ती ही बिना बनाए खाते थे जो हर पानदान में हुआ करती थी, लेकिन अब बीस बरस हुए मुंशी सैयद एहमद हुसैन साहब ने अपनी ईजाद से एक खास किस्म का बना हुआ तंबाकू जिसकी सूरत टरेंदार बारूत की-सी होती है, देश



के सामने पेश किया और वह ऐसा लोकप्रिय हुआ कि चंद ही साल के अंदर विन बनी पत्ती के खाने का रिवाज करीब-करीब उठ गया ।

## [ 49 ]

तंबाकू में पत्ती के सुधार से पहले, जिसका श्रेय हमारे आदरणीय मित्र मुंशी सैयद अहमद हुसैन साहब को है, सुधार की एक और कामयाब कोशिश की गयी । वह यह कि तंबाकू की पत्ती और डंठलों को खूब अच्छी तरह उबालकर उसका सत निकाल लिया जाता है और पकाते-पकाते वह इतना गाढ़ा कर दिया जाता है कि लेई या ताजी अफ्रीम की-सी शकल हो जाती है । फिर उसमें मुश्क, केवड़ा और बहुत-सी मुनासिब खुशबूएं मिलाकर इतना मजेदार और सुगंधित बना दिया जाता है कि पान के साथ रत्ती बराबर क़िवाम<sup>1</sup> खा लीजिए तो तंबाकू का मज़ा आने के साथ मुंह में दिन भर खुशबू आती रहती है । फिर नफ़ासतमिज़ाजी ने इस पर और ज्यादा तरक्की की यानी इस क़िवाम की नन्हें-नन्हें गोलियां बनाई जाती हैं और हर गोली एक खुराक की मात्रा में होती है । फिर गोलियों पर चांदी या सोने के वरक लपेटकर उनको ऐसा खुशनुमा और दिलकश बना दिया जाता है कि मालूम होता है मोती रखे हुए हैं । क़िवाम और गोलियां मुफ़्तीगंज की एक बेगम साहिबा लाजवाब बनाती थीं ! खास लखनऊवालों को उनके हाथ की बनीं हुई गोलियों के सिवा किसी कारखाने की गोलियां पसंद नहीं थीं । मगर उन्हीं के ज़माने में असगर अली मुहम्मद अली के कारखाने ने उन दोनों चीज़ों को तैयार करके सारे हिंदुस्तान के सामने पेश कर दिया । चंद रोज़ बाद उन बेगम साहिबा का देहांत हो गया । बाद में और बहुत से लोगों और अनेक कारखानों ने उन चीज़ों को अपनी देखरेख में तैयार किया, मगर अभी तक कोई भी असगर अली के कारखाने से बाज़ी नहीं ले जा सका लेकिन क़िवाम और गोली में एक बुराई थी, वह यह कि चाहे खुशबू देर तक ठहर जाये, मगर तंबाकू का मज़ा और उसकी कड़वाहट पहली ही पीक में जाती रहती । इसी बुराई को मिटाते के लिए मुंशी सैयद अहमद हुसैन साहब ने यह

<sup>1</sup> तंबाकू का रस ।



नयी बनायी हुई और खुशबूदार पत्ती ईजाद की जिसकी कड़वाहट और खुशबू आखिर तक पान का साथ दिये जाती हैं और इसी खूबी का नतीजा है कि यकायक दुनिया का रुख उस तरफ फिर गया और क़िवाम और गोलियां गो अब भी तैयार की जाती हैं मगर अब उनका प्रचलन कम हो गया है और अगर यही रफ़्तार रही तो उम्मीद है कि थोड़े ही समय में वे बिल्कुल ही मिट जायेंगी ।

पान ही से संबंधित लखनऊ में चंद और ईजादें हुईं, मसलन ऐसी इलाय-चियां ईजाद की गयीं कि एक इलायची खा लीजिये, तो मुंह पान से ज्यादा सुख हो जाये । उनकी तैयारी में अगरचें पान ही के मसालों से काम लिया जाता है जो रंग मिलाकर इलायची के छिलकों में भर दिए जाते हैं मगर इसके सिवाय कि रंग चोखा आता है वह पान का बदल नहीं हो सकती और किसी के पान खाने का उद्देश्य उन बनावटी इलायचियों से पूरा नहीं हो सकता । इसी तरह एक और किस्म की इलायचियां तैयार की गयीं जिनमें मिस्सी भर दी जाती है और औरतें वजाये इसके कि देर तक बैठकर मिस्सी मलें, इस तरह की एक इलायची पान में डालकर खा लें तो मिस्सी खुद-बखुद लग जाती है और गहरी नीली खूब अच्छी तरह रेखों में जमकर बैठ जाती है । मगर इन दोनों किस्म की इलायचियों से वह मक़सद हासिल नहीं हो सका जिसके लिए ईजाद की गयी हैं । मिसाल के तौर पर सुख इलायचियां पान का बदल नहीं हो सकतीं और काली इलायचियों में उम्दा सुगंधित मिस्सी की सुगंध नहीं होती इसलिए ये आम लोगों में पसंद नहीं की गईं और आज तक उनसे सिवाय मज़ाक और दिल्लगी के कोई ज़रूरी काम नहीं लिया जा सकता जो सभा-समाज के काम आ सके ।

इसी सिलसिले में हमें चिकनी डली (सुपारी) को भी बयान कर देना चाहिए जो अगर पान का अभिन्न अंग नहीं तो उसके साथ लगी हुई ज़रूर है । बाज़ लोग मामूली डलियों के बदले इसे पान में खाते हैं और पान में न खायें तो बहुत से लोग इसे अकेली मुंह में रखते हैं जो इलायची के साथ मिलकर बहुत मज़ा देती है । खासकर हिंदू दोस्त चूंकि मुसलमानों के हाथ की गिलौरी नहीं खा सकते इसलिए उनका आतिथ्य-सत्कार सिर्फ़ चिकनी डली और इलायची ही से होता है । लिहाज़ा वह भी समाज का एक ज़रूरी सामान बन गयी है ।

चिकनी डली दरअसल वही डली है जो पानों में डाली जाती है, मगर



तैयार की हुई और सुधारी हुई। यह लखनऊ या दिल्ली या हैदराबाद या दूसरे उन्नत शहरों में नहीं बनती बल्कि जहां पैदा होती है वहीं से बनी-बनायी आती है। कहा जाता है कि असली डली को दूध में डालकर उबालते और पका लेते हैं। खैर, जिस तरह बनती हो उसमें एक चिपचिपाहट पैदा हो जाती है। खुश्की खत्म होकर चिकनाई आ जाती है और कभी-कभी ज्यादा डली खा जाने से गले में जो फंदा पड़ जाता है वह खराबी चिकनी डली में बिल्कुल बाकी नहीं रहती और सच यह है कि मामूली डली से कहीं अधिक मजेदार और नफ़ीस हो जाती है।

जहां तक मुझे मालूम है चिकनी डली का रिवाज हैदराबाद, दिल्ली और दूसरे शहरों में लखनऊ के मुक़ाबिले में बहुत ज्यादा है और इन्हीं शहरों के शौकीनों का काम था कि इसमें किसी प्रकार का सुधार करते या इसे अपनी रुचि के अनुसार बनाते। मगर ताज़्जुब है कि किसी शहर में इस तरफ ध्यान नहीं दिया गया और चिकनी डली का असल गूदा बहुत ही मजेदार और नाजुक होता है और जो हिस्सा छिलके से मिला रहता है कुछ बख़टा रह जाता है। खासतौर से पैदी की तरफ का हिस्सा बहुत ज्यादा खराब होता है। इन्हीं खराबियों के मिटाने और खराब हिस्से के निकाल डालने के खयाल से लखनऊ में काट-छांटकर मामूली चिकनी डलियां कई किस्म की तैयार होने लगीं। सबसे पहली तो दोरूखी कहलाती है। उसके बनाने की तरकीब यह है कि नीचे-ऊपर से ज्यादातर हिस्से को और थोड़े-थोड़े किनारों को आसपास से काटकर खुशनुमा और खुशरंग कटोरियां-सी बना दी जाती हैं जिनमें सिर्फ वही नर्म और लतीफ़ गूदा रह जाता है जो चिकनी डली का बेहतरीन हिस्सा है। दूसरे दर्जे की चिकनी डलियां यकरूखी कहलाती हैं। उनमें भी अगर्चे चारों तरफ से थोड़ी-बहुत काट-छांट होती है, मगर नीचे-ऊपर के दोनों खराब हिस्सों में से एक तरफ का ज्यादातर हिस्सा छोड़ दिया जाता है। तीसरी किस्म यह है कि चिकनी डली के गूदे की खुशनुमा अठपहलू ट्रे बना दी जाती है। इस काट-छांट में जो चूरा निकलता है वह अलग से बेच दिया जाता है और दरअसल लखनऊ में वह चिकनी डली की पांचवीं किस्म बन गया है। फिर उसकी भी दो-तीन किस्में हो गयी हैं इसलिए कि दोरूखी और यकरूखी डलियों में से दोनों के मजे और नमी में बहुत अधिक फ़र्क़ होता है और उसी वजह से उनकी कीमतों में भी ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ रहा करता है। गरज



यह कि चिकनी डली अगर्चे इतनी ज्यादा लखनऊवालों के शौक की चीज नहीं है मगर उसका सुधार भी उन्होंने इतना किया कि दूसरी जगह न हो सकता था।

अब चूँकि पान के मसाले खत्म हो गये लिहाजा उसके बर्तनों का भी जिक्र कर दिया जाये। पानों का सामान रखने की सबसे महत्व की चीज या यों कहिए कि पानों की गिलौरियों में जो विद्युत शक्ति का और प्रेयसी कासा आकर्षण होते हैं उसी की बैटरी पानदान है। पुराने जमाने में खासकर दिल्ली में पिटारी हुआ करती थी जो गोल, वर्गाकार या अठपहलू हरेक आकार की होती थी और संभवतः दिल्ली ही से हैदराबाद में पिटारीनुमा पानदान गये जिनकी नकल वे टीन और शीशे के वर्गाकार पानदान होते हैं जो हैदराबाद की शादियों में बड़ी उदारता के साथ चूना, कत्था, डलियां, चिकनी डलियां, इलायचियां, लौंग और पान वगैरा रखकर मेहमानों में बांटे जाते हैं। बहर-हाल पुराने पानदान यही पिटारियां थीं और इन्हीं पिटारियों को साथ लिये हुए दो-डेढ़ सदियों पहले की महिलाएं दिल्ली से लखनऊ आयी थीं। यहां जब तक दिल्ली का अनुकरण होता रहा पिटारियां रहीं, मगर जिस दिन से लखनऊवालों ने अपने रहन-सहन और भाषा में अपनी रुचि के अनुसार काट-छांट शुरू कर दी उस रोज से पानदानों का नक्शा भी बदलना शुरू हो गया। पहले तो पान रखने के लिए सिर्फ तांबे की कलईदार गोल पिटारियां अपनायी गयीं, फिर उनके ढकने में ऊंचाई और गोलाई पैदा होना शुरू हुई। चंद रोज में उनकी शक्ल एक चौड़े चांदी के कलश की-सी हो गयी जिस पर चोटी की जगह पकड़ने के लिए एक लंबोतरा कड़ा लगा दिया जाता है। कड़े के दोनों सिरे कुंडों में पहना दिये जाते हैं, चुनांचे बजाये ऊपर की तरफ कायम रहने के वह इधर-उधर पड़ा रहता है। इस पानदान के अंदर दो कत्थे-चूने की कुल्हियां होती हैं जिनकी बनावट बिल्कुल छोटी पतिलियों की-सी होती है। इन्हीं कुल्हियों के सिलसिले में तीन बराबर की डिबियां होती हैं जिनमें से कुछ में कटी हुई डलियां रखी जाती हैं। ये तीनों डिबियां और दोनों कुल्हियां बराबर एक हलके में जमी रहती हैं और उनके बीच में जो जगह छूटती है उसमें एक और छोटी डिबिया रख दी जाती है जिसमें आम-तौर पर इलायचियां या लौंग रखे जाते हैं। डिबियों के ढकने कसे हुए होते हैं, खुद-बखुद नहीं खुल सकते बल्कि खुलने में थोड़ा-बहुत जोर मांगते हैं। मगर कुल्हियों के ढकने थालीनुमा होते हैं जो उनके मुंह पर रख दिये जाते



हैं। कत्थे-चूने की कुल्हियों में कत्था चूना लगाने की चमचियां होती हैं जिनके सिरों पर कभी तो मोर बना दिया जाता है और कभी सादी रहती हैं। इन कुल्हियों के ऊपर एक बड़ी, पूरे पानदान की, थाली होती है जिसमें पान कपड़े में लपेटकर रख दिये जाते हैं। पुराने ज़माने में एक और पान की शक्ल का अलग ढक्कनदार बर्तन होता था जिसमें पान रखे जाते थे। वह नागरदान कहलाता था। मगर तजुर्वे ने उसे गौरजरूरी और बेकार साबित किया इसलिए कि उसमें बंद कर देने से हवा न लगती और पान खराब हो जाते थे। उसी वजह से नागरदान अगर्चे कुछ पुराने पानदानों में अब भी नज़र आ जाता है मगर दरअसल उसका रिवाज बिल्कुल छूट गया और वह दिन दूर नहीं कि देखने में न आयेगा।

चंद रोज़ में पानदान औरतों को संदूक, खज़ाने और कैश बक्स का काम देने लगा और औरतों के लिए सच यह है कि वह हिंदुस्तान में भानुमती का पिटारा था। इसी कारण उसका आकार बढ़ना शुरू हुआ यहां तक कि दस-दस सेर और बीस-बीस सेर के पानदान बनने लगे और फिर सख्त जरूरी था कि मेहमान जाने में हर जगह वह साथ रहे इसलिए कि पानदान का आकार ही उस व्यक्ति की हैसियत का प्रतीक माना जाता था। जितना बड़ा पानदान होता था उतनी ही बड़ी बेगम साहिब की हैसियत समझी जाती थी। नतीजा यह हुआ कि डोली में सारी जगह पानदान ले लिया करता और बेगम साहिबा को बड़ी मुश्किलों से दबने और सिमटने के बाद बैठने को जगह मिलती। वहरहाल पानदान वज़न और आकार में रोज़-बरोज़ बढ़ते जाते थे कि सहसा रुचि बदली और छोटी चीज़ों का चलन हो गया और नयी तरह के छोटे ऊंचे गुंबदनुमा और कलशदार पानदान बनाये गये जो पहले तो आरामदान कहलाते थे मगर अब आमतौर से हुस्नदान के नाम से याद किये जाते हैं। उनमें अंदर तो वही चीज़ें होती हैं जो पानदान में हैं मगर बाहरी आकृति एक कलशदार सुंदर गुंबद की-सी होती है और बजाये इसके उसी कलश या चोटी को पकड़कर उठाया जाता है। हुस्नदान आमतौर पर पसंद किये गये। लखनऊ में भी और दूसरे शहरों में भी उनकी मांग बढ़ी। लखनऊ में पहले-पहल उनको मर्दों ने इस्तिहार किया या उन लोगों ने जो नुमाइश और दिखावे को पसंद नहीं करते हैं। मगर चंद रोज़ में आम हो गया और गो कि पुराने ढंग के पानदान नहीं मिटे मगर अब ज्यादा रिवाज हुस्नदानों का है और



जिन घरों में पानदान बाक्री भी हैं तो इतने बड़े नहीं, बल्कि छोटे। अब मुरादाबाद में भी ऐसे ही लखनऊ की तर्ज़ के हुस्नदान बनने लगे हैं। मगर वे ज्यादा फैले होते हैं और इतने खूबसूरत नहीं होते जैसे कि लखनऊ में बनाये जाते हैं। लखनऊ के हुस्नदानों का मुनासिब आकार ही एक ऐसी चीज़ है जो यहां की विशेषता है। दूसरी जगह के कारीगरों के लिए उस आकार को बनाये रखना लगभग असंभव है।

पानदान के बाद खासदान है। यह वह वर्तन है जिसमें रखकर गिलौरियां महफ़िल या मित्रों की गोष्ठी में लायी जाती हैं। दिल्ली में यह काम एक खुली हुई थाली देती है जिसमें एक तरफ कतरी हुई डलियां रख दी जाती हैं और दूसरी तरफ आधे-आधे पान चूना-कत्था लगाकर और दुहराकर यानी मोड़कर रख दिये जाते हैं। और चूँकि अब भी वहां इसी थाली का रिवाज है इसलिए उम्मीद है कि पहले ज़माने में भी पानों के मेहमानों के सामने लाने का यही तरीका होगा। मगर लखनऊ में कम-से-कम दो पानों की गिलौरियां बनाई जाती हैं जो पहले तो सिंघाड़े के आकार की खूब गढ़ी हुई होती थीं, अब आमतौर से बीड़े होते हैं और उनकी शक्ल ऐसी होती है जैसी कि बोटलों में लगाने के कागज़ की डाट बनायी जाती है। फिर उनके क़ायम रखने के लिए कीलें लगा दी जाती हैं। पहले लौंग लगा दी जाती थीं, बाद में जंजीरों का एक लच्छा बनाया गया। लच्छे की सूरत यह है कि चांदी की एक छोटी डिविया या कैरीनुमा इत्रदान में चारों तरफ बहुत-सी जंजीरें लगा दी जाती हैं जिनमें कीलें लगी होती हैं। यह पूरा लच्छा मय पानों के खासदान में रख दिया जाता है, मगर उसे बेकार की तवालत समझकर यह रिवाज हो गया कि गिलौरियों में लोहे की कीलें लगा दी जाया करें। मगर अब सबसे अच्छा तरीका यह ईजाद हुआ है कि गिलौरी के ऊपर पान ही का एक गिलाफ़ चढ़ा दिया जाता है जो उसे खुलने नहीं देता।

वहरहाल इन गिलौरियों के लिए सिर्फ़ थाली मुनासिब न थी। इसीलिए उस थाली पर एक गुंबद या कलशदार ढकना ईजाद किया गया जिसको थाली पकड़ लिया करती। ढकन ने खासदान की सूरत भी छोटे हुस्नदान की-सी कर दी।



पानों की गिलौरियां रखने के लिए अगर्चे खासदान में बहुत तरक्की की गयी, उसकी खुशनुमाई और दिलफरेबी में कोई कसर नहीं उठा रखी गयी। मगर जब यह नज़र आया कि गर्मियों के मौसम में तांबे के कलई किये हुए खासदान गर्म हो जाते हैं और उनमें रखने से पुरतकल्लुफ गिलौरियों के सूख जाने के अलावा वे ऐसी गर्म हो जाती हैं कि खाने में बजाये मजे के तकलीफ होती है और मुंह भी खुश्क हो जाता है तो उस मौसम में उनके रखने के लिए मिट्टी की कोरी हांडियां अपनाई गयीं जिनमें पान ठंडे रहते हैं। उनकी ताज़गी और आनंदप्रदता में वृद्धि हो जाती है और उसमें बहुत ही सोंघापन पैदा हो जाता है। ये कागज़ी हांडियां लखनऊ में ऐसी हल्की, खुशनुमा और वरक की-सी बारीक बनती हैं कि और किसी जगह नहीं बन सकती। जब उनको पानी में भिगोकर और उनमें गिलौरियां रखकर सामने लायी जाती हैं तो पान तो वाद में खाया जायेगा उनकी सूरत देखते ही आंखों में ताज़गी आ जाती है।

फिर अमीरों के तकल्लुफ ने इस खयाल से कि उन्हें बार-बार भिगोना मुश्किल है और जब तक पानी में तर न हों उनमें मज़ा नहीं आ सकता, उन पर कपड़ा मढ़ा ताकि कपड़ा उनको तर रखे और मामूली सफ़ेद कपड़ा चूँकि जल्दी से मैला हो जाता है और गिलौरियां रखने की वजह से उसमें जगह-जगह सुखं धब्बे पड़ जाते हैं इसलिए बजाये सफ़ेद के उन पर सुखं टूल मढ़ा गया जो न जल्दी मैला होता है और न पान के धब्बे उसे बदनुमा कर सकते हैं। ज्यादा सजावट के लिए उन हांडियों में टूल पर बारीक स्पहली गोटे से फाकें-सी दी जाती हैं। इन्हीं चीज़ों ने पान की हांडियों को बना-सवारकर दुलहन बना दिया।

तांबे के खासदान भी आमतौर से गिलाफ़ में बंधे रहते हैं और इस तरह के गिलाफ़ों का रिवाज पानदानों और हुस्नदानों के संबंध में भी है जो अपनी हैसियत और दर्जे के मुताबिक पुरतकल्लुफ बनाये जाते हैं। उनमें सिर्फ़ हिफ़ा-जत ही नहीं सजावट भी अभीष्ट होती है।

ऐसा ही टूल गोटे के साथ सुराहियों पर भी मढ़ा जाता है जिसकी वजह से सुराहियों में पानी खूब ठंडा रहता है और उनकी सूरत



देखते ही बिना प्यास के पानी पी लेने को जी चाहता है।

पान खाने वालों को अक्सर पीक थूकने की जरूरत हुआ करती है जिसके लिए बार-बार उठना तकलीफ से खाली नहीं और फिर जिन कमरों में पुरतक-ल्लुफ फर्श बिछा हो, थूकने को जगह मुश्किल से और दूर जाकर मिलती है और जगह मिले भी तो पीक के धब्बों से मकान खराब होता है इसलिए पान ही के सिलसिले में एक और बर्तन की जरूरत पेश आयी जो थूकने के लिए हो। यह बर्तन उगालदान कहलाता है। उगालदान कोई नयी चीज नहीं जिसे लखनऊ की ही विशेषता समझा जाये। पहले उगालदान शायद दिल्ली में ईजाद हुए और वे जैसे-के-तैसे ही लखनऊ में चले आये। उनकी शक्ल यह थी कि नीचे गोल पेंदा, उसके ऊपर एक गोल लट्ठू, फिर उसके ऊपर कमल जैसा मुंह। ये उगालदान तांबे, पीतल और जस्त के हर जगह बनने लगे। बीदर में इन पर वहां का बेमिसाल बदरी का काम बना, लखनऊ में तांबे पर नक्काशी का काम बनाया गया, फिर मुरादाबाद में बने और उन पर वहां की नफ़ीस नक्काशी हुई। लखनऊ में फिर मिट्टी के उगालदान इसी शक्ल के बनने लगे।

मगर उनमें खराबी यह थी कि उनके नीचे का हिस्सा हल्का और ऊपर का ज्यादा फैलाव की वजह से वजनी होता था। नतीजा यह हुआ कि अक्सर असावधानी में गिर जाते और फर्श खराब हो जाता। इस बुराई के दूर करने के लिए जयपुर, हैदराबाद और उसके बाद मुरादाबाद में एक दूसरी शक्ल के उगालदान बनने लगे जो शायद दिल्ली की ही ईजाद हों। उनकी आकृति कहारों की-सी हड़क या मदारी की डुगडुगी की-सी होती है और लखनऊ में भी बहुत से लोगों को इस तरह के उगालदान अपनाने पड़े। अगरचें अभी तक यहां पुराना उगालदान छूटा नहीं और उसी तरह के बड़े-बड़े उगालदान अब भी बनते हैं, मगर बहुत से घरों में इसी नयी बनावट के उगालदान भी मौजूद हैं। सच यह है कि उगालदान की ईजाद और तरक्की में लखनऊ का कोई योगदान नहीं है हालांकि उनका रिवाज लखनऊ में हिंदुस्तान के तमाम शहरों से ज्यादा है।

अब एक नयी तरह के बैठे और फैले हुए अंग्रेजी उगालदान भी आते हैं जो चीनी और तामचीनी के होते हैं, मगर वे शायद चुरट पीते समय थूकने के लिए हैं, पान की पीक थूकने के लिए बिल्कुल मुनासिब नहीं हैं।

खासदान के बाद अमीर और खुशहाल लोगों के साथ के सामान में पानी



की लुटिया भी है जो खिदमतगारों के पास रहा करती है। आमतौर पर यह तांबे की औसत दर्जे की सादी या नक्शी लुटिया हुआ करती है। जिन लोगों को खुदा ने सामर्थ्य दी है और उसके साथ यह भी है कि अमीरी और दौलत-मंदी ने उन्हें शरीअत की पाबंदी से आजाद कर दिया है वे चांदी की लुटियां साथ रखते हैं।

लुटिया हिंदुओं के काल की पुरानी चीज है जो एक बिना टोंटी का बर्तन होता था, जिसका मुंह पेट से छोटा होता था। और चूंकि कुएं से पानी भरने की अक्सर जरूरत पेश आया करती है इसलिए हर मुसाफिर के साथ सफर में लुटिया-डोरी जरूर रहा करती है। देहात के हिंदुओं में और वहां के निचले वर्ग के मुसलमानों में आज तक इसी पुरानी लुटिया का रिवाज है। मुसलमानों ने अपने जमाने में इस लुटिया में टोंटी लगादी ताकि पानी के इस्तेमाल में आसानी हो।

मैं नहीं जानता कि दिल्ली के अमीरों में भी यह रिवाज था और जिन लोगों के साथ खिदमतगार रहा करते थे तो उनके पास लुटिया भी जरूर होती जो पानी पीने, कुली करने और दूसरी जरूरतों में काम आया करती थी। मगर लुटिया की जो शकल आज देखने में आती है और उसकी खुशनुमाई में लखनऊ का बड़ा हाथ है जिसका हाल हम तांबे के बर्तनों के सिलसिले में बयान करेंगे।

गर्मियों में रंगीन कपड़े का मड़ा हुआ भालदार पंखा भी नौकरों के पास और बाद के जमाने में छतरी भी जरूरी हो गयी जिनको धूप में नौकर आक्रा के सिर पर लगाये रहता था।

घरों की अंदरूनी जरूरतों में हाथ धोने के लिए सिलफ़ची और आफ़-तावा<sup>1</sup> हिंदुस्तान के दौलतमंद घरानों की पुरानी चीजें हैं जो दिल्ली में खुदा जाने कब से प्रचलित थीं और अपनी पुरानी शान से लखनऊ में आ गयीं। यहां सिलफ़ची तो वही रही और गो उसकी जगह तंसले का ज्यादा रिवाज हो गया है फिर भी वह सिलफ़ची का बदल नहीं हो सकता। सिलफ़ची एक गोल पेट का बर्तन है जिसका मुंह जरा छोटा करके कगरे एक उथले थाल की शकल में बहुत ज्यादा फैली होती हैं और मुंह पर एक पर्दे की जाली रख दी जाती है जिसमें से हाथ धोने में सब पानी गिर जाता है। इस पर्दे को जब

<sup>1</sup> हथेदार लोटा।



चाहें उठाकर उसे खूब अच्छी तरह साफ़ कर सकते हैं। इस जाली के ऊपर थोड़ी घास डाल दी जाती है ताकि पानी के गिरने में छीटे न उड़ें। इसमें बहुत बड़ी खूबी और नफ़ासत यह है कि मैला पानी, जिसकी सूरत बहुत बदनुमा होती है, नज़र के सामने नहीं रहता और जिनके मिज़ाज में नफ़ासत है उनको तकलीफ़ नहीं होती है। मगर आफ़तावे की जगह साधारण लोटे का प्रचलन हो गया। दरअसल आफ़तावा ही पुराने ज़माने का लोटा था जिस पर लखनऊ वालों ने अपनी रुचि के अनुसार परिवर्तन करके मौजूदा लोटे की सुडौल शक़ल पैदा की। पुराना लोटा जो आफ़तावा कहलाता था उसकी शक़ल यह थी कि तांबे का एक शंकु के आकार का बर्तन होता था जिसमें पेट और गले का फ़र्क़ न था, पेंदे के पास जितना घेरा होता ऊपर की तरफ़ क्रमशः घटता चला जाता था और आखिर में वही गला हो जाता था। यहां तक कि किनारे मोड़कर मुंह बना दिया जाता था और एक ओर उसमें एक मुड़ी हुई टोंटी लगा दी जाती थी। इस शक़ल के लोटे हैदराबाद में आज भी मिल जाते हैं जो अपनी प्राचीनता और हमारे सबसे पहले लोटे का सबूत देते हैं। इनकी शक़ल मिस्र और सीरिया के पानी के मिट्टी के बर्तन या अंग्रेज़ों के यहां मुंह घोने की मेज़ पर जो चीनी का जग रहता है उसकी-सी होती है और इसी से खयाल होता है कि मुसलमान इसको अरब और ईरान से अपने साथ लाये होंगे। चंद रोज़ बाद भारतीय संस्कृति के असर ने इसमें पहली तब्दीली यह की कि पेट गोल बनकर गर्दन से अलग और प्रधान हो गया, मगर चूंकि वह असल से करीब था इसलिए उसका लंबोतरापन वाक़ी रहा यानी लंबाई, चौड़ाई ऊंचाई के अनुपात से न थी। उस समय तक पेट की गोलाई भी गेंदनुमा नहीं बल्कि अंडाकार थी। यही शक़ल उस आफ़तावे की है जिसका जिक्र उर्दू की पुरानी मसनवियों और क्रिस्से-कहानियों में है। लखनऊ में यह हुआ कि पेट अंडाकार से गेंदाकार हो गया और जितनी ऊंचाई होती उसी के अनुपात से उसका घेरा और फैलाव भी बढ़ गया। गलों में एक मुनासिब ढलाव हो गया और टोंटी भी नीचे चौड़ी और नोक के पास तंग, मुड़ी हुई और बहुत ही खुशनुमा हो गयी। यह लखनऊ का मौजूदा लोटा है जिससे ज्यादा खुशनुमा और सुडौल लोटे हिंदुस्तान के किसी शहर में नहीं बनते और हर जगह के शौकीन फ़रमाइश कर-कर के लखनऊ से मंगवाया करते हैं। जो खूबी लोटों में यहां पैदा हो गयी है, छोटी



लुटिया से लेकर बड़े-से-बड़े लोटे तक सब में नजर आती है।

इसी प्रकार की तब्दीली तांबे के तमाम वर्तनों में हुई है जिसका हम आगे बयान करेंगे इसलिए कि इस जगह उसके बताने का मौक़ा नहीं है।

बेसनदानी दरअसल तांबे की एक बिना टोंटी की लुटिया होती है जिसमें बेसन भरा रहता है। आमतौर पर खाने के बाद चिकनाई छुड़ाने के लिए इसमें से बेसन लेकर मला जाता है और फिर पानी से धो डाला जाता है। कुछ, लेकिन बहुत ही कम, लोग ऐसे हैं जो बेसन की जगह बेसनदानी में उवटन या खली रखते हैं इसलिए कि बेसन खाने की चीज़ है जिसको हाथ धोने में बरबाद करना उनके खयाल में नाजायज़ या नामुनासिब है। मगर अब इसका रिवाज बहुत कम हो गया है इसलिए कि उवटन शादियों के सिवा और किसी मौक़े पर नहीं बनता और खली से हाथ में उसकी तेज़ बू आने लगती है।

## [ 51 ]

समाज में रहन-सहन के बहुत से ज़रूरी सामान और शिष्टाचार का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। मगर अभी हमें यहां के शरीफ़ों के बादर आने-जाने का चलन और उसकी शान बताने की ज़रूरत महसूस होती है। हिंदुस्तान के तमाम शहरों की तरह यहां भी अंग्रेज़ियत इतनी हावी हो गयी है कि एशिया की अंतिम संस्कृति ने जो रूप धारण किया था वह बिल्कुल मिट गया। मगर हमें इस मौक़े पर वह चीज़ बयान करना है जो मिट चुकी है या मिटने के क़रीब है। लिहाज़ा हम आज से साठ-सत्तर बरस पहले ज़माने में निकल चलते हैं और उस ज़माने की तसवीरें पाठकों के सामने पेश करते हैं जो अब कहीं नजर नहीं आ सकतीं।

आजकल की-सी उम्दा मोटरों और लंबी-चौड़ी फ़िटनों और लैंडो गाड़ियों के न होने से तथा आज के स्वास्थ्य-सिद्धांतों की और ध्यान न होने के कारण उन दिनों आजकल की-सी लंबी-चौड़ी और विशाल सड़कें न थीं, बल्कि तंग रास्ते थे जिनमें हाथी, घोड़े, ऊंट, हवादार, बूचे, पीनसें, म्याने,



सुखपालें, डोलियां, रथ, बहलें आदमियों की भीड़ में से हटो-बचो करती हुई हर वक्त गुजरा करती थीं। कैसा ही भीड़वाला आम बाज़ार और कैसी ही पसंदीदा सैरगाह हो सबकी हालत लगभग एक जैसी थी।

एक ऊंट तो नहीं जो फ़ौजी ज़रूरतों, संदेशवाहकों या बारबरदारी के लिए नियत थे, बाक़ी और तमाम सवारियां शरीफ़ों और रईसों में अपनी-अपनी हालत और हैसियत के मुताबिक़ प्रचलित थीं। ऊंचे वर्ग के शाहज़ादे और नवाब या उन्हीं के दर्जे के और अमीर हवादारों और बूचों पर सवार होकर निकलते। हवादार टमटम की शकल की एक खुली डोली थी जिसके पीछे चमड़े का टप होता था और लोहे की कमानियों के ज़रिये खोला या बंद किया जा सकता था। ठंड के समय जब टप गिरा दिया जाता तो हर तरफ़ की फ़िज़ा खुली रहती थी। आगे-पीछे उसमें पीनस के-से डंडे लगे होते। चार कहार उसको कंधों पर उठाकर ले जाते और जो शख्स सवार होता वह बड़ी ही शान और शौकत से बाज़ार की सैर करता, हर चीज़ को देखता-भालता और जान पहचान वालों से सलाम करता हुआ जाता था। हवादार की बनावट से मालूम होता है कि वह खास अंग्रेज़ों की ईजाद की हुई चीज़ थी। हिंदुस्तान में अगर उन्होंने अपनी रुचि के अनुसार और अपनी नवीनता दिखाने की वृत्ति से उसे बनाया और अपनी नफ़ासत, खुशनुमाई और सफ़ाई की बदौलत हिंदुस्तान के रईसों को बहुत पसंद आया। अब इसका रिवाज बिल्कुल उठ गया, अलबत्ता बाज़ पुराने रईसों के यहां चंद हवादार अब भी पड़े हुए हैं जो रईसों की मामूली आमद-रफ़्त में तो नहीं मगर दौलदमद हिंदुओं की बरातों में वे कभी-कभी नज़र आ जाया करते हैं।

बूचा इससे ज़्यादा प्रतिष्ठित और शानदार सवारी थी। उसकी शकल आजकल की बरघम या अद्धा गाड़ियों की-सी होती थी जिसमें पहियों के बजाये पाये होते और आगे-पीछे पीनस जैसे दो डंडे होते और कम-से-कम आठ और अकसर सोलह कहार उसको उठाकर ले चलते हैं। इसलिए कि वह कहारों के उठाने की तमाम सवारियों से ज़्यादा भारी होता है। इस सवारी पर शायद कभी और अमीर भी सवार हुए हों मगर मैंने सिर्फ़ वाजिद अली शाह को कलकत्ता में इस पर सवार होते देखा और उनके सिवा यह सवारी मैंने कहीं और किसी के पास नहीं देखी। बादशाह अपने बाग़ों, महलों और कोठियों में उसी पर सवार होकर फिरा करते थे और उसके गिर्द जुलूसी खिदमतगारों के



अलावा सरकार के अन्य अधिकारी और दरबार के मुसाहिब लोग पैदल साथ चलते थे। मगर यह निश्चय ही अंग्रेजों की ईजाद था जो उस युग की अंग्रेजी गाड़ियों के अनुकरण में कहारों के उठाने के योग्य बना लिया गया।

सुखपाल उन दिनों औरतों की बहुत ही इज्जतदार सवारी थी जो खालिस हिंदुस्तानी चीज और हिंदुस्तानी रुचि के अनुकूल थी। यह एक सुर्ख गुंवदनुमा डोली थी, एक लंबे-चौड़े खटोले पर एक शानदार लाल बूर्ज-सा बना दिया जाता जिसमें सोने-चांदी के कलश लगे होते। चारों तरफ पर्दे लटके होते। उसमें भी आगे-पीछे दो-दो, एक-एक डंडे होते और बहुतसे कहार उसको उठाकर ले चलते। यह सवारी उच्च वर्ग की बेगमात और शाही महल की महिलाओं के लिए नियत थी।

रथ इसी शकल की पहियोंदार गाड़ी थी जिसमें बैल जोत दिये जाते। रथ देहात के ताल्लुकदारों और प्रतिष्ठित जमींदारों के यहां और देसी रियासतों में अब भी मौजूद हैं मगर रोज-बरोज बेकार होते जाते हैं और उनका रिवाज उठता जाता है। लखनऊ में खास शाही बेगमात की ज़रूरत के लिए उन दिनों हज़ारों रथ थे। शुजाउद्दौला की बीवी बहू बेगम साहिबा नवाब आसफ़उद्दौला के शासनकाल में अब अपना वैधव्य का जीवन एक शासक रानी की शान से फ़ैजाबाद में बिता रही थीं तो अकेली उनकी सरकार में आठ-नी सौ रथ थे और प्राचीन काल में जब दिल्ली के बादशाह अपने राज्य में दूर-दराज के सफ़र किया करते थे तो उनकी बेगमात इन्हीं रथों पर सवार होकर साथ जाती थीं।

बहल बैलों की आम गाड़ी थी जिसमें एक खटोले को दो पहियों पर कायम करते, फिर उस पर चार डंडे खड़े करके एक छतरी लगा देते और उस पर पर्दे के लिए गिलाफ़ डाल दिया जाता, उसमें अक्सर मर्द-औरतें सफ़र करतीं। उन दिनों मध्यम वर्ग के देहातियों और शहरियों दोनों के लिए सफ़र का ज़रिया यही सवारी थी। बहलें देहातों में अब भी बहुत हैं, मगर उनकी ज़रूरत रोज़-बरोज मिटती जाती है। और बहुत जल्दी एक ज़माना ऐसा आने वाला है कि यह सवारी देखने में न आयेगी।

इनके सिवा तमाम सवारियों को लोग खुद ही जानते हैं हमें उनकी शकल-सूरत बताने की ज़रूरत नहीं।

बहरहाल ये सब सवारियां शहर के तमाम रास्तों और गली-कूचों में गुज़-



रती नज़र आतीं। ज्यादातर लोग पीनसों पर सवार होते। पढ़े-लिखे, हकीम, अमीर और खुशहाल लोग जिन्हें खुदा ने ताक़त दी चार कहार नौकर रख लेते जो खिदमत भी करते और सवारी का भी काम देते। जिन लोगों में ज़रा भी बांकपन होता या सैनिकों की-सी शान दिखाना चाहते जो उन दिनों तमाम शहर में आम थी, वे घोड़े पर सवार होकर निकलते जो चांदी के जेवर और कारचोवी काम से ढुलहन बना दिये जाते। उच्च वर्ग के प्रतिष्ठित लोग हाथियों पर बैठकर आमद-रफ़्त करते जो अगर्चे इतने ऊँचे और विशाल होते लेकिन तमाम गली-कूचों में निस्संकोच गुज़र जाते। हाथियों पर सादी कारचोवी भूलें और उन पर खुले हौदे या छायादार बुर्जनुमा अमारियां कसी जातीं।

जनानी सवारियां जो सुखपालों और पीनसों पर होतीं वे बड़े तकल्लुफ़ और शान से निकलतीं। पीनस पर सुर्ख छिटके पड़े होते जिन पर कभी गोटा-लचका भी टांक दिया जाता। कहार लाल बनात के चुग्रे पहने होते। सिरों पर सुर्ख कगरदार पगड़ियां होतीं जिनकी कगरों पर चांदी की मछलियां टंकी रहतीं। मछली हिंदुस्तान में शुभ शकुन मानी जाती है। रुख़सत करते वक़्त या किसी को किसी महत्वपूर्ण काम के लिए जाते वक़्त आज भी औरतों की ज़वान से निकल जाता है 'वही मछली'। शायद इसका संबंध ज्योतिष से है और यह भी ज्योतिषियों का ही लटका मालूम होता है कि चांदी की मछलियां बनवाकर कहारों की पगड़ियों में टांक दी जायें जो आगे रहते हैं ताकि कहीं जाते समय मछलियां हरदम नज़र के सामने रहें।

जनानी पालकी के साथ-साथ एक कहारी छिटके का कोना पकड़े दौड़ती जाती। इन कहारों की वेशभूषा भी खास किस्म की थी। सबसे बड़ी पहचान यह थी कि लहंगे में इतनी चौड़ी गोटा होती कि उसका आधे से ज्यादा हिस्सा सिर्फ़ गोटा का हुआ करता था।

इन सवारियों में से शहर में अब पीनस या पालकी बाक़ी रह गयी है या कभी-कभी कोई रईस घोड़े या हाथी पर दिखाई दे जाता है।

अब देखना यह है कि बाहर निकलने में शरीफ़ लोगों का क्या हुलिया होता था। लिबास को हम बयान कर चुके हैं मगर उनकी तसवीर दिखाने के लिए हमें फिर एक हद तक उनका हुलिया बताने की ज़रूरत है। सवारी की शान के बारे में मैंने जो कुछ बयान किया है उसमें सिवाय बूचे और हवादार के और तमाम चीज़ें वही हैं जो दिल्ली से आयीं, लखनऊ का उनमें कोई



योगदान नहीं। दरअसल यह दिल्ली ही की शान थी जो अपनी आखिरी झलक बड़ी शान-शौकत के साथ लखनऊ में दिखाकर शायब हो गयी। लेकिन लिबास में लखनऊ दिल्ली से अलग हो गया। अब घर में कुर्ता या कमीस उतारकर बैठना बुरी बात समझा जाता है। मगर उन दिनों यहां घर का लिबास सच पूछिये तो गर्मी (लंगोटी) थी। यहां का दरवार शीआ था और हर चीज यहां शीअत के सांचे में ढलती थी। इमामों के धर्म शास्त्र के अनुसार रानों के खुले रहने में कोई हर्ज नहीं जबकि हुनफी संप्रदाय के मजहब में नाभि से लेकर घुटनों तक जितना भी जिस्म है ढका रहना जरूरी है और उसी आधार पर दिल्ली में आमतौर पर तहमत की-सी लुंगी बांधी जाती जिसमें घुटनों के निचे तक का जिस्म ढंका रहता है। यहां की सभ्यता में इसकी जरूरत बाकी नहीं रही और यहां की लुंगी सिर्फ एक पतली-सी गर्मी या जांघिया रह गयी जिसमें नाभि से जांघ तक तो जिस्म ढक जाता है, बाक़ी सब जिस्म खुला रहता है। लोगों में सभ्य और शिष्ट बनकर निकलने का खयाल तो बड़ा हुआ था मगर घर में सिवाय एक गर्मी के जिस्म पर एक घागा भी न रहता। और यह बात इतनी आम हो गयी थी कि इसी नग्नता की हालत में अपने घर पर किसी से मिलने में भी बुराई न समझी जाती। मगर यही लोग जब बाहर निकलते तो शान ही और होती। क़ालिब पर चढ़ी चौगोशिया टोपी, उजला साफ़ और सफेद अंगरखा, जो मालूम होता कि अभी-अभी घोबी के घर से आया है, और इसी वक्त गोठ और आस्तीनें चुनी गयी हैं। गुलबदन या नैनसुख का अर्ज़ का पायजामा, कंधे पर तिकोना रुमाल, हाथ में दस्ती रुमाल और छड़ी, पांव में लखनऊ का बना हुआ हल्का मखमली छोटी नोक का जूता। बाहर शरीफों की यही वेशभूषा थी।

बहुतसे लोगों को बाहर निकलने में इस वेशभूषा का इतना खयाल रहता था कि कभी उनके कपड़े मैले न नज़र आते। मालूम होता कि इसी वक्त घोबी के यहां से आये हैं हालांकि महीनों उनके धुलने की नौबत न आती और होता यह कि दो घड़ी दिन रहे घर से निकले, खरामां-खरामां हर चीज से बचते और अपने साए तक से भड़कते हुए चौक की सैर की। दो घड़ी रात गये वापिस आ गये और आते ही पहला काम यह कि टोपी क़ालिब पर रखकर एक कपड़े से उढ़ा दी। अंगरखे, पायजामे और ओढ़ने के रुमाल को एहतियात से तह करके दस्ती रुमाल में घड़ी की तरह बांधकर खूंटी पर रख दिया और



शर्की बांधकर और कोई पुराना जूता या चप्पल पहनकर बैठ रहे। इसी रखरखाव की बदौलत क्रीमती और पशमीने के कपड़े चार-चार, पांच-पांच पीढ़ियों तक इस एह्तियात से रहते कि न मैले होते न फटते, न कीड़ा खाता, हमेशा नये बने रहते और शादी के समारोहों या शान-शौकत की महफिलों में ऐसा शाहाना लिवास पहनकर जाते कि लोगों को, जो उनकी हालत और हैसियत से परिचित होते, आश्चर्य होता।

गो कि ऊंचे वर्ग के अमीर, खासतौर से शाहजादे विद्वान और हकीम जरूरी चीजों के साथ सवारियों पर निकलते मगर शरीफों के लिए पैदल फिरना आजकल के जमाने की तरह बुरा न समझा जाता था। हर वर्ग और दर्जे के लोग एक जैसी हालत से पैदल बाहर की सैर करते और पैदल चलने वाले बड़े-से-बड़े रईसों और प्रतिष्ठित लोगों के बराबर बैठते और कोई बुराई न मानी जाती।

## [ 52 ]

अब हम संक्षेप में यह भी बता देना चाहते हैं कि लखनऊ के समाज ने अपनी जरूरत और कद्रदानी से किन-किन चीजों को तरक्की दी और कौन-कौन-सी कलाओं का यहां विकास हुआ। इस सिलसिले में बहुत-सी चीजों का जिक्र आयेगा मगर हम पहले मिट्टी के बर्तनों से शुरू करते हैं।

मिट्टी के बर्तन दुनिया की पहली ईजाद हैं। हर देश और हर सरजमीन से खोदकर पुराने जमाने के पत्थर निकाले गये हैं। जिससे साबित होता है कि मिट्टी को भट्ठी में पकाकर ठीकरा बना लेना इंसान को अपनी प्रगति के बहुत ही प्रारंभिक काल में मालूम हो गया था और संभवतः संसार के पाषाण युग में ही खनिज पदार्थों के बरामद होने से पहले ही इंसान को बर्तन बना कर उनको पकाना आ गया था। मिस्र में फिराओं के समय में मिट्टी के बर्तन और बाबुल में खाने और पीने के बर्तनों के साथ बहुत ही पक्की इटें बरामद हुई हैं। फिराओं के दौर में मिस्र के अमीर जिन ताबूतों में लाशों को ममी बनाकर रखा करते थे वे मिट्टी के ही होते थे। यही नहीं



पुरानी दुनिया ठीकरो और गुट्टियों से बहुत दिनों तक काराज का काम लेती रही है ।

हिंदुस्तानवालों को भी प्राचीन काल में यह शिल्प आ गया था और आदिम काल के निकले हुए वर्तनों से मालूम होता है कि यहां भी इस कला ने दूसरे स्थानों से कम प्रगति नहीं की थी । खासकर मूर्तिपूजा ने हिंदुओं में भी मिट्टी की मूर्तियों की बुनियाद डाली जिसमें रोज़-बरोज़ तरक्की होती रही और यहां कुम्हारों की एक जाति पैदा हो गयी जिसका खानदानी और पैत्रिक पेशा यही है कि मिट्टी के वर्तन और खिलौने बनाकर पकाते हैं ।

दिल्ली में इस्लामी दौर ने ग्राम कुम्हारों की बनिसवत ज्यादा प्रगतिशील कसगरों का एक नया गिरोह पैदा कर दिया जो मुसलमान हैं और वर्तनों के साथ खिलौने भी बनाते हैं और अगर्चे इस्लाम धर्म में मूर्तियां बनाना वर्जित है मगर कसगरों का चूँकि जीविका का साधन यही काम है इसलिए वे एक हद तक खिलौने बनाने और बेचने पर मजबूर हैं । मुसलमान कसगर सम्यता और शिष्टता तथा अपने शिल्प में कुम्हारों से ज्यादा प्रगतिशील हैं ।

दिल्ली से मुसलमान अमीर इन कसगरों को भी अपने साथ लखनऊ में लाये और अमीरों की शौक़ीनी की बदौलत उनके उद्योग की यहां और प्रगति होने लगी । चुनांचे कुम्हार और कसगर दोनों ने अपने काम में वही चतुरता और कौशल दिखाना शुरू किया जो एक चित्रकार चित्र बनाने में और कवि कविता रचने में दिखाया करता है ।

सौभाग्यवश लखनऊ की मिट्टी इस शिल्प के लिए बहुत मुनासिब साबित हुई जिसने कारीगरों को अपना कौशल दिखाने का मौका दिया और वर्तन और खिलौने दोनों ऐसे बनने लगे जैसे कि कहीं न बन सकते थे । वर्तनों में तो यह प्रगति हुई कि ऐसे हल्के, बारीक और साफ और साथ ही खूबसूरत वर्तन यहां बनते हैं कहीं और नहीं बन सकते । अमरदेह की मिट्टी भी इस काम के लिए ज्यादा मुनासिब है इसलिए वहां भी इस शिल्प का बड़ा विकास हो रहा है और वहां के कारीगरों के वर्तनों, गुलदस्तों और लखनऊ के वर्तनों की बनावट में फर्क है और अक्सर लोगों का खयाल है कि लखनऊ के कारीगरों का काम नफ़ासतपसंद लोगों की नज़र में बढ़ा हुआ है ।

ग्राम चीज़ों में लखनऊ के घड़े और बघनियां सारे हिंदुस्तान के घड़ों और बघनियों से हल्के और खुशनुमा होते हैं । घड़ों की गोलाई पूरी होती है ।



बघनियां तांबे के लोटों की शकल से बहुत मिलती-जुलती होती हैं। बर्तनों में मिट्टी के बर्तन यहां से अच्छे शायद ही कहीं मिलेंगे। मगर चूंकि मिट्टी के बर्तनों में खाने का रिवाज बिल्कुल उठ गया है इसलिए कुम्हार भी उस ओर से अपेक्षा करने लगे, मगर जिन बर्तनों में यहां के कसगरो ने अपने कमाल का सबूत दिया वे आबखोरे, सुराहियां, भभरियां और हुक्के हैं और उनके बाद खीर की हांडियां हैं।

आबखोरे पानी पीने के बर्तन हैं। अगर्ने शीशे और तामचीनी के हल्के और खुशनुमा और नफ़ीस गिलास और मुरादाबाद वगैरा के गिलास और कटोरे बहुत अधिक प्रचलित हैं, मगर हिंदुस्तान में गर्मियों का एक ऐसा मौसम आता है जबकि सिवाय मिट्टी के आबखोरों के किसी बर्तन में पानी मज़ा नहीं दे सकता। इसलिए कि पानी उनमें ठंडा रहता है और खुद उनकी ठंडक से हाथ और होठों पर खुशकी का ऐसा आनंद आता है जो और किसी चीज़ से हासिल नहीं हो सकता। इसके अलावा मिट्टी के कोरे आबखोरे में एक ऐसी खुशबू होती है जिसमें आत्मा को शीतलता प्राप्त होती है और जिसके शौक ने यहां मिट्टी का इत्र ईजाद करा दिया। गरज इस ज़रूरत ने आबखोरों को बाकी रखा जिनमें तरह-तरह की नफ़ासतें पैदा की गयीं। ऐसे नाजुक, हल्के और पतले आबखोरे बने जो कागज़ी कहलाते हैं और इतने बारीक होते हैं कि शीशे के गिलासों की नज़ाकत को भी यहां मिट्टी के आबखोरों की बारीकी ने मात कर दिया। फिर उन पर बेल-बूटे बनाकर बालू की एक तह चढ़ा दी जाती है कि वे पानी को ज़्यादा ठंडा रखें। इन्हीं की तरह इनके जोड़ की थालियां बनाई गयीं, आखिर आबखोरों की बनावट ऐसी खुशनुमा और दिल-कश हो गयी कि देखकर जी खुश होता है और ज़माने को मान लेना पड़ा कि इंसान के कौशल ने जो कमाल पिघलने वाली धातुओं के इस्तेमाल में दिखाया है वही मिट्टी में भी दिखाया जा सकता है।

आबखोरों के बाद पानी रखने और उसको ठंडा करने के बर्तनों में सुराहियां हैं। सुराही बहुत पुरानी चीज़ है जिसका रिवाज पुराने ज़माने में ईरान और मिस्र में भी था। मगर लखनऊ की सुराहियां मिट्टी की खूबी और कारीगरों की सुथरी रूचि के कारण बढ़िया, कागज़ी और बहुत ही हल्की हो गयीं और फिर उनकी शकल भी ऐसी खूबसूरत हो गयी कि इन दोनों बातों में कहीं की सुराहियां उनका मुक़ाबिला नहीं कर सकतीं। उनके मुंह पर ऐसा



मुनासिव भुकाव पैदा हो गया है कि लखनऊ की सुराहियों का मुंह ही ऐसी चीज़ है जो और किसी जगह नज़र नहीं आ सकती। भूमरियां भी-वैसी ही हल्की और नाज़ुक हैं। उनका पेट तो सुराहियों जैसा होता है मगर उसके ऊपर लंबी गर्दन की बजाये एक मुंहगर लगा होता है। काम और नज़ाकत की दृष्टि से वे भी सुराहियों से कम नहीं होतीं।

हुक्कों को भी ठंडक की बहुत ज़्यादा ज़रूरत होती है ताकि धुआं ठंडा आये। मिट्टी के कागज़ी हुक्के यहां ऐसे नफ़ीस और खुशनुमा बनने लगे कि किसी जगह नहीं मिल सकते। फिर नये अनवांसे हुए कोरे हुक्कों से धुएं में ठंडक और नफ़ासत के साथ-साथ कोरी मिट्टी की ऐसी नफ़ीस खुशबू पैदा हो जाती है कि शाही ज़माने के बहुतसे बड़े-बड़े रईसों को सिवाय उनके किसी हुक्के में मज़ा न आता था। अज़ीम उल्लाह खां ने इनमें और खूबसूरती और नफ़ासत पैदा करके अज़ीम उल्लाह ख़ानी हुक्के अपनी यादगार छोड़ दिए जो आज तक मिट्टी के कुल क्रिस्मों के हुक्कों से अच्छे, हल्के और लोकप्रिय हैं। मैंने एक बार लंदन के राजकवि लार्ड टेनिसन के बारे में सुना कि उनको मिट्टी के सफेद पाइप इतने पसंद थे और उनका कवि-हृदय कोरे पाइपों का ऐसा रसिया था कि सामने एक टोकरी में भरे हुए कोरे और अच्छे पाइप रखे रहते थे। वह एक पाइप को लेकर उसमें तंबाकू भरते, पीते और चंद मिनट में उसे तोड़कर दूसरी टोकरी में डाल देते। फिर दुबारा ज़रूरत होती तो दूसरा पाइप लेते और चंद कश लेकर उसे भी तोड़कर डाल देते। यों ही दिन भर बैठे कोरे पाइप भरा, पिया और तोड़ा करते थे। मेरा खयाल है कि अगर लार्ड टेनिसन को लखनऊ के अज़ीम उल्लाह ख़ानी हुक्के मिल जाते तो वह उन मिट्टी के पाइपों को भूल जाते इसलिए कि उनके धुएं में जो ठंडक, नफ़ासत और खूबी होती है उसका पता मिट्टी के पाइपों में कोसों नहीं है।

पकाने की हांडियां हर जगह बनती हैं मगर लखनऊ की हांडियां तांबे की पतिलियों की जैसी सच्ची नक़ल हैं और कहीं न होंगी। खासकर गुलाबी हांडियां जो हिस्सों में खीर वगैरा बांटने के लिए बनाई जाती हैं। आवखोरों और सुराहियों की तरह ये भी कागज़ी और बहुत ही खूबसूरत बनती हैं। इनमें अब अक्सर नाज़ुक मिज़ाज अमीर गिलौरियां भी रखते हैं इसलिए कि गर्मियों के मौसम में खासदान जल उठते हैं और उनमें गिलौरियां भी बहुत गर्म हो जाती हैं। मगर इन हांडियों में वे ऐसी ठंडी रहती हैं और उनमें ऐसी



सौंथी खुशबू पैदा हो जाती है कि बहुत ही आनंदप्रद हो जाती हैं। मगर वर्तनों से भी ज्यादा कमाल कुम्हारों ने खिलौनों और मिट्टी की मूर्तियों में दिखाया। मूर्ति-कला मूर्तिपूजा के कारण बहुत पुरानी है। मिस्रियों, बाबुलियों और ईरानियों, यूनानियों और रोमियों सबने अपने-अपने युग में इस कला में चमत्कार दिखाये जिनके नमूने आज योरुप के नामवर अजायबघरों में नजर आ सकते हैं। खासकर यूनानवालों ने पत्थर की मूर्तियां तराशने और शरीर के अंगों का अनुपात बनाए रखने में ऐसा कमाल दिखाया कि आज का जमाना भी, इसके बावजूद कि बहुत तरक्की कर चुका है, उनके कौशल पर आश्चर्य करता है और उनकी बनायी हुई मूर्तियां आज के मूर्तिकारों और चित्रकारों के लिए सर्वश्रेष्ठ आदर्श या मानक समझी जाती हैं। मगर मिट्टी के खिलौनों में जो कारीगरी यहां के अनपढ़, जाहिल कुम्हार दिखा रहे हैं वह यूनानियों के कमाल से ज़रा भी कम नहीं है। वे इंसान को देखकर उसकी पूरी मूर्ति उतनी ही बड़ी जितना कि उसका जिस्म हो, तैयार कर देते हैं। फिर छोटी मूर्तियों में हर वर्ग और हर प्रकार के लोगों की ऐसी तसवीरें बनाते हैं जो असल के बिल्कुल मुताबिक हों। उनकी इस कलाकारिता से उनकी काव्यगत क्षमताओं का और मधुर कल्पनाओं का भी बोध होता है। दीवाली में हिंदू बहुत खिलौने खरीदते और बांटते हैं और इसी ज़रूरत से हर साल इस मौसम में यहां के कुम्हारों को अपनी शिल्प में नयी-नयी ईजादों और नाजुक ख्यालियों को जाहिर करने का मौका मिल जाया करता है।

इन कुम्हारों ने जो मूर्तियों के भांति-भांति के ग्रुप और सेट तैयार किये हैं वे वास्तव में दर्शनीय हैं। अंग्रेजी बैंड, रंडियों और भांडों के गिरोह, पुराने नवाबों की महफिलें, अमीरों के दरबार और शिल्पियों के गिरोह विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। एक बार प्रदर्शनी के अवसर पर यहां के एक कुम्हार ने एक हिंदुस्तानी गांव बनाया था जिसमें आबादी के अंदर दूकानों और मकानों के बीच विभिन्न प्रकार के लोगों का चलना-फिरना, बैलगाड़ियों का गुजरना दिखाने के ब्राद पास के मैदान में किसानों का हल जोतना और नालियों के जरिए से खेतों में पानी का पहुंचाना दिखाया था। नालियों में पानी का बहना और उसमें नन्हें-नन्ही लहरों का पड़ना तक दिखाई देता था और यह चीज खासतौर पर दिखाई गयी थी कि जो बैल हलों का काम कर रहे हैं बहुत दुबले हैं और उनकी पसलियां साफ़ नजर आ रही हैं। इसी तरह शाही जमाने



के लखनऊ की एक तसवीर भी मैंने देखी जिसमें उस समय की आबादी और गलियों और पुलों का नक्शा दिखाया गया था। मगर अफ़सोस कि ये सब दस्तकारियां एक जोश के तौर पर दो-चार रोज़ नज़र आकर शायब हो जाती हैं और कोई ऐसी जगह नहीं है जहां इन तमाम शिल्पों के नमूने सुरक्षित रखे जाते हों। लंदन में 'मैडम टसाडस एक्जिबिशन' के नाम से एक मोमी तसवीरों का अजायबघर है जिसमें हर तरह की आदम क़द तसवीरें इस युग के महान लोगों की और वे जिनमें शिल्पी ने अपना चमत्कार दिखाया है, एकत्र कर दी गयी हैं। कुछ ऐसी मूर्तियां हैं कि यह मुमकिन नहीं कि हर जाने वाले को किसी-न-किसी मूर्ति पर धोखा न हो जाये। अगर ऐसा इन मिट्टी की मूर्तियों का एक संग्रहालय यहां भी बना दिया जाये और उसमें कुम्हारों की तमाम कारीगरी एकत्र कर दी जाये तो मेरा खयाल है कि वह इस शिल्प के विकास के लिए तो हितकर होगा ही वैसे भी लाभकर होगा। उसके प्रवेश के लिए एक टिकट रखा जा सकता है और मेरा विचार है कि कोई बाहर का पर्यटक उसे देखे बिना न जायेगा। लेकिन खराबी यह है कि खुद हममें कोई शौक या दिलचस्पी नहीं है और हम हर बात में गवर्नमेंट के मोहताज रहना चाहते हैं। अगर किसी दौलतमंद अमीर को बजाये ऐयाशी के इसका शौक हो जाये तो उससे उसकी कितनी ख्याति और देश की सेवा हो सकती है यह बताना बेकार है।

अजायबघरों में इस किस्म के खिलौने अक्सर इकट्ठे कर दिये गये हैं, मगर वे बहुत ही सीमित हैं, और लखनऊ में इस शिल्प का दर्जा इतना ही नहीं है कि दूसरी दुर्लभ और विस्मयकारी वस्तुओं में ये कुछ खिलौने भी रख दिये जायें। यहां खिलौनों और मिट्टी की मूर्तियों की नियमित प्रदर्शनी होनी चाहिए।















अब्दुल हलीम 'शरर' की पुस्तक पुराना लखनऊ (गुजिश्ता लखनऊ) एक ऐसी सभ्यता का चित्र प्रस्तुत करती है जिसे हिंदुस्तान के एक प्रदेश के रहने वालों ने जन्म दिया। इस दृष्टि से यह पुस्तक एक महान सभ्यता का महान इतिहास ही नहीं है बल्कि हमारी राष्ट्रीय विरासत का एक महत्वपूर्ण अंग है। इस पुस्तक का इस दृष्टि से भी बड़ा महत्व है कि आज तक भारतीय संस्कृति के किसी भाग का इतना भरपूर और विस्तृत चित्र प्रस्तुत नहीं किया गया।

अब्दुल हलीम 'शरर' अपने अनेक लोकप्रिय ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए सदैव याद रखे जायेंगे जिनमें 'फिरदौसे-वरी', 'मंसूर-मोहना', 'मलिक-उल-अजीज वर्जिता', 'फलोरा-फ्लोरिडा' आदि उनके जीवन काल में ही ख्याति प्राप्त कर चुके थे। लेकिन 'गुजिश्ता लखनऊ' एक ऐसी पुस्तक है जो इतिहास के गर्म और दहकते हुए खून की तरह वर्तमान और भविष्य के जीवन और आनंद का संदेश लेकर जाता है और संस्कृतियों को अतीत का नया रूप और भविष्य की नयी दृष्टि प्रदान कर देता है।

'शरर' की यह पुस्तक केवल छपे हुए शब्दों का संग्रह ही नहीं, एक जीता-जागता अनुभव है जो इंसान को नयी दृष्टि प्रदान करता है और उसे बेहतर बनाता है।

र. 16.25

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

